प्राक्कथन

धर्म मनुष्यता की कुंजी है। मनुष्यता आचार विचार विषयक कतिपय आदर्शों और पद्धतियों का समन्वय है। धर्म उनके अपनाने की प्रेरणा है। मनुष्य को पशु की श्रेणी से उन्नत कर जगत का सर्वोत्तम प्राणी बनाने का श्रेय धर्म का ही है। धर्म सदा प्राणिमात्र का और खासकर साधना की दृष्टि से मनुष्य का हितैषी रहा है उसके लिए सन्मार्ग का नियामक रहा है। देश-कालानुरूप धर्म में विभिन्न रूप प्रकट होते रहे हैं किन्तु उसके मूल स्वर में कोई वैभिन्य प्रतीत नहीं होता। चिन्तन धाराओं की विविधता धर्म को नानारूपी आभासित करती है अवश्य, किन्तु यह भेद केवल औपचारिक है, आत्मिक नहीं। आत्मा से तो धर्म धर्म सदा एकरूपात्मक ही रहा है। आध्यात्म प्रधान भारत में भी धर्म के अनेक रूप रहे हैं और जैनधर्म इनमें प्रमुख स्थान रखता है। विचारकों की मान्यता है कि उपनिषद ही समस्त भारतीय धर्मों के उद्गम हैं। यदि इस सिद्धान्त रूप में स्वीकारा जाय तो निस्सन्देह जैनधर्म इसका अपवाद सिद्ध होगा। यदि अन्यान्य धर्म उपनिषदों से प्रभावित अथवा निःसृत हैं, तो किसी अर्थ में जैनधर्म उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही आधार ग्रहण कर पाया है। वैसे जैन चिन्तन उपनिषदकाल से भी प्राक्तन है यह सर्वमान्य तथ्य है।

जैनत्व एक व्यापक आदर्श युक्त, वैज्ञानिक जीवन पद्धति है। मनुष्य की सत्ता को स्वीकार कर उसे जितनी गरिमा इस धर्म में प्राप्त हुई है कदाचित् किसी अन्य में नहीं। जैनधर्म मनुष्य को आचार शुद्धि एवं साधना के बल पर चरम उन्नति का एक समर्थ आश्वासन है। यही वह पद्धति है जो मनुष्य को देवत्व से सम्पन्न करने की क्षमता रखती है। जैनधर्म तो मनुष्य को ही ईश्वर तुल्य स्थान प्रदान कर सकता है—सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न किसी एक ईश्वर विशेष के अस्तित्व का निर्देश इस *धर्म में नहीं। मनुष्य ही अपने कर्म से जगत का सर्वोत्तम एवं सर्वोच्च बन सकता है* इस आस्था का विधायक जैनधर्म इसी कारण मनुष्य में आत्मगौरव आत्मविश्वास और आत्मशक्ति को उदित करने में सफल रहता है। जगत की किसी सर्वोच्च सत्ता के समक्ष मनुष्य में हीनत्व का उदय—जैनधर्म की प्रवृत्ति नहीं है। इसके अन्तर्गत मनुष्य ही सर्वोपरि है। मनुष्य के लिए जैनधर्म है जैनधर्म के लिए मनुष्य नहीं है।

मनुष्यता का संरक्षक यह धर्म व्यष्टिगत और समष्टिगत—दोनों ही प्रकार के कल्याण की अपार सामर्थ्य रखता है। इस के सहारे व्यक्ति साधना के क्रमिक सोपानों

पर आरूढ़ होते हुए निर्वाण-पद की प्राप्ति में भी सक्षम हो जाता है। यह आत्मविकास का चरम स्थल है। इस आत्म-कल्याण के अतिरिक्त यह व्यक्ति को परकल्याण की प्रभावी सीख भी देता है उन सबके लिए जीना सिखाता है। जैनत्वधारी जीता भी है और जीने भी देता है। परायणता से शून्य स्वार्थी जीवन का आदर्श जैनधर्म ने कभी प्रस्तुत नहीं किया। व्यापक जन मंगल का समर्थ विधायक यह धर्म व्यक्ति के आदर्श सामाजिक स्वरूप का गठन करता है और उस अपनाने की प्रेरणा देता है। यही कारण है कि जैनत्व की परिधि में समस्त लोक है और लोक से बाहर कुछ नहीं है। लोक के भीतर रहकर जीने का आदर्श यह धर्म है। जैनाचार्य मनुष्य को इस प्रकार जीने की प्रेरणा देते हैं कि जिससे वह अन्य के लिए भी सुख-सृष्टि कर सके इसमें बाधक तो कदापि न हो। यथा—अहिंसा द्वारा व्यक्ति मनसा वाचा कर्मणा किसी के लिए उत्पीड़क नहीं होता उत्पीड़न का समर्थक भी नहीं होता अपितु उत्पीड़न का प्रबल विरोधी भी होता है। यहाँ परहितचिंतन की सीमा व सूक्ष्मता दृष्टिगत हो जाती है। स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद जैसे सिद्धान्त स्वमत के साथ साथ परमतादर का पुनीत भाव जागृत करते हैं। विरोध-शमन की ऐसी अमोघ साधना सामाजिक शान्ति सौहार्द्र और सौजन्य की स्थापना भला क्या न कर पायगी। और एकत्व इसके परिणामस्वरूप क्यों न प्रबल होगा। अपरिग्रह का एक ही सिद्धान्त ऐसा है, जिसके द्वारा आज के अनेक अभावों एवं विषमताओं को उन्मूलित किया जा सकता है। आर्थिक शोषण आर्थिक अन्याय ऊंच नीच का भेद भाव, सम्पन्न विपन्न का अन्तर जीवनावश्यक वस्तुओं का कृत्रिम अभाव आदि सब बुराइयों का निराकरण अकेला अपरिग्रह कर सकता है। यथार्थ तो यह है कि मनुष्य को आदर्श सामुदायिक जीवन का सलीका सिखाना जैनधर्म का प्रधान मंतव्य है। पारस्परिक व्यवहार की ऐसी अनूठी रूप रेखा जैनत्व द्वारा प्रतिपादित की गयी है कि जिसमें सभी प्रत्येक के लिए और प्रत्येक सभी के लिए सुख सुविधा का शिल्पी होकर जीता है। जीवन का इससे भी कोई मूल्यवान स्वरूप क्या कभी कल्पित किया जा सकता है? यह यदि स्वर्णिम कल्पना है तो इस आभापूर्ण आकार देने का श्रेय जैनधर्म का ही है। जैन दर्शन के सुपरिणाम समग्र विश्व विश्व के प्रत्येक प्राणी के लिए हैं। समाज देश जगत् की कोई समस्या ऐसी नहीं जिसे जैनाचार अपने सुखद प्रभाव से घोल न दे। जैनत्व मन समस्त जगत के लिए सघन सुखद छाया और सुधावृष्टि करता है। इसी में इसकी महत्ता निहित है।

जैनधर्मिता की ऐसी विशिष्ट और विराट महत्ता का प्रतिपादन सक्षमजनों का ही वशवर्ती कार्य है। इस अवसर पर न तो इस दिशा में सशकोच मात्र से दो डग भरे हैं। जैनधर्म का गहन उदधि रत्न मुक्ताओं का अतल आकर है। मैं तो कुछ शंख घोंघों को ही बटोर पाया हूँ। यह तुच्छ उपलब्धि भी जैनत्व विषयक होने के कारण कुछ मूल्यवान स्वीकार की जाय तो यह पाठक वृन्द का औदार्य और जैनत्व के प्रति

उनका आत्मिक अनुराग ही होगा। मैं तो अपनी मुट्ठी को स संकोच ही खोल पा रहा हूँ।

जनधर्म और दर्शन सम्बन्धी कतिपय बिन्दुओं की प्राचीनता विकास-गाथा महत्वपूर्ण विभूतियों के योगदान का चित्रण, सिद्धान्त पक्ष व्यवहार पक्ष साधना रूप साधक रूप आदि को स्पर्श करने का मेरा विनीत प्रयास रहा है, जो इस ग्रन्थ के रूप में साकार हो पाया है। जन और जनेतर पाठकों में इससे यदि रुचि-जागरण भी हो पाया तो मैं अपने प्रयास को यत्किंचित रूप में सफल मानूंगा।

मेरे इस प्रयास में श्रद्धेय गुरुदेव अध्यात्म योगी राजस्थान केसरी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज एवं प्रसिद्ध साहित्य मनीषी गुरुदेव श्री देवेन्द्र मुनिजी ज्येष्ठ भ्राता श्री रमेश मुनिजी शास्त्री का अमित सहयोग रहा है जिनकी कृपादृष्टि से ही मैं प्रस्तुत ग्रन्थ लिख सका हूँ साथ ही प्रोफेसर श्री लक्ष्मण भटनागरजी को भी स्मरण किए बिना नहीं रह सकता जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ में आवश्यक संशोधन व सम्पादन किया स्नेह मूर्ति श्रीचन्द जी सुराणा ने ग्रन्थ के पुनः अवलोकन एवं मुद्रणकला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाया है।

जन जनेतर समस्त पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है यह प्रयास। इसमें जो भी अभाव और दोष है, वे मेरे हैं और जो विशेषतायें हैं वे स्वयं जन धर्म की हैं।

क्या मैं आशा करूं कि सुधी पाठकगण त्रुटियों का निर्देश कर मुझे आभारी करेंगे? प्रतीक्षा रहेगी।

—राजेन्द्र मुनि

□ □

जैन धर्म

विचारो म अनेका त

आचार म अहिसा

मन म अनासक्ति

वचन म विवेक

—यही है जनधम का सार

इतिहास-इतिवृत्त खण्ड

धर्म : क्या-क्यों-किसके लिए ?

धर्म' शब्द धञ धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है— धारण करना । धर्म की धारणा शक्ति के आधार पर ही सृष्टि का सतत संचालन हो रहा है, वह टिकी हुई है। मनुष्य का धर्म है—सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर उन्मुख होना। यह सत्य है कि धर्म की धारणा शक्ति आत्मा में निहित है। अतः मनुष्य के प्रत्येक कर्म का मूल आत्म केन्द्रित होना चाहिये। महाभारत में देही के चार पुरुषार्थ प्रकट किये गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। भागवत में भी उन्हीं चार स्कन्धों (रसों) का उल्लेख मिलता है।[1] वेद काल से प्रवर्तित हमारा ज्ञात संस्कृति काल लगभग ५० शताब्दियों का रहा है जिसमें भारतीय जीवन को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में ही जाना जाता रहा है। इन चार पुरुषार्थों में धर्म को आदि स्थान प्राप्त है—इससे इसकी सर्वोपरि महत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के लिए पतंजलि ने कलेवर (शरीर) की अनिवार्यता का जहाँ उल्लेख किया है[2] वहीं भी कलेवर से उनका अभिप्राय मानव-देह अथवा मनुष्य जीवन से ही है। मनुष्य जीवन धर्म के लिए और धर्म मनुष्य जीवन के लिए है।

मोक्ष जीवन का लक्ष्य है। अर्थ और काम जीवन के दो तट हैं जिनके मध्य होकर धर्म की सरिता प्रवाहित रहती है। मानव-जीवन की सफलता उसके धर्ममय होने में ही है। प्रबुद्ध और चिन्तक साहित्यकार जैनेन्द्र के अनुसार, 'सच्चा धर्म वही है जिसमें अन्तश्चेतना और आन्तरिक आह्लाद बढ़ता हुआ मालूम हो। जिसमें चित्त सिकुड़ता सिमटता हो—वह अधर्म है।'[3] इस प्रकार धर्म आत्मा के सुख शान्ति और विकास में सहायक होता है।

मनुष्य और धर्म : धर्म और मनुष्य

मनुष्य सचेतन है। अतः अन्य प्राणियों के साथ अनेक समानताएँ होते हुए भी अनेक प्रकार की विशिष्टताओं के आधार पर मनुष्य शेष प्राणि जगत से श्रेष्ठ और क्षमतावान माना जाता है। उसे कदाचित् उसी आधार पर अमरफल मनसुवात कहा जाता है। आहार, विहार, भय, मैथुन, निद्रा आदि में मनुष्य

---

१ एकायनासौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतुरसः पंच विधि षडात्मा। —भागवत

२ धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां मूलभूत कलेवरम्। —पतंजलि

३ जैनेन्द्रकुमार, समय समस्या और सिद्धान्त, पृष्ठ १३१

और अन्य प्राणियों में साम्य है। यह तो सजीव होने का निम्नतम अनिवार्य आधार है। इस कसौटी पर खरा उतरने वाला निःसन्देह सजीव है, किन्तु सजीवता मात्र से मानव के समग्र स्वरूप का सगठन नहीं हो जाता। मानव को मानव बनाने वाले उसे अन्य प्राणियों से भिन्न और श्रेष्ठ स्तर पर अवस्थित करने वाले अन्य लक्षणों से सम्पन्न होना उसके लिए अनिवार्य है। वह भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति और शारीरिक भूख की शान्ति मात्र से तृप्त हो जाने वाला प्राणी नहीं है। उसके लिए विज्ञान एक मानसिक जगत् भी है। उसकी इस जगत् से सम्बद्ध मानसिक आवश्यकताएँ भी होती हैं। यही सचेतनता का मूल है। वह इष्ट-अनिष्ट का विवेक रखता है तदनुरूप लक्ष्य निर्धारण की क्षमता रखता है और उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मार्गों का अन्वेषण करते रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी उसमें रहती है। एक घोर अतृप्ति उसमें बलखाती रहती है जो उसे उच्च से उच्चतर आदर्शों की ओर अग्रसर रहने की प्रेरणा देती है। वह अधिकाधिक रूप से मानवोचित जीवन जीने का अभिलाषी होता है। यही वह अन्तर रेखा है जो मनुष्य को शेष प्राणी वर्ग से पृथक करती है। सोचने समझने और निर्णय करने की शक्ति अन्य प्राणियों में नहीं होती। न ही वे विवेक का प्रयोग कर अपने जीवन का कोई आदर्श कल्पित कर पाते हैं और न लक्ष्य ही निर्धारित कर पाते हैं। मनुष्य तो ज्ञान अर्जित कर इस रहस्य से अवगत हो जाता है कि मानव-देह धारण करने का जो अवसर मिला है उसका अधिकतम सदुपयोग किस रूप में किया जा सकता है। उसके समक्ष इतिहास की व्यापक पटी है जिस पर महापुरुषों के जीवन चित्रित हैं। वह इन चरित्रों से प्रेरणा लेता है वैसे ही आचरण का अभ्यास करता है, मौलिक रूप से भी जीवन की श्रेष्ठताओं का अनुभव कर उनका लाभ लेते हुए अनेकानेक उपलब्धियों के योग्य स्वय को बनाता चलता है। यह सब कुछ अन्य प्राणियों द्वारा कहाँ सम्भव है।

मनुष्य के लिए सर्वाधिक प्रिय विषय उसका जीवन ही है। अन्य प्रिय विषयों का आधार भी यही जीवन है। मनुष्य का जीवन चाहे कितना ही दुखमय क्यों न हो वह फिर भी जीना चाहता है और मृत्यु को यथासम्भव रूप से टालने की ओर ही उसकी प्रवृत्ति रहती है। यहाँ नहीं वह अपने जीवन को उन्नति के लिए भी सचेष्ट रहता है। काका कालेलकर ने तो मनुष्य की इसी प्रवृत्ति को धर्म का आधार बताया है। उनका कथन है कि — अपना जीवन कैसे सुधरे अधपूर्ण बने उन्नति की ओर जाय—इसकी चिन्ता में मनुष्य ने अपने लिए धर्म बनाया और धर्म का अनेक प्रकार से विस्तार किया।

इस प्रकार धर्म मानव-जाति का कल्याणकारी साधन है उसके उत्कर्ष का सहायक है, उसके आदर्श स्वरूप का रक्षक और उसकी लक्ष्य प्राप्ति में उपयोगी सिद्ध होने वाला उपकरण है। घोर अनास्था और भौतिकता के युग में भी धर्म सदा अस्तित्व में रहता है। हाँ इतना अवश्य है कि कभी धर्म पुष्ट रूप में रहता है तो परिस्थिति-वश कभी वह क्षीण रूप में रह जाता है—कभी वह परम सशक्त हो

जाता है, तो कभी क्षीण किन्तु धर्म अपने अस्तित्व को कभी खोता नहीं है। घोर अनिच्छा भी मनुष्य को धर्म के समग्रत त्याग के योग्य नहीं बना पाती। धर्म और मनुष्य का अटूट नाता है। प्राचीन काल की एक कथा है कि एक गुरुजी और उनका शिष्य गंगा स्नान के लिए गये थे। शीत ऋतु की पिछली रात्रि का समय था। विशेष रूप से शिष्य शीत से अधिक पीड़ित था। गंगा-तट पर खड़े होकर उसने देखा कि नदी में दूर से कोई काला कम्बल बहता हुआ चला आ रहा है। शिष्य के पास कम्बल का अभाव था और इस अभाव ने उसमें स्फूर्ति भर दी। वह जल की शीतलता का भय माने बिना ही पानी में छलांग लगा गया। कम्बल तक तो वह पहुँच गया किन्तु अब वह कम्बल के साथ-साथ आगे बढ़ने लगा। चाहते हुए भी वह तट की ओर नहीं बढ़ पा रहा था। गुरुजी चिन्तित हो उठे। उन्होंने शिष्य को पुकारकर कहा कि वह कम्बल को छोड़ दे और स्वयं तट पर आ जाय। शिष्य ने उत्तर में कहा कि—गुरुजी ! मैं तो कम्बल को छोड़ने को तैयार हूँ किन्तु कम्बल मुझे नहीं छोड़ रहा है। वास्तव में एक भालू गंगा में बहता चला आ रहा था जिसे शिष्य ने कम्बल समझ लिया था। अब कम्बल उसे छोड़ता न था।

मनुष्य ने भी इसी प्रकार आत्म हितार्थ धर्म को ग्रहण किया है। आज वह उस कंबल का छोड़ देना चाहता है किन्तु कम्बल उसे नहीं छोड़ रहा है। आज का मनुष्य धर्म के प्रति चाहे कितना ही उदासीन क्यों न रहे उसके मन में किसी-न किसी रूप में धर्म का अवश्य ही निवास है। आत्मोत्थान स्वजीवन-सुधार की ओर जब वह उन्मुख होता है तभी उसमें वह प्रच्छन्न धर्म प्रवृत्ति जागरूक हो उठती है। वह धर्म के महत्त्व को स्वीकारते हुए उनके आश्रय में आ जाता है। आज मनुष्य का एकाकी जीवन सम्भव नहीं है। उसे समाज के अंग के रूप में जीवन यापन करना होता है। यह एक समुद्र की नन्हीं सी बूँद है। उस समुद्र के बिना उसका अस्तित्व नगण्य रह जाता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते उसे सबके साथ सब के लिए और सब के अनुरूप जीवन जीना होता है। वह चाहते हुए भी इस प्रकार का जीवन कठिन अनुभव करता है जो सभी के हित में हो। ऐसी परिस्थिति में धर्म ही उसका मार्ग-दर्शक होता है प्रेरक और शक्तिदाता होता है।

धर्म शब्द का विश्लेषणात्मक विवेचन भी इस स्थल पर अप्रासंगिक नहीं होगा। धर्म का शब्दार्थ इसके पर्याय स्वभाव शब्द से भी किसी सीमा तक स्पष्ट होता है। संसार के समस्त दृश्यमान पदार्थ दो कोटियों में विभक्त किये जाते हैं—(१) जड़ (निर्जीव) और (२) चेतन (सजीव)। वस्तुमात्र की जो प्रकृति है जो स्वभाव है उसे उस वस्तु का धर्म कहा जाता है। इसे गुण धर्म भी कह दिया जाता है। जैसे हवा का धर्म है—संचरणशील रहना पानी का धर्म है—प्रवाहित रहना अग्नि का धर्म है—ताप प्रसारित करना आदि। और इसी प्रकार आत्मा का धर्म होता है—चैतन्य। यही सचेतना वह मूल अन्तर है जो प्राणी और निर्जीव में पार्थक्य स्थिर करती है। सजीव ही भावना-संकुल होता है विभिन्न विकारों से ग्रस्त होता है

जाता है तब तक हम मुक्ति की दिशा में प्रयत्न करने (आचार) की क्षमता ही नहीं रख पायेंगे। आत्मा व परमात्मा के स्वरूप से अपरिचित मनुष्य स्वयं को परमात्मा बनाने की साधना भला कैसे कर पायेगा। दर्शन से मनुष्य के विचारों का सगठन होता है। विचारों का जैसा स्वरूप होगा—यह निश्चित ही है कि वैसा ही उसका आचार भी होगा। इस जगत् को ही सत्य मानने वाला व्यक्ति परलोक के अस्तित्व को नकारेगा। परिणामतः वह भौतिकता में विश्वास करने लगेगा और भोगवादी बन जायगा। इसके विपरीत जीवात्मा, परमात्मा, परलोक आदि में विश्वास रखने वाला व्यक्ति भिन्न ही आचार वाला होगा।

इस प्रकार दर्शन तत्त्वज्ञान को स्पष्ट करता है और यह भी धर्म का ही एक रूप है। इसे धर्म का साध्य रूप कहा जा सकता है और आचार या चारित्र साधन रूप है। एक से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा के परमात्मा होने की स्थिति क्या है? और दूसरे में उस स्थिति (साध्य) को प्राप्त करने के लिए उचित प्रयत्न या साधन सन्निहित होते हैं। वस्तुतः दर्शन और चारित्र अथवा विचार और आचार अन्योन्याश्रित रहते हैं। इनके स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ये दोनों पक्ष अपने योग द्वारा ही धर्म के समग्र स्वरूप को सगठित करते हैं। हाँ यह भी सत्य है कि यद्यपि विचारात्मक और आचारात्मक दोनों ही रूपों में धर्म विद्यमान रहता है तथापि प्रचलन में अब रूढ़ि ऐसी हो गयी है जिसके अधीन विचारात्मक पक्ष को दर्शन कहा जाने लगा है और धर्म के नाम से केवल आचारात्मक पक्ष को ही ग्रहण किया जाता है। साथ ही इस आचार का (जो धर्म का अब व्यक्त रूप रह गया है) आधार देने वाला अब भी दर्शन या विचार ही है और इस प्रकार धर्म को दर्शन हीन नहीं कहा जा सकता है।

जो भी हो धर्म का ऐसा रूप भी अनिवार्य है जो व्यवहार्य हो। यदि ऐसा न हुआ तो उसका अस्तित्व मात्र पुस्तकीय रह जायगा। वर्तमान युग के सन्दर्भ में धर्म के उचित रूप को समझना भी आवश्यक है। वस्तुस्थिति यह है कि धर्म मानव जीवन की वस्तु है। आज मानव में तर्क प्रवृत्ति सुविकसित है और वह परलोक के सुधार के लिए इहलोक के जीवन की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में जब तक धर्म-साधना का साध्य इस जीवन के उत्थान और सुधार को नहीं बनाया जाता तब तक आज के युग में धर्म के प्रति आस्था व श्रद्धा और तर्क दोनों का सामञ्जस्यपूर्ण आधार सभव नहीं। श्रद्धा और तर्क मानव-जीवन के विशेष गुण हैं। केवल श्रद्धा अन्धश्रद्धा न बन जाये इसलिए तर्क की आवश्यकता है और केवल तर्क कल्पना मात्र न रह जाए इसलिए श्रद्धा की आवश्यकता है।[1] धर्म के साथ इन दो अनिवार्य तत्त्वों का जोड़ा जाना आज की परिस्थिति में अनिवार्य हो

१ जनधर्म जीवनधर्म—मुनिश्री सुशीलकुमारजी शास्त्री

उठा है। तभी धर्म का अपने सार्थक और उपयोगी रूप में रहना सम्भव है। श्रद्धा व तर्क का समन्वय जिस धर्म में होता है वह जीवन को ऊर्ध्वमुखी अवश्य ही बनाता है। इस जीवन की चिन्ता करने वाला धर्म मनुष्य के जीवन को गति तो भी अवश्य देगा जो व्यक्ति के लिए तो आदर्श हो ही साथ ही इस माध्यम से समाज के आदर्श रूप से संचालन में भी सहयोगी हो। धर्म समाज में शान्ति, सुख, व्यवस्था, उत्कर्ष, न्याय और सद्गुणों का पोषक भी होता है। इस प्रकार धर्म तो व्यापक मानव-जीवन को अपना लीला क्षेत्र मानता है। धर्म का सम्बन्ध मानव-जीवन से है उसी प्रकार मानव-जीवन के लिए ही धर्म की सृष्टि हुई है। स्वर्गवासी देवताओं को उत्कर्ष की कामना नहीं व तो सुख में मतत निमग्न रहने वाले हैं—वे चारित्रपालन की आवश्यकता ही अनुभव ही नहीं करते। नारकीय जन भी इस चारित्रनिर्वाह में अक्षम है। ऐसी स्थिति में मानव ही चारित्रधर्म के निर्वाह की योग्यता और पात्रता रखता है उसी के हित के लिए उसी की श्रेष्ठ विभूतियों ने धर्म की रचना की है। जीवनोत्थान का सबल साधन धर्म ही रहा है और रहेगा। आत्मा का उत्कर्षकारी साधन ही धर्म के रूप में साकार होता है। ऐसी विराट भूमिका वाले साधन धर्म को देश और काल की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। यह सम्भव है उसके पालन के लिए किसी वर्ग विशेष को ही अधिकार प्राप्त हो और शेष को इससे वंचित रखा जाय—वास्तविक धर्म के साथ ऐसा कभी नहीं होता। धर्म मानव मात्र के लिए ग्राह्य है और मानव मात्र के कल्याण के लिए धर्म है। इसमें किसी संकोच के लिए अवकाश नहीं।

एक भ्रान्ति की ओर भी हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिये। आचार ही धर्म का मूल रूप है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि धर्म का सम्बन्ध मन और वचन से नहीं होता। जब-जब मन और वचन से पृथक होकर धर्म केवल कायिक आचरण से सम्बद्ध हो गया है तब-तब वह विकार-ग्रस्त होकर अपने मौलिक स्वरूप से च्युत हुआ है। धर्म का वह विकृत रूप मात्र सम्प्रदाय रह जाता है और बाह्याचारों के आडम्बर के अतिरिक्त कुछ भी सार उसमें अवशिष्ट नहीं रह पाता। ऐसा धर्म मानव जीवन के लिए एक प्रवंचना बन जाता है उससे हित के स्थान पर घोर अहित होने लगता है उत्थान के स्थान पर वह पतन का स्थान बन जाता है।

धर्म की सार्वदेशिक व सार्वकालिक एकरूपता

धर्म अपने मौलिक स्वरूप में सदा एक-सा रहा है। न तो काल की परतें उस स्वरूप को परिवर्तित कर पाती हैं और न देशान्तर से उसमें कोई स्वरूप-परिवर्तन आता है। जो धर्म का वास्तविक रूप यहाँ है वही सर्वत्र है और जो आज है वही दूर अतीत में भी रहा है और भविष्य में भी रहेगा। धर्मतत्त्व के चिन्तकों का अपना अपना दृष्टिकोण अवश्य रहा है और तदनुरूप धर्म की बाह्य आकृतियों में

नगण्य सा अन्तर दिखायी देता है। वास्तविकता यह है कि बाहरी भेद दिखायी देते हुए भी धर्म के विभिन्न रूपों की केन्द्रस्थ आत्मा एक ही है। धर्म सत्य है और सत्य सदा एक ही होता है। अन्तर उस सत्य की शोध विधि में हो सकता है अन्तर उस सत्य के प्रतिपादन में हो सकता है। इसी के आधार पर विभिन्न धर्म अस्तित्व में आ जाते हैं। चिन्तकों के इस दृष्टिवभिन्नय के कारण धर्म के नाना रूप विश्वपटी पर चित्रण पा सके हैं। एक सर्वेक्षण के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आज विश्व में २२०० सम्प्रदायों के रूप में धर्म प्रचलित है और अब भी नव नवीन सम्प्रदाय अस्तित्व ग्रहण करते चले जा रहे हैं। इनमें से ७०० अकेले भारत में ही हैं। इनमें से कुछ स्वयं को सर्वथा मौलिक स्वीकार करते हैं कुछ कतिपय प्रचलित सम्प्रदायों की श्रेष्ठताओं के ग्रहण से अस्तित्व में आये हैं। किन्तु ध्रुव सत्य यही है कि धर्म एक है और केवल एक ही है। वही धर्म का मौलिक व शाश्वत रूप है। वेदों में भी इस मत का समर्थक उल्लेख मिलता है— सत् एक है, विद्वान अनेक प्रकार से उसका प्रतिपादन करते हैं।[1] तथागत बुद्ध ने भी कभी इस आशय का दम्भ नहीं किया कि मैंने नवीन धर्म का प्रवर्तन किया है। उनका विनय तो इस स्पष्टोक्ति में भाषित हुआ है कि मैंने अरिहंतों द्वारा अपनाये गये पथ पर यात्रा की है, जो अत्यन्त प्राचीन है। इस मार्ग पर गतिशील रहकर ही मुझे कई तत्त्वों के रहस्य ज्ञात हुए हैं।

धर्म के स्वरूप की यह सार्वकालिक एकता और शाश्वतता भगवान महावीर स्वामी के शब्दों से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने घोषित किया था कि जो जिन अरिहंत भगवन्त भूतकाल में हुए वर्तमान काल में हैं भविष्य में होंगे—उन सबका एक ही शाश्वत धर्म होगा—एक ही ध्रुव प्ररूपणा होगी कि किसी भी जीव की हिंसा मत करो ।[2] अपने उपदेश में भगवान ने शिक्षा दी है कि किसी को मत सताओ किसी के पराधीन मत बनो और न किसी को अधीन बनाओ। भला इन मानवीय आदर्शों को किसी भी देश या काल का कोई धर्म कभी नकार सकता है? क्या कोई धर्म ऐसा है जो इस प्रकार के आदर्शों का विरोधी हो अथवा जो घोषित करता हो कि ऐसे सिद्धान्त उसके लिए आधारभूत स्थान नहीं रखते? यही कारण है कि एक ही सत्य को उजागर करने का प्रयत्न सभी धर्मों में किया गया है—यह मान्यता दृढ़ता के साथ स्थापित हो गयी है और धर्म के विभिन्न रूपों में होते हुए भी अन्ततः धर्म को एक ही माना गया है। इस ध्रुव सत्य को जब मानव जाति स्वीकार कर लेगी तो धर्म के नाम पर उत्पन्न होने वाले उपद्रव और जघन्य काण्ड स्वतः ही

---

१ एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति —ऋग्वेद

२ 'सब्वे जीवा न हन्तव्वा —स्वामी महावीर

जैनधर्म की प्राचीनता

लोकमंगल का विधायक श्रमण संस्कृति का उन्नायक आत्मा के परम पुरुषार्थ का पोषक जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन धर्म है। इसका न केवल ऐतिहासिक अपितु प्रागैतिहासिक महत्त्व भी रहा है। जैनधर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव मानव संस्कृति के इतिहास में अत्यन्त आदरणीय और महिमामय स्थान रखते हैं। ऋग्वेद अथर्ववेद गोपथ ब्राह्मण और श्रीमद्भागवत जैसे प्राचीन ग्रन्थों में भी भगवान ऋषभदेव का उल्लेख उपलब्ध होता है। प्रकट है कि धर्म दर्शन, साधना व संस्कृति की समृद्ध भारतीय परम्परा में जैनधर्म का स्थान वैदिक धर्म से किंचित् पूर्ववर्ती धर्म के रूप में रहा है। बौद्धधर्म से तो निश्चय ही बहुत-बहुत पहले का है। इसे सहज ही प्रागैतिहासिक धर्म होने का गौरव प्राप्त है।

वस्तुतः भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि इसमें समकालीन रूप से विभिन्न धाराओं का समन्वित प्रवाह रहा है। यह तथ्य सांस्कृतिक इतिहास के प्रत्येक युग में विद्यमान रहा है। इसके आदि काल में ऐसी ही दो धाराएं समानान्तर रूप से प्रवाहित होती हैं—एक ब्राह्मण संस्कृति की धारा और दूसरी श्रमण संस्कृति की धारा। ब्राह्मण संस्कृति की धारा के अन्तर्गत वैदिक आर्य व अन्य हिन्दू परम्पराओं की गणना की जाती है और द्वितीय धारा जो श्रमण संस्कृति की थी उसमें जैन बौद्ध आदि ऐसी परम्पराओं को लिया जा सकता है जिनमें तापसी और यौगिक प्रवृत्तियों की प्रमुखता प्राप्त थी। इस प्रकार यह भली भांति कहा जा सकता है कि भारत में आविर्भूत जैनधर्म संसार के प्राचीनतम धर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके विपरीत यह धारणा सर्वथा आधारहीन एवं मिथ्या है कि भगवान महावीर द्वारा जैनधर्म का प्रवर्तन हुआ है। भगवान महावीर स्वामी के पूर्व तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायी स्वयं महावीर स्वामी के अभिभावकगण रहे हैं। इस आधार पर कतिपय विचारकों के मत में पार्श्वनाथ जैनधर्म के संस्थापक ठहरते हैं किन्तु यह धारणा भी असत्य है। यह किसी पूर्व प्रचलित धर्म का सुधारा हुआ रूप नहीं स्वतन्त्र स्वरूप का वाहक एक ऐसा धर्म है जो अपने मूल रूप में ही आरम्भ हुआ है। उनका यह मत भी सर्वथा

वस्तुतः प्रतीत होता है कि वैदिकधर्म के दूषित हो जाने के कारण उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जैनधर्म अस्तित्व में आया हो ऐसा नहीं माना जा सकता है। ऐसा स्वीकार करने का अर्थ तो यह होगा कि वैदिकधर्म के पश्चात् जैनधर्म आरम्भ हुआ किन्तु वास्तविकता यह है कि जैनधर्म वैदिकधर्म की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।[1] श्रमणधारा का यह जैनधर्म वस्तुतः ब्राह्मणधर्म से पृथक भिन्न और स्वतन्त्र अप्रभावित रूप का धर्म है। इसे अवैदिक श्रमण और नास्तिक धर्म इसी कारण से कहा जाता है। वैदिक आर्य संस्कृति का उद्गम चाहे कितना ही प्राचीन रहा हो किन्तु वह स्मरणातीत काल का नहीं है जबकि जैन संस्कृति के उद्भव के विषय में निश्चित है कि यह प्रागैतिहासिक है। जैनधर्म की प्राचीनता असंदिग्ध रूप में अब सभी दिशाओं में स्वीकृति प्राप्त करने लगी है। पुरातात्विक प्रमाण भी इस तथ्य की पर्याप्तत पुष्टि करते हैं। सिन्धु सभ्यता का अध्ययन करने के लिए मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों को प्रामाणिक रूप में आधार माना जाता है। यह सभ्यता अत्यन्त प्राचीन—ईसा से ३०० ० वर्ष पूर्व की है। ये पुरातात्विक अवशेष जो भारत की इतनी प्राचीन संस्कृति का परिचय देते हैं जैनधर्म की प्राचीनता का भी सप्रमाण समर्थन करते हैं। भारत की यह प्राचीन सिन्धु सभ्यता वैदिककालीन आर्य सभ्यता से पूर्ववर्ती ही नहीं उससे सर्वथा भिन्न भी थी।

पर्याप्त समय ऐसा भी व्यतीत हुआ है जब जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा के रूप में स्वीकार किया जाता रहा। वस्तुतः यह एक भ्रान्त दृष्टिकोण था और अब पर्याप्त शोध साक्ष्यादि के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि जैनधर्म बौद्धधर्म का अंग शाखा या विभाग नहीं अपितु यह एक स्वतन्त्र सम्पूर्ण एवं बौद्ध धर्म से पृथक अस्तित्व एवं महत्त्व रखने वाला धर्म है। यही नहीं अब तो इस तथ्य में भी कोई सन्देह नहीं रहा है कि जैनधर्म बौद्धधर्म की अपेक्षा बहुत अधिक प्राचीन है। इस प्रकार की किसी भ्रान्ति का कदाचित् यही कारण संभव है कि भगवान महावीर स्वामी को भ्रमवश जैनधर्म का प्रवर्तक मान लिया गया और संयोग से महावीर प्रभु और गौतम बुद्ध समयुगीन रहे। डॉ० हर्मन याकोबी ने अपने ग्रन्थ जैन सूत्रों की प्रस्तावना में इस सन्दर्भ में पर्याप्त प्रकाश डाला है और इस भ्रान्ति को दूर भी कर दिया है। अब जबकि महावीर स्वामी के पूर्व अवतरित तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ पूर्णतः ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध हो चुके हैं यह बिन्दु सर्वथा मिथ्या ही हो गया है कि अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा जैनधर्म का शुभारम्भ हुआ। इस प्रसंग में डॉ० याकोबी की निम्नांकित उक्ति उल्लेखनीय है—

इस बात से अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त जो वर्धमान अथवा महावीर

---

१ वास्तव में जैनधर्म पूर्णतः एक स्वतन्त्र धर्म है। यह एक प्रकार से वैदिक धर्म से भी पुराना है।

—डॉ० मोहन लाल मेहता जैन धर्म दर्शन

के नाम से प्रसिद्ध हैं बुद्ध के समकालीन थे। बौद्ध ग्रन्थों में मिलने वाले उल्लेख हमारे इस विचार को दृढ़ करते हैं कि नातपुत्त से पहले भी निग्रन्थों का जो आज आर्हत अथवा जैन नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं—अस्तित्व था।[1]

ऐतिहासिक ग्रन्थ साक्षी हैं कि जब बौद्धधर्म आरम्भ हुआ तब निग्रन्थों का सम्प्रदाय बड़ा सघन और व्यापक था। बौद्ध पिटकों में इस आशय के उल्लेख भी उपलब्ध होते हैं कि बुद्ध के प्रबल विरोधी कुछ निग्रन्थ थे। स्पष्ट है कि जैन परम्परा बौद्धधर्म से पूर्व की है। डॉ० हर्मन याकोबी के विचारों का अध्ययन करने से हमारा ध्यान इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु की ओर भी आकर्षित होता है कि यदि बौद्धधर्म के पश्चात् यह नये धर्म के रूप में आरम्भ हुआ होता तो निश्चय ही जैनधर्म के विषय में इस प्रकार का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में किया जाता, किन्तु ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। उनमें यह भी प्रकट किया गया होता कि नातपुत्त इस नवीन धर्म के संस्थापक हैं किन्तु नातपुत्त के अन्य अन्य प्रकार के परिचय देने वाले इन बौद्ध ग्रन्थों में उनका यह रूप कहीं चित्रित नहीं हुआ है। अन्ततः डॉ० हर्मन याकोबी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि—

बुद्ध के जन्म से पहले अति प्राचीन काल से निग्रन्थों का अस्तित्व चला आता है।

इतिहास इस धारणा से भी सहमत है कि गौतम बुद्ध को अपनी विचार धारा के स्वरूप-गठन में पहले से चले आ रहे धर्म चिन्तन से पर्याप्त सहायता व प्रकाश प्राप्त हुआ था। प्रमाणतः जिन श्रावक भिक्षु आदि जैन परम्परा की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग बौद्ध साहित्य में दृष्टिगत होता है।

आधुनिक इतिहासप्रेमी विद्वानों का अभिमत है कि ईसा से ३८ शताब्दी पूर्व से ही जैन मत का प्रचलन रहा है। इतिहास की वस्तुतः अपनी सीमा है और उसकी गति ईसा पूर्व ८वीं शताब्दी से पूर्व अत्यन्त शिथिल किंवा शून्यवत् है। ऐसी स्थिति में जैनधर्म की अति प्राचीन अवस्था का अध्ययन प्रागैतिहासिक आधार पर ही सम्भव है। भारतीय संस्कृति की परम्परानुसार द्वारिका के समीप यादव वंश की एक शाखा में नेमिनाथ का जन्म हुआ था। पौराणिक वंशावलियों के अनुसार नेमिनाथ *का काल १ ०० वर्ष ईसा पूर्व माना जाता है। ये ही भगवान नेमिनाथ जैन तीर्थ*कर परम्परा में पार्श्वनाथ भगवान के पूर्व आविर्भूत २२वें तीर्थंकर हैं। २१वें तीर्थंकर नमिनाथ या निमिनाथ का काल १२०० वर्ष ईसा पूर्व और (यद्यपि प्राचीन जैन परम्परा की मान्यता इससे सर्वथा भिन्न है) २०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत का काल १५ ईसा पूर्व स्वीकार किया जाने लगा है। यह भी एक सर्वस्वीकार्य तथ्य है कि यही वेदों का रचना-काल है। इस आधार पर भी यह स्पष्टतः कहा जा सकता

---

१ डॉ० हर्मन याकोबी जैन सूत्रों की प्रस्तावना

कोई नहीं जन परम्पराओं के वाहक ही थे। वातरशन मुनियों को श्रमण भी कहा जान लगा था। कालान्तर में केतु अरुण व वातरशन उन ऋषि गणों के नाम हो गये जो चित्त को एकाग्र कर अप्रमत्त भाव को प्राप्त होते थे।[1] मुनियों के गणों की व्यवस्था और एकाग्र ध्यान द्वारा उनकी अप्रमत्त आध्यात्मिक दशा—गुणस्थान की प्राप्ति जैनाचार की ही विशेष साधनाएं हैं।

ब्राह्मण साहित्य में भी व्रात्यों के उल्लेख मिलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये व्रात्य जैनव्रती साधक श्रावक हो रहे हैं। ये उपनिषदों में भी प्रशंसित हुए हैं। मनुस्मृति में भी लिच्छिवी नाथ मल्ल आदि क्षत्रिय वंशों को व्रात्य बताया गया है अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी जिन व्रतियों को वेद विरुद्ध नियमों के अनुसार तिरस्कृत किया गया था वे भी जैन परम्परा के ही अंग रहे हैं और मनुस्मृति के सन्दर्भों से यह सुस्थिर हो जाता है कि जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन वदिक परम्परा से भी पूर्व का और उन्नत आदर्शों से सम्पन्न धर्म रहा है।

यह एक सुदृढ़ और प्रमाणपुष्ट मान्यता है कि वर्तमान काल चक्र में जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हुए हैं। इनके ही पराक्रमशाली ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम से हमारा देश भारत कहलाया। श्रीमद्भागवत में भगवान ऋषभदेव का चरित्र सविस्तार चित्रित है और इसमें उल्लेख है कि रजोगुण व्याप्त मानव जाति को मोक्ष-मार्ग सिखाने के लिए अर्हत् भगवान ऋषभदेव का अवतार हुआ था।[2]

आधुनिक युग के महान भारतीय दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन् ने भी ऋग्वेद में ऋषभदेव भगवान के महत्वपूर्ण उल्लेखों की ओर सकेत किया है। उदाहरणार्थ –

> आदित्या त्वगसि आदित्य सद आसीद
> अस्त भ्नाद् वृषभो तरिक्ष जमिमीते वरिमाणाम्।
> पृथीव्या आसीत विश्वा भवनानि
> सम्राडविश्वे तानि वरुणस्य व्रतानि ॥[3]

अर्थात्—तू अखण्ड पृथ्वी मण्डल का सार त्वचा रूप है पृथ्वी-तल का भूषण है दिव्य ज्ञान द्वारा आकाश को नापता है हे ऋषभनाथ सम्राट! इस संसार में जग रक्षक व्रतों का प्रचार करो।

---

१ केतु-अरुण वातरशन शब्दा सधाना भक्षते।
तें सर्वे अपि ऋषि गणा समाहितात्मो अप्रमत्ता मन्त उपदधतु ॥

२ अयमावतारो राजसोपप्लु कैवल्योपशिक्षणाय
श्रीमद्भागवत स्कंध ५ अध्याय ६

३ ऋग्वेद अध्याय ३

अन्यथा जैनधर्म का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। मानव संस्कृति के अभ्युदय के साथ जैनधर्म के उद्भव की कल्पना को अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। निश्चित ही यह प्रागैतिहासिक काल की जीवन-पद्धति को आकार देने वाला रहा है। निष्कर्षतः यह भली भाँति कहा जा सकता है कि जैनधर्म प्रामाणिक रूप से पुरातन धर्म है यह वैदिक परम्परा से पूर्व का है और इसका प्रभाव बौद्धधर्म पर भी किसी सीमा तक रहा है। इसे बौद्धधर्म की शाखा या ब्राह्मणधर्म की प्रतिक्रिया कहना सर्वथा अनुचित ही होगा। ☐

पर जैनधर्म वास्तव में जिन मत है जैन धर्म नहीं। यदि उस धम बहा भी जाय तो अन्य धर्मों के समानान्तर कर म इसे जिन'र्वा की भक्ति म मानकर जिनदेवा द्वारा व्यक्त किया गया धर्म ही समझना होगा। मत्रों और वन्दना में जिन और विघ्न के प्रति आराधना का भाव होता है इसके भिन्न जैन धर्मावलम्बियों म उ१०३लियों को आचरण में उतारने का भाव रहता है जिनका निर्धारण जिन द्वारा हुआ है। यह भी तथ्य है कि शिव विष्णु आदि न किसी धर्म का निर्देश किया भी नहीं। व वा देवता है और एकेश्वरवाद के विचार के प्रबल होने पर य ही ईश्वर माने गये अथवा इन्हें ईश्वर का अवतार माना जाने लगा। इनके विपरीत जिन ईश्वर के अवतार नहीं होते। जिन तो हम जैसे साधारण मनुष्यों में से ही विशिष्टता अर्जित कर उत्तम बने होते हैं।

अब प्रश्न यह है कि जिन कौन होते हैं? वे कौनसी विशिष्टताएँ हैं जो जिनों का साधारण मानवीय स्तर से उपर उठ कर इस असाधारण स्तर पर पहुँचा देती हैं? 'जिन' के शाब्दिक अर्थ को समझना इस दिशा में हमारे लिए सहायक होगा। 'जिन' का अर्थ है— जीतने वाला जिसने अपने मानसिक विकारों पर विजय प्राप्त कर ली वही जिन है।

राग द्वेषादि दोषान् कर्मशत्रून् जयतीत जिन
तस्यानुयायिनो जना

अर्थात्—रागद्वेष आदि दोष और कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले जिन और उनके अनुयायी जन कहलाते हैं। इस प्रकार हम जैसे साधारण प्राणी ही अपनी चरम साधना के परिणामस्वरूप जिन-गौरव से सम्पन्न हो जाते हैं। सर्वथा निस्पृह विकारहीन और दोषरहित होकर उनकी आत्मा परमात्मा हो जाती है। परमात्मा का लक्षण विकारहीन होना ही तो है। ये जिनदेव भी विकारहीन हो जाते हैं। दोषों विकारों और कर्मों के आच्छादन के कारण आत्मा के सहज लक्षण—*अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख और अनन्तवीर्य*—प्रकट नहीं हो पाते। यह आच्छादन हटा और आत्मा इन गुणों के असीम प्रकाश से जगमगाने लगती है—परमात्मा बन जाती है। यही जिन होने की स्थिति है।

ऐसी अदोष और निर्विकार अवस्था में जिनदेव जो उपदेश देते हैं वे खरे सत्य होते हैं उनमें रच मात्र भी मिथ्यात्व नहीं होता। यहाँ विचारणीय प्रसंग यह भी है कि मिथ्या और असत्य का मूल कारण क्या है? मिथ्याभाषण के दो ही कारण होते हैं—(१) अज्ञान और (२) ज्ञान होते हुए भी दण्ड का भय अथवा पुरस्कार का लोभ। *जिन अनन्तज्ञान के* [illegible] *हैं अज्ञान का तो सर्वथा* उन्मूलन हो ही जाता है राग द्वेष स परे हो [illegible] उनम न दण्ड का भय होता है न पुरस्कार का लोभ। अत जिन के [illegible] सत्य और

जिनों का आत्मिक धरातल बड़ा [illegible]

पतन का क्रम भी निरंतर रहा है। जगत् की अन्यान्य प्रवृत्तियों के साथ धर्म भी इस क्रम से प्रभावित होता रहा है। कभी तो धर्म अपने पूर्ण प्रभाव और प्रबलता से युक्त रहता है तेजोमय रहता है तो कभी ऐसा समय भी आता है जब धर्म का प्रभाव क्षीण होने लगता है उसमें शिथिलता आ जाती है और उसकी कान्ति म्लान हो जाती है। यह सब देश-काल के ही अनुरूप होता रहता है। ऐसे ही जब-जब धर्म का रूप धुंधलाने लगा उसकी गति मंदतर होने लगी तभी जिनदेवों ने इसे पुनः प्रखर और तेजवान बनाने के सफल प्रयत्न किये। इस महान उन्नयन के कर्ता जिन ही तीर्थंकर कहलाये हैं। धर्म-तीर्थ के निर्माता होते हैं—ये तीर्थंकर। यहाँ एक आशय और भी स्पष्ट करने योग्य है और वह यह कि तीर्थ का एक अर्थ घाट भी होता है। तीर्थंकर सभी जनों के लिए संसार-सागर से पार उतारने के लिए धर्मरूपी घाट का निर्माण करते हैं। काल के प्रभाव से धर्म का मार्ग जो विस्मृत हो जाता है धूमिल हो जाता है, उसे पुनः स्पष्ट करना उसे प्रशस्त करना उस पर गतिशील रहने की प्रेरणा और शक्ति देना—यह महान कार्य तीर्थंकर द्वारा सम्पन्न होते हैं। तीर्थंकर उसे कहा जाता है जो—तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति—(संसार सागर पार करने वाले जिन तीर्थंकर है) की कसौटी पर खरे उतरते हैं। अहिंसा सत्य आदि ऐसे धर्म हैं जो आत्मा को भवसागर से तारने की क्षमता रखते हैं—इस दृष्टि से भी धर्म को तीर्थ कहना उपयुक्त लगता है और ऐसे ही क्षमतापूर्ण धर्म का उन्नयन जो अपने समय में करता है वह तीर्थंकर हो जाता है।

धर्माचरण करने वालों की चार कोटियाँ मानी गयी हैं—(१) साधु (२) साध्वी (३) श्रावक अर्थात् गृहस्थ पुरुष और (४) श्राविका अर्थात् गृहस्थ महिलाएँ। इन चारों कोटियों का संगठित रूप धर्मसंघ कहलाता है। इस चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना का श्रेय जिसे प्राप्त है—उसे भी तीर्थंकरत्व प्राप्त होता है। सारांश यह कि तीर्थंकरत्व के गौरव से वह महापुरुष मंडित होता है जो समस्त विकारों पर विजय प्राप्त कर जिनत्व धारण कर लेता है कैवल्य का स्वामी होकर निर्वाण पद का अधिकारी हो जाता है। इस परम सामर्थ्य के साथ जो जगत् के अन्य सभी प्राणियों के कल्याण में व्यस्त रहता है मानव-जाति को मोक्ष का मार्ग केवल सुझाता ही नहीं उस पर अग्रसर होने की शक्ति भी देता है वही तीर्थंकर है। जब जब सामाजिक मूल्यों का विघटन होता है मानवीय आदर्श ह्रासोन्मुख होते हैं धर्म-प्रवृत्ति अशक्त होती है—तब ही तब अपार शक्ति और सामर्थ्य के साथ किसी महापुरुष का आविर्भाव होता है। वह इन विघटित तत्त्वों का पुनरुद्धार करता है त्रुटियों का दूर कर जीवन और व्यवहार को समुचित रूप से शुद्ध कर देता है। ये ही महापुरुष धर्म की पुनर्स्थापना की महती भूमिका का निर्वाह करते हैं—तीर्थंकर होते हैं। ये भी आरम्भ में अन्य साधारण मनुष्य होते हैं। युग में प्रवाहित असत्य की धारा में ये भी डूबते-उतराते रहते हैं विषय-वासनाओं के चक्र

में ग्रस्त रहते हैं किन्तु अपने पूर्वकर्मों के पुण्य-परिणाम से उन्हें सत्संग का सौभाग्य प्राप्त होता है और उनकी आत्मा का जागरण हो जाता है। वीतरागी होकर वे साधना के क्रम में चरम की प्राप्ति कर केवली हो जाते हैं। इन्हें जीव और जगत की वस्तुस्थिति का परिचय हो जाता है। ये ही धर्मसंघ की स्थापना कर असंख्य जनों को सन्मार्ग पर आरूढ़ करते हैं और व्यापक मंगल में सफल भी होते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर की भूमिका जगत् को बुराइयों से मुक्त करना और सच्चे धर्म का उपदेश करना है।

सामान्यतः मनुष्य अपूर्ण और दुर्बल हुआ करता है। इन मानवीय दुर्बलताओं को हमारे यहाँ निम्नांकित १८ रूपों में देखा गया है—

(१) मिथ्यात्व (असत्य विश्वास)
(२) अज्ञान
(३) क्रोध
(४) माया (कपट)
(५) मान
(६) लोभ
(७) रति (सुन्दर की प्राप्ति पर हर्ष)
(८) अरति (सुन्दर की अप्राप्ति पर खेद)
(९) निद्रा
(१०) शोक
(११) अलीक (झूठ)
(१२) चौर्य
(१३) मत्सर (डाह)
(१४) भय
(१५) हिंसा
(१६) राग (आसक्ति का भाव)
(१७) क्रीड़ा (धमा-तमाशा नाच रंग)
(१८) हास्य

उपर्युक्त दोष मनुष्य को पूर्ण और शुद्धमना बनने के मार्ग में बाधक बनते हैं। ये विकार हैं जो उसे निर्विकार की स्थिति तक नहीं पहुँचने देते। इन दोषों को दूर करके ही कोई आत्मा शुद्धि प्राप्त कर पाती है। इस परम शुद्धि के आधार पर ही मनुष्य को केवलज्ञान तथा केवलदर्शन उपलब्ध होता है जो उन्हें [illegible] बना देता है। वह जिनत्व प्राप्त करते हैं और ऐसे ही जिनदेव तीर्थंकर [illegible] धारण करने की क्षमता रखते हैं। स्पष्ट है कि तीर्थंकर इन दोषों से रहित [illegible] [illegible] है।

तीर्थकरत्व और अवतारवाद

यह एक मिथ्या और सर्वथा भ्रान्त धारणा है कि तीर्थंकर ईश्वर के अवतार होते हैं। वास्तव में वे न तो ईश्वरीय अंश हैं और न ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। जैन मतानुसार तो यह मनुष्य ही है जो वह स्थान रखता है ईश्वर जैसी किसी सत्ता को इसमें कभी और किसी भी सीमा तक मान्यता नहीं मिली है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि जैनधर्म ईश्वरवादी नहीं है। इस धर्म में ऐसी किसी परोक्ष और सर्वोच्च सत्ता के प्रति विश्वास का भाव नहीं है जो जगत्कर्ता जगत्-पालक और जगत्संहार का कार्य करता हो अथवा दुर्जनों के लिए दण्ड और सज्जन—भक्तों के पालन और संरक्षण की व्यवस्था करता हो। अवतारवाद के पीछे तो धारणा ही यही है कि जब अनाचार का अति हो जाता है दुराचारियों की शक्ति अतिवर्धित हो जाती है तो वह परमोच्च सत्ता किसी न किसी रूप में जगत में आती है। यही रूप *ईश्वर का अवतार कहलाता है जो सज्जनता और सज्जनों की तथा धर्म की रक्षा करता* है। वह दुराचार-दुराचारियों और अधर्म का विनाश करता है जब जैनधर्म में ऐसी सत्ता का अस्तित्व ही नहीं तो तीर्थंकरों को अवतार मानना सर्वथा असंगत है।

जैनधर्म में तो सर्वोपरि महत्व मनुष्य का ही है। वह अपनी साधना की उच्च श्रेणी में पहुंचकर और मन की निर्मलता का सम्बल पाकर स्वयं ही उस उच्च स्थान का अधिकारी हो जाता है जो तीर्थंकर के लिए है। मनुष्य को जैन साहित्य में 'देवानुप्रिय' कहा गया है। वस्तुतः मनुष्य अनन्त शक्तियों का कोष है। उसमें ही ईश्वरत्व का वास है। साथ ही यह भी वास्तविकता है कि सांसारिक विषय वासनाओं माया-मोह और कर्मों का ऐसा सघन आच्छादन आत्मा पर रहता है कि मनुष्य अपनी समक्तता और महानता से परिचित ही नहीं हो पाता। जब वह इन बाधाओं को दूर कर लेता है इस आच्छादन को उतार फेंकता है तो मनुष्यत्व के चरम शिखर पर पहुंच जाता है। सर्वथा निर्दोष निर्विकार और शुद्धता की स्थिति प्राप्त कर मनुष्य ही सर्वज्ञ, सर्वदर्शी ईश्वर परमात्मा शुद्ध और बुद्ध बन जाता है। उसका आत्मारूपी सूर्य मेघाच्छादन से मुक्त होकर ज्ञानालोक का प्रसार करने योग्य हो जाता है। ऐसा महापुरुष ही केवली की स्थिति में अनन्तज्ञान का स्वामी होकर जगदोद्धार का प्रकाश व्याप्त कर पाता है। असंख्य जनों का कल्याण करते हुए अन्ततः वह निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है और अजर अमर तथा अविनाशी बन जाता है। यही स्थिति परिभाषित रूप में 'सिद्ध' की स्थिति होती है।

तीर्थंकर इस दृष्टि से भी अवतारों से भिन्न होते हैं कि उनका सामर्थ्य स्वार्जित होता है किसी पूर्व महापुरुष की प्रतिच्छाया अथवा प्रतिरूप वे नहीं होते हैं। किसी राज-परिवार में जन्म लेकर वैभव विलास में जीवन व्यतीत करते हुए एक दिन कोई अवतार हो जाय—ऐसा तो हो सकता है हुआ भी है किन्तु तीर्थंकरत्व की प्राप्ति सुगम नहीं हुआ करती। इस हेतु समस्त सुख-वैभवों का स्वेच्छा से त्याग

करना पड़ता है। अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और सन्तोष की साधना करनी पड़ती है। वीतरागी साधु बनकर एकान्त निर्जनों में ध्यानलीन रहकर अनेक कष्टों को सहिष्णुता धैर्य और क्षमाशीलता के साथ प्रतिक्रियाहीन रूप में सहना पड़ता है तब कर्म-बन्धनों से छुटकारा पाकर कोई साधक कैवल्य प्राप्त कर पाता है और इसी का आगामी चरण तीर्थंकरत्व है। तीर्थंकर बनना किसी की उदारता अथवा कृपा के आधार पर नहीं आत्मसाधना से ही सम्भव है।

तीर्थंकर और पुनर्जन्म—एक भ्रान्ति

वर्तमान काल चक्र में भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर और भगवान महावीर अन्तिम अर्थात् २४वें तीर्थंकर हुए हैं। जिस प्रकार प्रामाणिक ज्ञान के अभाव में यह एक भ्रान्त धारणा रहती है कि तीर्थंकर ईश्वरीय अवतार होते हैं उसी प्रकार यह भी एक भ्रान्ति है कि तीर्थंकरों का पुन-पुन आगमन होता है। हाँ यह तो सत्य है कि प्रत्येक काल चक्र में तीर्थंकर होते हैं और उनकी संख्या भी चौबीस ही होती है किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि एक काल चक्र के ही तीर्थंकर आगामी काल चक्र मे पुन तीर्थंकर के रूप में आते हैं। ऐसा तो अवतारों के विषय में सत्य है। विष्णु ने ही कभी राम के रूप में अवतार लिया तो कभी कृष्ण के रूप में। तीर्थंकर-परंपरा के साथ यह तथ्य नहीं रहता। प्रत्येक काल चक्र में असाधारण कोटि के मनुष्य अपनी आत्मा का जागरण कर उसे शुद्ध और निर्विकार बनाकर साधना द्वारा यह स्थान प्राप्त करते रहते हैं। प्रत्येक बार पृथक-पृथक मनुष्यों को यह गौरव मिलता है।

विचारणीय बिन्दु यह है कि तीर्थंकर तो अन्तत निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। उसे चिरशान्ति और सुख की स्थिति उपलब्ध हो जाती है। वह अजर अमर शुद्ध और बुद्ध हो जाता है। सिद्धत्व की स्थिति में तो उसके आवागमन का चक्र स्थगित हो जाता है। उसे पुन देह नहीं धारण करनी पड़ती। फिर भला एक तीर्थंकर का आगामी काल में पुन तीर्थंकर के रूप में आवागमन कैसे सम्भव है। फिर से तीर्थंकर बनने के लिए मनुष्य देह धारण करना अनिवार्य है। काल चक्र में तीर्थंकर मोक्ष प्राप्त कर पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो गये होते हैं। मोक्ष अवस्था में समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है जबकि कर्मों के कारण ही आत्मा को पुन देह धारण करनी पड़ती है। कर्म मल उस बीज की भाँति है जो पुनर्जन्म के रूप में अंकुरित हुआ करते हैं। इस बीजरूपी कर्म का ही जब कठोर तपस्या की अग्नि में सेक लिया जाता है तो फिर उसकी अंकुरण शक्ति नष्ट हो जाती है।[1] कर्म नष्ट हो जाते हैं परिणामत आत्मा के जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा हो जाता है। अत तीर्थंकरों के विषय में ऐसा मानना कि उनका पुनरागमन होता है—भ्रान्त ही नहीं मिथ्या भी है।

१ दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुर ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुर ॥

मात्र तीर्थंकर ही निर्वाणाधिकारी नहीं

इसी प्रकार यह भ्रान्ति भी रहा करती है कि तीर्थंकरों को ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और इनके अतिरिक्त और किसी को यह स्थिति नहीं मिल पाती। वस्तु स्थिति यह है कि जो तीर्थंकर हैं उन्हें तो मोक्ष की प्राप्ति होती ही है, किन्तु मोक्ष प्राप्त करने वाले सभी तीर्थंकर नहीं हो जाते। *सोना अवश्य ही चमकीला होता है* किन्तु हर वह वस्तु जो चमकीली हो सोना नहीं होती। यही अन्तर मुक्त जनों और तीर्थंकरों में होता है। वैराग्य साधना के बल पर कर्मों का क्षय करके अनेक जन निर्वाण तो प्राप्त करते हैं किन्तु इनमें से कुछ विशिष्ट जन ही ऐसे होते हैं जिन्हें तीर्थंकरत्व की प्राप्ति भी हो जाती है। यद्यपि दोनों ही अपनी आत्मिक शक्ति के क्षेत्र में समान होते हैं किन्तु सामान्य *मुक्त जन केवल आत्म-कल्याण और आत्म-सुख* तक ही सीमित रह जाते हैं जबकि तीर्थंकर अपने अनन्तज्ञान का उपयोग प्राणिमात्र के उपकार के लिए करते हैं। वे धर्मसंघ की स्थापना करते हैं, शिथिल हो गयी धार्मिक प्रवृत्ति को प्रबल बनाते हैं, धर्म के मार्ग में आ गये पाखण्ड-पाषाणों को हटा कर उस मार्ग को फिर से अबाध और प्रशस्त बना देते हैं। यह लोकोपकार तीर्थंकर से ही सम्भव है, *अन्य मुक्त जन तो प्राप्त असीम आनन्द में निमग्न रहा करते हैं।* विकारग्रस्त मानव-समाज के जीर्णोद्धार का पुनीत और दुरूह कार्य तीर्थंकरों द्वारा सम्पन्न होता है। तीर्थंकर और सामान्य मुक्तजनों का यह अन्तर केवल ज्ञानप्राप्ति से निर्वाण प्राप्ति के मध्य की अवधि में ही दृष्टिगत होता है, न तो इसके पूर्व का साधनाकाल है उसमें ऐसा कोई अन्तर होता है और न निर्वाणोत्तर स्थिति में। निर्वाण के पश्चात तो *तीर्थंकर की आत्मा भी अन्य मुक्तजनों की भाँति ही* हो जाती है। दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता।

वर्तमान काल चक्र में २४ तीर्थंकरों का समय-समय पर जो योगदान रहा उसके परिणामस्वरूप जैनधर्म उत्तरोत्तर परिष्कृत, प्रबल, युगानुरूप और व्यापक होता रहा है। □

प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता था। इस युग में कल्पवृक्षों की बहुलता थी और ये ही कल्पवृक्ष मनुष्यों की आवश्यकता पूर्ति के समर्थ साधन हुआ करते थे। जीवन की आवश्यकताएँ भी बड़ी सीमित थीं और आशाएँ भी मर्यादित। यह परिवर्तनशील समय का ऐसा भाग होता है जब प्रकृति की अनेकानेक शक्तियाँ उद्भूत और विकसित होती रहती हैं जिनसे यहाँ के प्राणियों को नाना प्रकार की सुख-सुविधाएँ स्वत सुलभ होती रहती हैं। इस चरम के अनन्तर यहीं अवसर्पिणी काल का आरम्भ होता है। अवसर्पिणी काल के आदि भाग और उत्सर्पिणी काल के सुषमा-सुषमा आरा में यौगलिक काल होता है। यह अवसर्पिणी के तीसरे आरे तक चलता है। इस काल में माता पिता एक युगल अर्थात् एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म देते हैं। यही युगल आयु प्राप्त कर दम्पति का रूप ले लेता है। इसी कारण इस युग को यौगलिक युग कहा जाता है।

(२) तीर्थंकरयुग

अवसर्पिणी काल के प्रथम आरे के बाद से ही सुख शान्ति में अवनति आने लग जाती है और वह क्रमश बढ़ती चली जाती है। दुःख बढ़ने लगते हैं और जीवन त्रस्त हो जाता है। तृतीय आरे के मध्योपरान्त कल्पवृक्षों की कमी होने लगती है। फलत मनुष्यों की आवश्यकतापूर्ति में कठिनाई आने लगती है। प्राकृतिक आपदाओं के कारण परस्पर सहयोग की दृष्टि से छोटे छोटे समुदायों में मनुष्य साथ साथ रहने लगते हैं और कुल के रूप में समाज का अस्तित्व आरम्भ होता है। इन कुलों के प्रमुख—कुलकर मनुष्य की विपत्तियों में उन्हें सहायता करने लगते हैं। यही वह वातावरण था जब तीर्थंकर युग आरम्भ हुआ। आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के पूर्व ऐसे ७ या दूसरे मतों में १४ कुलकर हो चुके थे और भगवान के जनक नाभि उनमें अन्तिम कुलकर थे।

तीर्थंकर परम्परा

तीर्थंकरत्व की व्यापक व्याख्या से यह स्पष्ट हो गया है कि अनासक्त दीक्षित और प्रव्रजित होकर कठोर तपश्चर्या और साधना के बल पर केवलज्ञान प्राप्त करने और अन्तत निर्वाण प्राप्त कर लेने वाले असंख्य जन हो सकते हैं किन्तु ये सब तीर्थंकर नहीं होते। तीर्थंकरत्व तो इससे आगे का चरण है। वह अपनी अर्जनाओं की शक्ति का प्रयोग जगत के कल्याण के लिए करता है। अपने ज्ञान सामर्थ्य और साधना-फल से जो सभी को लाभान्वित करता है वह तीर्थंकर है। पथ भ्रष्ट मानवता को वह आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ़ कर देता है। वह इस प्रकार असंख्य जनों को मोक्ष के लक्ष्य तक पहुँचने की जटिल यात्रा में अपने सजग नेतृत्व का सहारा देता है उनका मार्ग-दर्शन करता है। यह सर्वजन हिताय दृष्टिकोण ही केवली को तीर्थंकर के गौरव से सम्पन्न कर देता है अन्यथा मात्र केवली तो अपने मोक्ष तक ही सीमित रह जाता है। उसकी साधना का परिणाम क्षेत्र व्यापक नहीं हो पाता। तीर्थंकर तो वह है जो धर्मतीर्थ की स्थापना करे धर्मशासन का पुनरुद्धार करे

और शिथिलता प्राप्त धर्म को पुनः सशक्त कर दे। जैन परम्परा में ऐसे २४ तीर्थंकरों का प्रादुर्भाव हुआ है। उनकी नामावली निम्नानुसार है —

१ आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथजी
२ भगवान अजितनाथजी
३ भगवान संभवनाथजी
४ भगवान अभिनन्दननाथजी
५ भगवान सुमतिनाथजी
६ भगवान पद्मप्रभजी
७ भगवान सुपार्श्वनाथजी
८ भगवान चन्द्रप्रभजी
९ भगवान सुविधिनाथजी
१० भगवान शीतलनाथजी
११ भगवान श्रेयांसनाथजी
१२ भगवान वासुपूज्यजी
१३ भगवान विमलनाथजी
१४ भगवान अनन्तनाथजी
१५ भगवान धर्मनाथजी
१६ भगवान शान्तिनाथजी
१७ भगवान कुन्थुनाथजी
१८ भगवान अरनाथजी
१९ भगवान मल्लिनाथजी
२० भगवान मुनिसुव्रतजी
२१ भगवान नमिनाथजी
२२ भगवान अरिष्टनेमिजी
२३ भगवान पार्श्वनाथजी
२४ भगवान महावीरस्वामीजी

काल चक्र—

तीर्थंकरों की यह परम्परा वर्तमान काल चक्र की है। काल का यह प्रवाह अनन्त है और अजस्र है। समय अनादि काल से व्यतीत होता रहा है और होता रहेगा। हाँ अनेक दृष्टियों से समय कभी उन्नत और विकसित दिखायी देता है तो कभी अवनत दिखाई देता है। यह उत्थान और पतन का क्रम भी असमाप्य रहता है। उत्थान के पश्चात् पतन और इस पतन के पश्चात् पुनः उत्थान होता रहता है और काल की यात्रा आगे से आगे बढ़ती रहती है। काल चक्र की यह गतिशीलता सदा अबाधित रहती है। घड़ी की सुइयों की गति से काल चक्र के सिद्धान्त को समझने में सुगमता अनुभव की जा सकती है। घड़ी की सुइयाँ १२ के अंक से आगे जब यात्रा करती हैं तो

पतनोन्मुख हो जाती हैं, अधोगति के साथ वे ६ के अंक पर जब तक नहीं पहुंच जाती तब तक उनकी निम्न से निम्नतर की ओर यात्रा बनी रहती है और तुरन्त ही वे *फिर ऊर्ध्वगामी हो जाती हैं तब उनकी यात्रा का उत्थान भाग आ जाता है।* सुइयाँ उच्च से उच्चतर होती जाती हैं और विकास की पराकाष्ठा १२ के अंक पर पहुंच जाती है। इसके आगे आगे पुन पतन अधोगति आ जाती है। कालचक्र की भी उत्थान से पतन और पतन से उत्थान की ओर गतिमयता इसी प्रकार बनी रहती है। *मानव-जाति का संस्कारगत विकास और ह्रास का यह क्रम भी घड़ी की सुइयों* की भाँति चलता रहता है और इसे एक अन्य दृष्टान्त से भी समझा जा सकता है जिसका आधार सर्पिणी का देह है—

सर्पिणी का शरीर फन से पूछ की ओर क्रमश कृश और संकीर्ण होता चला जाता है और पूंछ से फन की ओर उसका आकार स्थूल से स्थूलतर होता चला जाता है। मानव-जाति के आदर्श और संस्कारगत विकास कभी पराकाष्ठा पर होते हैं किन्तु यह अवस्था सदा-सदा नहीं बनी रहती। पतन आरम्भ होता है और यह *सर्पिणी के फन से पूछ की ओर जाने के समान है। काल चक्र का यह पतनोन्मुख* भाग अवसर्पिणी काल कहलाता है। इसके अन्तिम बिन्दु पर पहुँचते-पहुंचते तो मानव जाति के आचरण सर्वथा अशक्त हो जाते हैं किन्तु यह दशा भी अनन्त नहीं होती क्योंकि समय तो सतत् प्रवाहमान और परिवर्तनशील है। अत अब गति पुन पतन से विकास की ओर होने लगती है पूछ से फन की ओर होने लगती है। और काल चक्र का यह भाग उत्सर्पिणी काल कहलाता है। अवसर्पिणी काल के आरम्भ से लेकर उत्सर्पिणी काल की समाप्ति तक काल का एक चक्र सम्पन्न हो जाता है और यही काल चक्र है। इस प्रकार उत्थान से क्रमश पतन की ओर तथा पतन से पुन क्रमश उत्थान का यह क्रम अजस्र बना रहता है। यही समय की परिवर्तनशीलता है। काल चक्र सतत रूप से गतिशील है और परिवर्तन (कभी उत्थान कभी पतन की ओर) स्थान लेते चले जाते हैं। हाँ यह अवश्य है कि ये परिवर्तन तुरन्त अनुभव नहीं हो जाते। जब परिवर्तित परिस्थिति काफी आगे बढ़ जाती है विकसित हो जाती है तभी हम उसका आभास होने लगता है।

इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दो विभागों मे यह कालचक्र विभक्त है जो व्यवहार-काल कहलाते हैं। प्रत्येक व्यवहार-काल भी ६ ६ उप विभागों में विभक्त है। यह प्रत्येक उप विभाग आरा अथवा पर्व कहलाते हैं। यहाँ घड़ी का उदाहरण और अधिक उपयुक्त है। घड़ी मे भी १२ से ६ के अंको तक का भाग (अवसर्पिणी काल) ६ उप भागों म और इसी प्रकार ६ से १२ के अंकों तक का भाग भी ६ उप भागों मे विभक्त होता है। उत्सर्पिणी व्यावहारिक-काल के ६ आरा निम्नानुसार हैं —

सोरियपुर	भगवान अरिष्टनेमि (बाईसवें)
कुण्डपुर	भगवान महावीर (चौबीसवें)

इन तीर्थंकरों के जन्म कुल का विवरण इस प्रकार है—

कुरुवंश	धर्मनाथ अरनाथ और कुन्थुनाथ
हरिवंश	मुनिसुव्रतनाथ
इक्ष्वाकुवंश	शेष समस्त तीर्थंकर

आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ)

स्पष्ट है कि प्रत्येक काल चक्र में तीर्थंकरों की परम्परा रहती है और प्रत्येक परम्परा में तीर्थंकरों की संख्या हो २४ ही रहती है। भगवान ऋषभदेव को जनधर्म के वर्तमान काल-चक्र की तीर्थंकर परम्परा में आदि स्थान प्राप्त है। भगवान ऋषभनाथ ने ही जनधर्म का उसका रूप दिया उसकी स्थापना की थी। इस काल चक्र के अवसर्पिणी काल के तीसरे पर्व (आरे) में आपका आविर्भाव हुआ था। उनका जन्म-काल आज से कितना पूर्व रहा होगा—यह गणनातीत है। हिन्दू मान्यतानुसार सृष्टि के आरम्भ में स्वयंभू मनु उत्पन्न हुए थे उनकी पांचवीं पीढ़ी में ऋषभदेवजी का जन्म हुआ। केवल कल्पना ही की जा सकती है कि ऋषभनाथ भगवान कितने प्राचीन महापुरुष थे। वे प्रथम सतयुग के अन्त में हुए थे और कहा जाता है कि अब तक २८ सतयुग व्यतीत हो चुके हैं। इस आधार पर भी उस काल की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व जो संस्कृति थी वह जन संस्कृति ही थी और उसके सम्पादक भगवान ऋषभनाथ थे।

तत्कालीन परिस्थितियाँ

अवसर्पिणी व्यवहार काल के प्रथम दो आरे का समय ऐसा होता है जिसे भोग-काल कहा जाता है। यह मानवीय सभ्यता का अति आरम्भिक युग था। मानव में मानव कहे जाने योग्य कोई विशिष्टता उस युग में नहीं थी। अन्य पशुओं की भांति वह भी आहार विहार निद्रा भय-मैथुनादि सामान्य प्रक्रिया वाला जीव था। उद्यम उसने तब तक सीखा ही नहीं था और वह सर्वथा प्रकृति पर ही आश्रित रहा करता था। फूल फलादि से उदरपूर्ति किया करता था और स्रोतों के जल से तृषा को शान्त कर लेता था। तरुछाया में आश्रित यह प्राणी अपने विवेक और कौशल के सहारे विस्तृत प्राकृतिक वैभव में अपने लिए अधिक सुविधाएँ प्राप्त कर लेने की क्षमता नहीं रखता था और न ही उसकी अभिलाषाएं व्यापक थीं। सीमित आकांक्षाओं का भंडार ही मनुष्य के लिए उस समय था। वह सन्तोषी था और जो स्वाभाविक रूप से उपलब्ध हो जाता था वही उसके लिए पर्याप्त था। कोई कलह नहीं कोई स्पर्धा नहीं उस काल का मनुष्य शान्ति और सन्तोष का साकार रूप ही था। वह युगलिया काल था। पति और पत्नी—बस इन दो प्राणियों से ही परिवार का संगठन होता था। एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म देकर दम्पति (युगल)

की अपनी जीवन-लीला समाप्त हो जाती थी। ये दोनों बालक प्रकृति की गोद में ही पोषण प्राप्त करते हुए बड़े होते और पति-पत्नी के रूप में जीवन व्यतीत करते। स्पष्ट है कि उस काल में कोई सामाजिक व्यवस्था न थी। सुख शान्ति की दृष्टि से सारा वातावरण स्वर्गोपम था। मोह ममता परिग्रह आदि के विकार अंकुरित भी नहीं हुए थे। कर्म से दूर केवल भोग ही जीवन का विषय था और इस कारण उस भोगभूमि काल कहा जाता है। जीवन-निर्वाह के लिए मनुष्य को कोई श्रम नहीं करना पड़ता था।

तीसरे आरे की पर्याप्त अवधि तक युग की स्थिति ऐसी ही बनी रही। किन्तु समय तो परिवर्तनशील रहता है प्राकृतिक परिस्थितियाँ बदलने लगी थी। वानस्पतिक वैभव कम होने लगा और उपभोक्ताओं की संख्या में अपेक्षाकृत अभिवृद्धि हो रही थी। परिणामतः भोगपूर्ण जीवन की आनन्दमयता में कमी आने लगी। इस समय मानव जाति ने सर्वप्रथम समस्याओं का मुँह देखा। इस अभाव की स्थिति में जहाँ छीना झपटी आरम्भ हुई वहीं मनुष्य में आज की उदर पूर्ति के पश्चात् कल के लिए संग्रह कर लेने की प्रवृत्ति ने जन्म लिया और वह प्रवृत्ति तीव्रता से आगे बढ़ने लगी। अभाव की स्थिति ने अशान्ति कलह समस्या द्वेष और स्वार्थ का वातावरण बना दिया था। ऐसी ही परिस्थितियों में भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ था। यही वह काल था जब मानव संस्कृति के आदि रूप ने आकार ग्रहण करना आरम्भ किया था। भगवान ऋषभदेव ने अपने युग की समस्या पर चिन्तन किया व्याप्त अशान्ति और कलह के मूल कारण की खोज की और पाया कि अनिवार्य उपभोग्य सामग्री का अभाव ही इस दूषित वातावरण का मूल कारण है। भगवान ने इस कारण का निर्मूलन करके समस्या के समाधान का निश्चय किया। उन्होंने कृषि करना सिखाया और धरती ने अपने असंख्य मानव-पुत्रों को अन्न का दान करना आरम्भ कर दिया। भगवान ने अन्न को पकाकर खाने की विधि का प्रवर्तन किया और अग्नि शक्ति का प्रयोग आरम्भ हुआ। कच्चे अन्न के आहार से जो उदर शूल उठा करता था उससे जनता की रक्षा करने वाली इस अग्नि को देवता माना जाने लगा—उसके प्रति श्रद्धा का भाव जागृत हुआ। धीरे धीरे अन्न के साथ-साथ अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं का प्रयोग भी होने लगा और मनुष्य इन वस्तुओं का यथावश्यकता परस्पर विनिमय करने लगा। इस प्रकार वाणिज्य आरम्भ हुआ। अब जीवन भोगपूर्ण न रहकर कर्म प्रधान बनने लगा। जीवन की सुविधाएँ श्रम-साध्य हो गयी थीं और जो जितना श्रम कर सकता था उसे उतनी ही सुविधाएं मिल जाती थी।

इस युग में भी प्रमादी और परिश्रमहीन लोग रहे अवश्य थे। अन्य जनों के परिश्रम द्वारा उत्पन्न जीवनोपयोगी सम्पदा पर ही उनकी दृष्टि बनी रहती और अवसर पाकर वे इन वस्तुओं को हड़प लिया करते। भगवान ने सम्पत्ति की रक्षा करना भी सिखाया। धीरे धीरे विश्रृंखलित मानव समुदाय वर्ण चतुष्टय-युक्त समाज के रूप

में कमने लगा। आवश्यकताओं के लिए द्वन्द्व का निर्माण बना। [illegible] का रूप [illegible] हो गया। [illegible] का [illegible] गई। कम [illegible] का सूत्रपात [illegible] हुआ और इसका [illegible] भगवान ऋषभनाथ को ही जाता है। [illegible] ग्रहण कर चुका था। ऐसी स्थिति में मनुष्य को [illegible] निर्भरता और समाज के [illegible] विकसित होते गये थे। [illegible] व्यवहार के कतिपय नियमों की आवश्यकता भी स्वाभाविक हो थी—यह किया जाय यह न किया जाय आदि। और भगवान ने यह [illegible] भी [illegible] की। इन नियमों की समता और [illegible] को [illegible] अनुभव कर सकता था। [illegible] द्वारा मानसिक विकास का [illegible] भी किया गया। अपनी पुत्रियों—ब्राह्मी और सुन्दरी को भगवान [illegible] यह [illegible]। भगवान ने स्वयं ही ब्राह्मी को [illegible] कराया और ब्राह्मी द्वारा प्रसार होने के कारण ही यह ब्राह्मी लिपि कहलायी। भगवान ने अपनी कनिष्ठ पुत्री सुन्दरी को गणित और [illegible] कलाओं में निष्णात किया। उन्होंने निर्देश दिया— पुत्रियो! तुम मनुष्यों को इन विद्याओं का ज्ञान दो समाज को [illegible] करो [illegible] शिल्प कला एवं शिल्प का विकास करो। स्पष्ट है कि मानव संस्कृति का [illegible] विद्यमान है उसका आरम्भिक रूप भगवान ऋषभदेव की ही देन है।

वर्तमान काल चक्र के अवसर्पिणी व्यवहार काल के [illegible] अन्तिम भाग में भगवान ऋषभदेव का अविर्भाव हुआ था। चैत्र कृष्णा अष्टमी को माता मरुदेवी ने अयोध्या के राजभवन में मानव संस्कृति के उन्नायक इस महान सपूत को जन्म दिया। आपके पिता महाराजा नाभि थे। नवजात शिशु के वक्ष पर वृषभ का चिह्न अंकित था। यही आपके नामकरण का आधार बना। बाल्यावस्था में भी ऋषभकुमार परहित की मनोवृत्ति से सम्पन्न थे। वे [illegible] का कष्ट में देखकर करुणार्द्र हो उठते थे और उनके कष्टों को दूर करने में वे इच्छ मात्र भी पीछे नहीं रहते थे। एक प्रसंग तो बड़ी ही श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है जो भगवान के पर दुःखकातरता के स्वभाव का परिचय तो देता ही है साथ ही उसने भगवान के जीवन और सामाजिक व्यवस्था को भी एक नया मोड़ दे दिया था। वह युगलिक काल तो था ही। बाल्यावस्था से ही एक बालक और एक बालिका का युगल (जोड़ा) हुआ करता था जो आयु प्राप्ति पर दम्पत्ति का रूप ले लिया करता था। ऋषभकुमार का भी एक युगल था जिसमें स्थान प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त करने वाली कन्या का नाम सुमंगला था। एक समय की चर्चा है कि ऐसे ही कुछ बाल युगल प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में क्रीड़ा निमग्न थे। वे सब ताल वृक्ष के नीचे किसी विशेष खेल में व्यस्त थे कि सहसा वृक्ष से टूटकर ताल फल गिरा और उसके आघात से एक बालक का देहावसान हो गया। इससे पूर्व कभी बाल मृत्यु का प्रसंग ही नहीं आया था। इस प्रकार निधन पर सर्वत्र त्राहि त्राहि मच गयी। उस बालक की सह

चरी सुनन्दा बेचारी अकेली रह गयी थी। वह बिलखने लगी, क्रन्दन करने लगी। इस असमय विछोह ने सभी के हृदय को हिला दिया था। यह विकट प्रश्न था कि अब इस बालिका के भावी जीवन का क्या होगा? युवराज ऋषभकुमार ने जब यह सुना तो उनके हृदय मे अतीव करुणा जागत हो गयी। उन्होंने वियुक्ता सुनन्दा को अपनी जीवन-सहचरी बनाने का निश्चय कर लिया और इस प्रकार उसके भावी अमगल को टालकर उसे निश्चिन्त किया। उपयुक्त वय प्राप्ति पर उन्होंने सुनन्दा के साथ विवाह किया और अपने वचन को पूर्ण किया। इसके पूर्व दाम्पत्य जीवन का आधार केवल युगल प्रथा ही थी। इससे पृथक यह प्रथम दाम्पत्य सम्बन्ध था। इस प्रकार विवाह प्रथा का सूत्रपात हुआ।

ऋषभकुमार ने अपने युगल की सहचरी सुमगला के साथ भी विवाह किया और प्रचलित परिपाटी की अवहेलना न होने दी। सुनन्दा ने परम प्रतापी पुत्र बाहुबली और पुत्री सुन्दरी को जन्म दिया और सुमगला युवराज भरत सहित ९९ पुत्रों और पुत्री ब्राह्मी की जननी थी। इस प्रकार ऋषभनाथ २ पुत्रियों और एक सौ पुत्रों के जनक थे। महाराज नाभि उपयुक्त समय पर ऋषभदेव को अयोध्या का नरेश बनाकर वीतरागी हो गये। बड़े कौशल एवं न्याय बुद्धि के साथ राजा ऋषभदेव ने अपनी प्रजा का पालन किया।

भगवान ऋषभदेव का सांसारिक जीवन नाम मात्र को ही सासारिक था अन्यथा वे सर्वथा निरपेक्ष निर्लिप्त और रागहीन रहे। इसी अवस्था में वे मानव संस्कृति के उन्नयन के महान कार्य में व्यस्त रहे और लोक मगल के अनुष्ठान को सम्पन्न करते रहे। अपने उत्तराधिकारी युवराज भरत के योग्य एव वयस्क हो जाने पर उन्हें अयोध्या के सिंहासन पर आसीन कर भगवान साधना मार्ग के सुदृढ़ पथिक बन गये। अपने अन्य पुत्र बाहुबली को उन्होंने तक्षशिला का नरेश एव शेष राजपुत्रों को अन्य छोटे राज्यों का स्वामी बनाया। महाराज ऋषभदेव का यह त्याग बड़ा प्रभावकारी सिद्ध हुआ। कहा जाता है कि अन्य अनेक नरेशों सहित ४००० पुरुषों ने भगवान के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली। वह चैत्र कृष्णा अष्टमी का पवित्र दिन था और उत्तराषाढ़ नक्षत्र का समय था। तदनन्तर भगवान अविचलित रूप से साधना मार्ग में सतत अग्रसर होते रहे। वे क्रमशः उच्च से उच्चतर स्थिति को पार करते हुए आत्मिक उत्थान करते रहे। अटूट मौन उनकी साधना का विशिष्ट अग था जिसका निर्वाह करते हुए वे जनपद में उन्मुक्त विहार करते रहे। आरम्भ से ही ऋषभनाथ राजकुमार के रूप में भी सांस्कृतिक उन्नायक के रूप में अपार ख्याति प्राप्त कर लोकप्रिय हो चुके थे और अब उनके व्यक्तित्व के इस नवीन पक्ष ने जनता के मन में उनके प्रति श्रद्धा के भाव को और गहन व सबल कर दिया। भगवान की गरिमा को दृष्टिगत रखते हुए वस्त्रादि की भेंट तो अज्ञानी जन बड़ी ही तुच्छ समझते थे। वास्तविकता यह थी कि अन्य ही ऐसा पदार्थ था जिसकी

उन्हे सर्वाधिक आवश्यकता थी। जनता तो उन्हे मणि माणिक्य भेंट कर अपना श्रद्धा भाव व्यक्त करने का यत्न करती रही जिसे भगवान ने कभी स्वीकार नहीं किया। प्राणी को जीवन निर्वाह के लिए अन्न की आवश्यकता है हीरे मोतियो की नहीं— इस तथ्य से अनभिज्ञ जनता के मध्य ही भगवान निस्पृह भाव से विचरणशील रहे। विहार के इसी क्रम म वे गजपुर पहुचे जहाँ उस समय उनके ही पौत्र श्रेयासकुमार (बाहुबली का पुत्र) का शासन था। अपने गवाक्ष मे खड नरेश श्रेयासकुमार ने मौन गभीर भाव से अग्रसर होते चले आ रहे साधक ऋषभनाथ के भव्य दर्शन किये जो अपार जन-समूह के वैभवपूर्ण उपहारो को इगित द्वारा अस्वीकार करते चले आ रहे थे। श्रेयासकुमार ने इस परिस्थिति म अपने विगत रात्रि के स्वप्न को साकार होते हुए पाया कि वह मेरु पवत को अमृत से सीच रहा है। वह त्वरा के साथ भगवान के चरणो म पहुचकर उनसे अपना आगन पवित्र करने का आग्रह करने लगा। भगवान ने अनुग्रह किया। राजभवन मे उस समय इक्षु रस के कलश आये हुए थे। राजा ने इक्षु रस की भेंट स्वीकार करने का आग्रह किया और भगवान ने सहज ही इसे स्वीकार कर लिया। इस प्रकार भगवान ने अपने एक वर्ष के निराहार तप का समापन किया। कर पात्री रूप म ही उन्होने इक्षु रस का पान किया।

साधना से ही सिद्धियाँ सभव हो पाती हैं पुरुषार्थ ही सामान्य पुरुष को महापुरुष बनाता है उसे परमात्मपद प्राप्त कराता है। भगवान ने इन सिद्धान्तो का प्रतिपादन शाब्दिक रूप मे ही नहीं अपितु अपने जीवन म उन्हे ढालकर व्यावहारिक रूप में इन सिद्धान्तो को प्रतिष्ठित किया। एक सहस्र वर्ष तक भगवान एकान्तसेवी रहकर कठोर साधना म लीन रहे आत्म चिन्तन के गहन से गहनतर तलो को स्पर्श करते चले गये। पुरिमतालनगर के समीप का शकटमुख उद्यान था फाल्गुन कृष्णा एकादशी का शुभ दिवस था भगवान अष्टम तप मे थे कि उस पावन घड़ी म उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। परम शुक्लध्यान म लीन भगवान के घनघाती कर्मों का आवरण छिन्न हो गया—इसकी स्पष्ट प्रतीति भी भगवान को हुई और उन्हें सवत्र दिव्य प्रकाश का दशन होने लगा। इस परम आलोक म उन्हें सभी लोक प्रकाशित दिखाई देने लगे। ठीक इसी घड़ी म नपति भरत को चक्रवर्ती सम्राट का गौरव प्रदान करने वाले चक्ररत्न की और युवराज की प्राप्ति हुई। ये तीनों शुभ समाचार एक ही साथ प्राप्त कर राजा भरत प्रथमत तो यह निश्चय न कर पाये कि किस उपलक्ष के समारोह को प्राथमिकता दी जाय। चिन्तन से वे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि अर्थ का फल चक्ररत्न है पुत्र काम का किन्तु कैवल्य धर्म का फल है—अत यही सर्वोत्तम है। सारे राज्य म हर्षोल्लास के साथ भगवान के केवल ज्ञान प्राप्ति का महोत्सव मनाया गया। भगवान की जननी मरुदेवी अब तक बहुत वृद्ध और शिथिल शरीर हो गयी थीं किन्तु भगवान की इस परम उपलब्धि के सवाद ने उनमें नव स्फूर्ति जागृत कर दी। भरत के साथ वे भी भगवान के दर्शनार्थ पहुँचीं।

माता मरुदेवी अशोक वृक्ष तले आसनस्थ पुत्र के भव्य रूप का दर्शन कर अत्यन्त प्रभावित हुई। उनका वात्सल्य भाव श्रद्धा एवं भक्ति में परिवर्तित हो गया। शुक्ल ध्यान में तीन होकर वे तुरन्त ही सिद्ध-बुद्ध हो गयीं। कर्मों का सघन आवरण पल मात्र में छिन्न हो गया और व सहज ही मुक्त हो गयीं। निर्वाण पद की प्राप्ति उनके लिए यों सुगम हो गयी। स्वयं भगवान ऋषभदेव ने घोषित किया कि इस युग की सवप्रथम मुक्तिगामिनी मरुदेवी सिद्ध भगवती हो गयी हैं। ऐसा प्रभावपूर्ण और उद्धारक स्वरूप था भगवान के कवल्य प्राप्त व्यक्तित्व का।

भगवान की देशना के परिणामस्वरूप उनके पौत्र मरीचि (भरत का पुत्र) ने तत्काल ही उनके श्रीचरणों में दीक्षा ग्रहण कर ली किन्तु वह मृदुल गात्र था भौतिक रूप से अशक्त था। परिणामत तपश्चर्या के कठिन मार्ग पर अग्रसर होना उसके लिए सभव नहीं हो पाया। प्रचण्ड परीषह—बाधाओं पर विजय प्राप्त करना उसके लिए कठिन था। अद्भुत समस्या उसके सामने थी। वह न तो सयम का पूर्णत निर्वाह कर पा रहा था और न ही वह गृहस्थ की ओर पुन उन्मुख हो सकता था। ऐसी अवस्था में उसने श्रमणधर्म का अध्ययन कर उसके उन अंगों का चयन किया जिनका पालन उसके लिए सुगम था। इस प्रकार उसने वैराग्य मर्यादा के एक अभिनव रूप की कल्पना की और उसके अनुरूप आचरण करने लगा। परिणामत परिव्राजक धर्म' की स्थापना हुई। मरीचि प्रथम परिव्राजक था। कुमार कपिल ने परिव्राजक धर्म को व्यवस्थित किया जो स्वयं मरीचि का ही शिष्य था। एक अवसर पर भगवान ने अपने पुत्र सम्राट भरत को अवगत कराया था कि जिस तीर्थंकर परम्परा का समारम्भ मुझसे हो रहा है उसका अन्तिम तीर्थंकर मरीचि ही बनेगा। अपने पुत्र के इस असाधारण भावी उत्कर्ष से अवगत होकर भरत अतिशय हर्षित हुआ और उसने भविष्य के तीर्थंकर अपने पुत्र मरीचि का अभिनन्दन किया।

भगवान का कैवलज्ञान की उपलब्धि हुई थी उसी समय पुत्री ब्राह्मी ने तो दीक्षा ग्रहण कर ली किन्तु सुन्दरी को यह सौभाग्य तुरन्त नहीं मिल पाया। दीक्षार्थ अत्यन्त उत्कट अभिलाषा होते हुए भी राजा भरत की स्वीकृति का अभाव उसके मार्ग की एक प्रचण्ड बाधा थी। वह प्रकटत तो सयम स्वीकार न कर सकी किन्तु सासारिक विषयों से तटस्थ अवश्य हो गई। राजभवन की सुख-सुविधाओं के मध्य भी वह रागहीन और सयमित जीवन व्यतीत करने लगी थी। उसने श्रावकधर्म स्वीकार कर लिया। जैसे मरीचि प्रथम परिव्राजक और ब्राह्मी प्रथम साध्वी बनी उसी प्रकार सुन्दरी को प्रथम श्राविका होने का गौरव प्राप्त हुआ था। भरत के षट्खण्ड मही पर विजय प्राप्त करने के प्रयोजन से प्रयाण के समय में ही सुन्दरी ने आयम्बिल तप प्रारम्भ कर दिया था। यह भरत के मन का आसक्ति भाव ही था कि जिसके कारण वह सुन्दरी को सयमार्थ अनुमति नहीं दे पा रहा था। उसने एक कल्पना पोषित कर रखी थी कि चक्रवर्ती सम्राट हो जाने के पश्चात वह

सुंदरी को साम्राज्ञी का गौरव प्रदान करेगा। उस अपना चक्रवर्ती सम्राट बनने के अभियान म कहा जाता है कि ६० हजार वर्ष की अवधि लगी। इस दीर्घ काल तक सुन्दरी कठोर संयमपूर्वक तपश्चर्या म व्यस्त रही। परिणामत वह हतकान्ति और दुबल हो गयी। पहले का सा रूप माधुर्य अब उसम शेष नही रह गया था। भरत जब अपरिमित विजयश्री स लौटा तो सुंदरी की इस अवस्था स उस बड़ा दुख हुआ। उसे पश्चात्ताप होने लगा कि दीक्षा हेतु उसने उसे पूर्व म ही अनुमति क्यों न दे दी। अब सुंदरी की स्वेच्छा पर इस प्रश्न को राजा भरत ने छोड़ दिया कि वह गृहस्थ बनी रहे अथवा संयम स्वीकार कर ले। सुंदरी के आग्रह पर भरत ने सहर्ष अपनी स्वीकृति दे दी और वह प्रव्रज्या ग्रहण कर साध्वी हो गयी थी।

तीर्थंकरत्व के गौरव से विभूषित भगवान ऋषभदेव ने ग्राम-ग्राम और नगर-नगर म विचरण करते हुए जन-जन को आत्म कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ करने की महती भूमिका निभायी। परिणामत असंख्य असंख्य जन आत्मोद्धार करने की साधना की ओर उन्मुख हुए। भगवान का प्रभाव चमत्कार के समान था। उनकी वाणी म एक अद्भुत दिव्यता थी। भरत और बाहुबली के अतिरिक्त उनके ९८ पुत्र भी इस समय छोटे छोटे राज्यो के शासनकर्ता थ। भरत ने चक्रवर्ती बनने के संकल्प के साथ इन छोटे राजाओ को चुनौती दी कि या तो मेरी अधीनता स्वीकार कर लो या युद्ध के लिए तयार हो जाओ। इनके लिए यह बडी विषम बेला थी। समस्या बडी विकट थी। वे न तो कायरो की भाँति आत्म-समर्पण कर पा रहे थ और न इनम सशक्त और पराक्रमशील भरत से युद्ध करने की ताव थी। उनसे कुछ भी करते नही बन पड रहा था। ऐसी कोमल परिस्थिति म मार्ग-दर्शन के लिए भगवान की सेवा म उपस्थित हुए। इस अवसर पर भगवान ने इन नरेशो को जो देशना दी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चिरकालिक महत्ता का वह सन्देश निम्नानुसार था—

पुत्रो! सृष्टि का संचालन अनेक सिद्धान्तो और अनेक नियमो के अनुरूप हो रहा है जो अटूट हैं और सार्वकालिक हैं। ऐसा ही एक शाश्वत सिद्धान्त है— मत्स्य न्याय। छोटी मछली को बड़ी मछली अपना आहार बना लेती है उसी प्रकार शक्तिशाली व्यक्ति दुबलों को अपने अधीन कर लेता है। उससे भी शक्तिशाली यदि कोई हुआ तो उसे अपना दास बना लेता है। इस प्रकार कम शक्तिशाली का अस्तित्व विलीन हो जाता है। भरत के व्यवहार म कोई अस्वाभाविकता नहीं है किन्तु तुम्हें अपना मार्ग निश्चित करना है।

पुत्रो! तुम भरत की अपार शक्ति के समक्ष तुच्छ हो। क्षत्रिय हो अतः तुम भी कायरता का व्यवहार नहीं कर सकोगे। क्या तुम स्वेच्छा से अपनी सत्ता उसे समर्पित कर दोगे। यदि ऐसा किया गया तो यह स्पष्टत प्रमाणित हो जायगा कि तुम सभी मान-मर्यादा गौरव आदि को खोकर भी सांसारिक सुखोपभोग के मोह

को नही छोड़ पा रहे हो तुम विषय लोलुप हो। इससे तुम्हारी अपकीर्ति होगी। विजय-प्राप्ति तुम्हारी भी कामना है। विजयी रहने में ही मानव जीवन का श्रेय है। तुम्हें भी अवश्य ही विजयी बनना है किन्तु भरत पर विजय प्राप्त करने की कामना का त्याग। इससे भी बड़ी बहुत बड़ी विजय एक और भी है। उसका वरण करो। तुम अपने वास्तविक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो। वे हैं—तुम्हारे अपने आन्तरिक विकार। इन्हें दमित करना ही सच्ची विजय प्राप्ति है। तृष्णा को जीतो मोह को पराजित करो—इसी में तुम्हारा कल्याण निहित है। यही विजय तुम्हारे लिए चिर-सुख का कारण बनेगी। जगत के क्षणिक और असार विषयों को त्याग दो। विरक्त होकर आत्म कल्याण की साधना में प्रवृत्त हो जाओ। फिर ये जागतिक सुख तुम्हें नगण्य तुच्छ और अवास्तविक अनुभव होने लगेंगे। एषणाओं के बन्धन से आत्मा को मुक्त करो और असीम सुख की खोज के साधक बन जाओ।

भगवान की इस हृदय परिवर्तनकारी वाणी ने पुत्रों के मानस पर अमित प्रभाव स्थापित किया। उनकी जागृत आत्मा के समक्ष अब कोई दुरूहता कोई कठिनाई नहीं रह गयी। उन्होंने भगवान के सुझाये मार्ग को ही वरेण्य समझा और उसमें हितकारिणी शक्ति की उपस्थिति का आभास पाया। तत्काल ही इन ६८ बन्धुओं ने स्वेच्छा से राज्य वैभव जागतिक विषयों और कामनाओं का परित्याग कर दिया और वे विरक्त हो गये। पंच महाव्रत धारण कर वे भगवान के शिष्य हो गये। भगवान ऋषभदेव ने अगणित देशनाएँ प्रदान की उनमें से पुत्रों के प्रति यह देशना अब भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

अपने अनुजों के इस त्यागपूर्ण व्यवहार से भरत द्रवित हो उठा। उसने निश्चय किया कि वह अपने बन्धुओं के अधिकारों का हनन नहीं करेगा। इस निमित्त उसने इस आशय का आग्रह अपने सभी भाइयों से किया कि वे निर्बाध और निष्कंटक राज्य का उपभोग करें। उसे इनके राज्य और वैभव की कामना नहीं रही है। अब बारी थी इन भाइयों की कि वे निर्णय करें। किन्तु निर्णय तो स्पष्ट था। परित्यक्त राज्य वैभव अधिकारादि अब उनकी दृष्टि में महिमायुक्त नहीं रह गये थे। वे तो अलौकिक सुखसम्पन्न राज्य की खोज में निकल पड़े थे। अतः ये सांसारिक राज्य उनके लिए अत्यन्त हीन थे। वे अपने नवीन मार्ग से विचलित नहीं हुए—तनिक भी नहीं।

इन ६८ भाइयों की भाँति इनका ही बन्धु बाहुबली (जो भरत से कनिष्ठ था) भी अन्ततः वीतरागी होकर आत्म-कल्याण के महान मार्ग का पथिक हो गया था। उसके इस जागरण की भी एक अद्भुत कथा है। अन्य भाइयों की भाँति वह निर्बल न था। उसमें अपार बल शौर्य और साहस था—अतः उसने भरत के युद्ध प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार कर लिया। विकट युद्ध हुआ। दोनों पक्षों में भयंकर नर संहार हुआ जिसे देखकर बाहुबली का हृदय द्रवित हो गया। मात्र दो राजाओं की

है। यह बोध होते ही उसका दर्प गल गया। अपने अनुजों को श्रद्धासहित प्रणाम करने का निश्चय कर ज्यों ही उसने चरण बढ़ाया, उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। उसकी साधना विनय का योग पाकर सफल हो गयी।

महाप्रतापी सम्राट भरत भी वैभव और सत्ता के प्रति सर्वथा अनासक्त था। वह तो दायित्वपूर्ति के भाव से ही शासन कार्य करता था। भगवान ने स्वयं एक अवसर पर यह व्यक्त किया था कि भरत इसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा और वस्तुतः उसे भी केवलज्ञान की उपलब्धि हो गयी थी।

ये कतिपय उद्धरण इस तथ्य के साक्षी थे कि भगवान ने केवलज्ञान की प्राप्ति से उपलब्ध लाभ का अधिकार स्वयं तक ही सीमित नहीं कर लिया। इस अर्जना से लाभान्वित होने वालों की संख्या अपरिमित हो, इस उद्देश्य से उन्होंने व्यापक प्रयत्न किये। यही तो तीर्थंकर की भूमिका है। भगवान ने अगणित जनों को धर्म के मार्ग पर लगाया और उन्हें मोक्ष के अनन्त सुख का भोक्ता बनाया। इस प्रकार उनका धर्म-परिवार अत्यन्त विशाल था। भगवान के धर्मसंघ में ८४ हजार श्रमण और ३ लाख श्रमणियाँ थीं। ये ८४ गणों में विभक्त थे और प्रत्येक गण का एक-एक गणधर था। यह श्रमण संघ विभिन्न गुणों के आधार पर ७ श्रेणियों में विभाजित था—

(१)	केवलज्ञानी	२० ००
(२)	मनःपर्यवज्ञानी	१२६५०
(३)	अवधिज्ञानी	९०००
(४)	वैक्रियलब्धिधारी	२०६००
(५)	चौदहपूर्वधारी	४७५०
(६)	वादी	१२६५०
(७)	सामान्य साधु	८४०००

भगवान के इस व्यापक धर्म-परिवार से यह स्पष्ट आभासित होता है कि जैनधर्म की स्थापना ही कितनी सशक्त रूप में हुई थी! कितना गहन प्रभाव था भगवान का! निःसन्देह भगवान ऋषभनाथ ने बहुविध प्रयत्नों द्वारा मानव-जाति के मंगल का जितना महान कार्य सम्पादित किया, उतना कोई भी महापुरुष अपने एक सीमित से जीवन में कदाचित् नहीं कर पाया। विशेषता यह है कि भगवान ने तो मानव संस्कृति का ही शुभारम्भ किया, जो अपने आप में एक महान और विशिष्ट उपलब्धि थी। बने-बनाये मार्ग पर यात्रा करना और मार्ग का निर्माण करके उस पर अग्रसर होना—ये दोनों पृथक पृथक कार्य हैं। भगवान ने मार्ग-निर्माण का कार्य पूर्ण किया। इसकी महानता की कोई समकक्षता नहीं है। उस आदियुग में जब विचार, चिन्तन, आचार आदि के क्षेत्र में सर्वथा शून्य व्याप्त था—भगवान के ये सफल प्रयास अभिनन्दनीय

[illegible]

एवं विकसित रूप है। साथ ही जैनेतर अन्य परम्पराओं में भी किसी सीमा तक भगवान ऋषभदेव को मान्यता प्राप्त है। इस तथ्य का समर्थन निम्नलिखित उद्गार से भली भाँति हो जाता है—

ऋषभदेव की मान्यता पूजा उपासना की महागाथा जैन परम्परा की तरह जैनेतर परम्पराओं में भी शुरू से ही कम-ज्यादा अंश में एक अथवा दूसरी तरह से अवश्य ही चालू थी। सारी आर्य जाति में समान रीति से ऋषभदेव की न्यूनाधिक मान्यता बहुत प्राचीन काल से चली आती हुई लगती है।[1]

श्रीमद्भागवत और अन्य पुराणों में भगवान की महत्ता को अनेक स्थलों पर स्वीकार किया गया है। भाद्रपद शुक्लपक्षीय पंचमी ऋषि पंचमी के रूप में मनायी जाती है। कतिपय विद्वानों के मतानुसार वास्तव में यह ऋषभ पंचमी ही है और आरम्भ में इसका यही स्वरूप था। कालान्तर में इसका स्वरूप विकृत होते-होते इसके पीछे ऋषि की स्मृति का प्रसंग जुड़ गया। अवधूत पंथ में भी भगवान ऋषभदेव को उच्च श्रद्धेय मान्यता प्राप्त है। उन्हें प्रमुख एवं आदि अवधूत का स्थान दिया गया है। बौद्ध और वैष्णव परम्पराओं में इन्हें योगेश्वर के रूप में स्मरण किया गया है।[1] धर्म शास्त्र में यह उल्लेख भी मिलता है कि ऋषभ के शिष्य-वृन्द निग्रंथों में धर्मोपदेश ग्रहण करते हैं। यह उल्लेख भी मिलता है कि ऋषभ एक तपस्वी ऋषि हैं। उनका उपदेश है कि हमारे शरीर को जो दुःख-सुख भोगने पड़ते हैं वे संचित कर्मों के फल हैं। तपस्या द्वारा कर्मों का निर्मूलन कर देने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है।

भगवान ऋषभनाथ के पश्चात्

भगवान ऋषभनाथ ने जिस धर्म का संस्थापन किया उसका समय-समय पर उन्नयन होता रहा है और यह कार्य वर्तमान काल चक्र के इस अवसर्पिणी काल में प्रादुर्भूत शेष २३ तीर्थंकरों द्वारा सम्पन्न हुआ। इस परम्परा के तीर्थंकरों का संक्षिप्त परिचय भी समीचीन एवं प्रासंगिक ही होगा।

द्वितीय तीर्थंकर भगवान अजितनाथ

पूर्वजन्मों के संस्कारों पर ही मनुष्य के वर्तमान जीवन की सभी स्थितियाँ निर्भर करती हैं। जन्म जन्मान्तरों की कर्म शृंखला कारणस्वरूप रहती है और उसके कार्य परिणामस्वरूप ही वर्तमान जीवन की गति रहा करती है। भगवान अजितनाथ का भी कर्म-संचय उच्चकोटि का था कि जिसने उन्हें महान उपलब्धियों से विभूषित कर दिया था। भगवान अजितनाथ अपने पूर्वभव में महाराज विमल वाहन थे। कर्तव्यपरायणता प्रजावात्सल्य, शौर्य-पराक्रम और भक्तिभाव सभी तत्वों

---

१ चार तीर्थंकर —पं० सुखलालजी

नाम सुझाया । चाचा तो स्वय ही राजा के साथ अजितकुमार से शासन भार
लने का आग्रह कर रहे थे । अत शासन कार्य को व्यथ का जजाल मानते हुए
विवश होकर अजितकुमार को विनीता नगरी का नरेश बनना पड़ा । नृपति के
म अजित नाथ ने प्रजापालन का दायित्व तो बड़ी ही निष्ठा भावना के साथ
ाया किन्तु ऐश्वर्योपभोग से वे तब भी तटस्थ बने रहे । जब तक भोगावली के
भार का प्रभाव शेष रहा वे इस भूमिका का निभात रहे और अन्तत अपने
रे बधु सगर को उत्तराधिकार सौपकर स्वय विरक्त हो गय । स्वय लोकान्तिक
ो ने उनसे धम-तीर्थ के प्रवतन का आग्रह किया । माघ शुक्ला नवमी को आपने
क्षा ग्रहण कर ली । सहस्राम्रवन मे अजितनाथ न पचमुष्टिक लोचकर समस्त
वद्य प्रवृत्तियो का परित्याग कर दिया । इनके साथ ही एक सहस्र अय राजा और
जकुमारों ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली थी । बेले की तपस्या मे दीक्षा प्राप्ति के
रत पश्चात ही उन्हें मन पयवज्ञान का लाभ हुआ था । तदन तर १२ वष तक
ा अजितनाथ कठोर तप करत रहे और बस्ती-बस्ती भ्रमण करत रहे । पुन अयोध्या
गरी पहुँचने पर पौष शुक्ला एकादशी को उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी । अब
ु अजितनाथ केवली और अरिहन्त अर्थात् कम शत्रुओ के हननकर्ता हो गये । उनम
रिहन्त के १२ गुण उदित हुए ।

समवसरण में केवली प्रभु अजितनाथ ने अत्यन्त प्रभावशाली और कल्याण
ारी देशना प्रदान की । अब भगवान भाव तीथकर की गरिमा से विभूषित हो गये
। देशना से प्रभावित होकर असख्य जनो ने सासारिक सुखो की असारता का हृदय
म कर लिया और लाखो स्त्री पुरुषो ने दीक्षा ग्रहण कर ली । भगवान ने चतुर्विध
घ की स्थापना भी की ।

जब भगवान को अपने जीवन का अन्तिम समय समीप अनुभव होने लगा तो
वे सम्मेत शिखर पहुचे और ध्यानलीन होकर स्थिर हो गये । एक माह के अनशन
व्रतोपरान्त चत्र शुक्ला पचमी को भगवान को निर्वाण पद की प्राप्ति हो गयी व बुद्ध
और मुक्त हो गये । द्वितीय तीर्थंकर भगवान का धम-परिवार सुविशाल था जिसम
६५ गणधर २२००० केवली १ लाख साधु ३ लाख ३० हजार साध्वियाँ २ लाख
६८ हजार श्रावक और ५ लाख ४५ हजार श्राविकाएँ थीं ।

ततीय तीथकर भगवान सभवनाथ

भगवान अजितनाथ के पश्चात् जन तीथकर परम्परा मे ततीय तीथकर
भगवान सभवनाथ का आविर्भाव एक सुदीघ अन्तराल के बाद हुआ था। श्रावस्ती
नगरी मे वह काल नृपति जितारि का शासनकाल था जिनकी धमपरायणा महारानी
का नाम था—सेनादेवी । यह राजदम्पति भगवान सभवनाथ के जनक-जननी होने
का सौभाग्य धारण कर सके थे । अपने पूवभव म भगवान क्षेमपुरी राज्य के अत्यन्त

मे लीन रहते हुए १८ वर्ष तक ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। पौष शुक्ला चतुर्दशी को अभिजित नक्षत्र मे भगवान अयोध्यानगरी के सहस्राम्रवन में बेले की तपस्या में लीन थे कि शुक्लध्यान की अवस्था प्राप्त कर उन्होंने चार घाती कर्मों (ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) का क्षय कर दिया। भगवान को दुर्लभ केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गयी।

तत्पश्चात् भगवान के समवशरण की रचना हुई और भगवान ने अपनी प्रथम धर्मदेशना मे धर्म के गूढ़ स्वरूप को स्पष्ट किया और जनसामान्य के लिए आत्म-कल्याण के मार्ग का प्रतिपादन किया। आप धर्मतीर्थ की स्थापना कर भावतीर्थंकर के गौरव से विभूषित हुए। भगवान की धर्मदेशना अति महत्वपूर्ण समझी जाती है जो युग-युगान्तर तक मानव कल्याण का अमोघ साधन सिद्ध होती रहेगी। भगवान ने अपनी देशना में स्पष्ट किया कि यह आत्मा सर्वथा एकाकी है सहचरहीन है। न इसका कोई मित्र है न कोई स्वामी। ऐसी अशरण अवस्था में मनुष्य निजकर्मानुसार सुख दुःख भोगता रहता है। सांसारिक सम्बन्ध रखने वाले—माता पिता भाई बहन स्त्री सन्तान कोई भी कर्मफल के भोग में साझीदार नहीं बनते हैं। जरा रोग मरणादि को कोई टाल नहीं सकता। केवल धर्म ही उसका रक्षक और संरक्षक हो सकता है।

भगवान की इस सुधोपम वाणी के चमत्कारी प्रभाव से लाखों नर-नारियों की आत्मा जाग उठी और इससे प्रेरित होकर उन्होंने संयम ग्रहण कर लिया। भगवान ने केवली होकर अपने शेष समस्त जीवन का सदुपयोग जन कल्याण के प्रति समर्पित कर दिया। भगवान ने अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से जनमानस को भोग से विमुख कर त्याग की ओर अग्रसर कर दिया था। इस महान अभियान के अन्तिम चरण में जब भगवान ने जीवन के अंतिम समय की समीपता अनुभव की तो अनशन व्रत धारण कर लिया। एक माह के अनशन के उपरान्त वैशाख शुक्ला अष्टमी को पुष्य नक्षत्र में भगवान ने सकल कर्म आवरण को छिन्न कर दिया। वे मुक्त हो गए निर्वाण का गौरवमय पद प्राप्त कर वे सिद्ध और बुद्ध हो गये। भगवान अभिनन्दननाथ के धर्म परिवार में ११६ गणधर और १४००० केवली थे। इनके अतिरिक्त लाख साधु ६ लाख ३ हजार साध्वियाँ २ लाख ८८ हजार श्रावक और ५ लाख २७ हजार श्राविकाएँ भगवान के धर्म परिवार में सम्मिलित थीं।

पांचवें तीर्थंकर भगवान सुमतिनाथ

चौबीस तीर्थंकरों की इस परम्परा में भगवान सुमतिनाथ का पंचम स्थान है। अयोध्यानगरीनरेश मेघ इनके जनक और महारानी मंगलावती इनकी जननी थीं। अपने पूर्वभव में भी भगवान पुष्कलावती विजय के स्वामी रहे थे। शंखपुर नगर के राजा विजयसेन का एक तेजस्वी युवराज था—पुरुषसिंह जो वस्तुतः बड़ा पराक्रमी और बलशाली था। यौवन में आते-आते ही उसने अनेक सफल युद्ध किए और

पुत्र को जननी बनने वाली है राज दम्पति ही नही सारे प्रजाजन म हर्ष की हिलोर व्याप्त हो गयी थी। स्वय महाराज धर ने रानी सुसीमा को उसकी इस महती गरिमा के कारण अपने आसन स उठकर श्रद्धापूर्वक नमन किया और कहा कि तुम्हारी महिमा ऐसी है कि समस्त देव और देवेन्द्र तुम्हें प्रणाम करेंगे। यथासमय रानी ने कमल की कान्ति वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया। कहा जाता है कि शिशु के स्वेद जल से भी कमल की सुरभि आया करती थी। देवागनाएँ भी राजकुमार के कोमल व सुन्दर शरीर क स्पश-सुख को प्राप्त करने के लिए लालायित रहती थी और दासियो का रूप ग्रहण कर इस कामना को पूरा कर लिया करती थी। पद्मवत् सुन्दर तो यह राजकुमार था ही जब वह गर्भ म था तो माता को पद्मशया पर शयन करन का दोहद भी उत्पन्न हुआ था। इस आधार पर ही शिशु का नामकरण हुआ और उसे पद्मप्रभ कहा जाने लगा।

ज्यो-ज्यो आयु विकसित होती गयी यवराज के व्यक्तित्व म अन्य तत्त्व भी जुडते गये। सौन्दय तो उनम अपरिमित था ही, वे अतुलित शक्ति और पराक्रम के स्वामी भी हो गये। विशेषता यह थी कि कुमार की शक्ति किसी के लिए आतक का कारण कभी नहीं बनी। करुणा और अहिंसा उनक चरित्र की अन्य प्रमुख विशेषताएँ थी। साथ ही वभव और सुखो के सरोवर में निमग्न रहकर भी वे इनसे निर्लिप्त रहा करते थे और इस प्रकार अपने नाम का औचित्य सिद्ध करते रहे। सासारिक विषयो के प्रति उनक मन म आकषण का भाव नहीं रहा। यह विराग जितना प्रबल था उतनी ही प्रबल उनकी कतव्य भावना भी थी। माता-पिता क आदेश से उन्होंने स्वयं का परिणयबन्धन मे भी बाँधा और यथासमय शासन भार भी स्वीकार किया। किन्तु इन सबसे उनके वराग्यभाव में कभी चचलता नही आई थी। यह सब तो वे सहज भाव से करते रहे कतव्य के रूप म ही ये प्रसग उनके जीवन म रहे भोग क रूप म नहीं। सुख, सम्पन्नता सफलताएँ उपलब्धियाँ यश सब कुछ उन्हें मिला किन्तु नरेश पद्मप्रभ ने उन्हें कभी अपने जीवन का लक्ष्य नहीं माना। आत्म कल्याण को ही वे अपनी जीवन-यात्रा का लक्ष्य मानते थे। सांसारिक पदार्थों के प्रति तटस्थता का भाव तो उनम आरम्भ से था ही—वह समय भी आ गया जब वे इन सबसे विरक्त और अनासक्त हो गये और उन्होंने सयम स्वीकार कर लिया। विरक्ति क्षमा अहिंसा सहिष्णुता आदि शक्तियो के साथ मुनि पद्मप्रभ साधना-माग पर पूण तीव्रता के साथ अग्रसर हुए। कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को उन्होंने षष्ठ भक्त (दो दिन के निर्जल तप) के उपरान्त दीक्षा ग्रहण की थी। अशुभ कर्मों का प्रभाव तो पूर्व में ही दुबल हो गया था और शेष कम समूह इतना विरल था कि उसके भग्नार्थ तनिक सी साधना भी पर्याप्त थी। षष्ठ भक्त तप के साथ शुक्लध्यान म लीन होकर भगवान ने घातिक कर्मों का सर्वथा उन्मूलन कर दिया। चत्र सुदी पूर्णिमा को चित्रा नक्षत्र में आपको केवलज्ञान-केवलदशन की प्राप्ति हो गयी। मुनि पद्मप्रभ केवली हो गये।

पुत्र को जननी बनने वाली है, राज दम्पति ही नहीं सारे प्रजाजन म हर्ष की हिलोर व्याप्त हो गयी थी। स्वयं महाराज धर ने रानी सुसीमा को उसकी इस महती गरिमा के कारण अपने आसन स उठकर श्रद्धापूर्वक नमन किया और कहा कि तुम्हारी महिमा एसी है कि समस्त देव और देवेन्द्र तुम्हे प्रणाम करेंगे। यथासमय रानी ने कमल की कान्ति वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया। कहा जाता है कि शिशु के स्वेद जल से भी कमल की सुरभि आया करती थी। देवांगनाएँ भी राजकुमार के कोमल व सुन्दर शरीर के स्पर्श सुख को प्राप्त करन के लिए लालायित रहती थी और दासियों का रूप ग्रहण कर इस कामना को पूरा कर लिया करती थी। पद्मवत् सुन्दर तो यह राजकुमार था ही जब वह गर्भ म था तो माता को पद्मशय्या पर शयन करन का दोहद भी उत्पन्न हुआ था। इस आधार पर ही शिशु का नामकरण हुआ और उसे पद्मप्रभ कहा जाने लगा।

ज्यों ज्यों आयु विकसित होती गयी युवराज के व्यक्तित्व मे अन्य तत्त्व भी जुड़ते गये। सौन्दर्य तो उनमे अपरिमित था ही, व अतुलित शक्ति और पराक्रम क स्वामी भी हो गये। विशेषता यह थी कि कुमार की शक्ति किसी के लिए आतंक का कारण कभी नहीं बनी। करुणा और अहिंसा उनक चरित्र की अन्य प्रमुख विशेषताएँ थीं। साथ ही वैभव और सुखों के सरोवर म निमग्न रहकर भी वे इनसे निर्लिप्त रहा करते थे और इस प्रकार अपने नाम का औचित्य सिद्ध करते रहे। सांसारिक विषयों के प्रति उनक मन म आकर्षण का भाव नहीं रहा। यह विराग जितना प्रबल था उतनी ही प्रबल उनकी कर्तव्य भावना भी थी। माता-पिता क आदेश स उन्होंने स्वयं को परिणयबन्धन म भी बाँधा और यथासमय शासन भार भी स्वीकार किया। किन्तु इन सबस उनके वैराग्यभाव मे कभी चंचलता नहीं आई थी। यह सब तो वे सहज भाव स करते रहे कर्तव्य के रूप म ही ये प्रसंग उनके जीवन म रहे, काम के रूप म नहीं। सुख, सम्पन्नता सफलताएँ उपलब्धियाँ यश सब कुछ उन्हें मिला, किन्तु नरेश पद्मप्रभ ने उन्हें कभी अपने जीवन का लक्ष्य नहीं माना। आत्म कल्याण को ही वे अपनी जीवन-यात्रा का लक्ष्य मानते थ। सांसारिक पदार्थों के प्रति तटस्थता का भाव तो उनमें आरम्भ से था ही—वह समय भी आ गया जब व इन सबसे विरक्त और अनासक्त हो गये और उन्होंने संयम स्वीकार कर लिया। विरक्ति क्षमा अहिंसा, सहिष्णुता आदि शक्तियों के साथ मुनि पद्मप्रभ साधना-पथ पर पूर्ण तीव्रता क साथ अग्रसर हुए। कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को उन्होंने षष्ठ भक्त (दो दिन के निर्जल व्रत) क उपरान्त दीक्षा ग्रहण की थी। अशुभ कर्मों का प्रभाव तो पूर्व में ही दुर्बल हो गया था और शेष कर्म समूह इतना विरल था कि उसक संहार्थ अधिक की साधना भी पर्याप्त थी। षष्ठ भक्त तप क साथ शुक्लध्यान म लीन होकर भगवान न घातिक कर्मों का सर्वथा उन्मूलन कर दिया। चैत्र सुदी पूर्णिमा को चित्रा नक्षत्र में आपको केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति हो गयी। मुनि पद्मप्रभ केवली हो गये।

केवली होकर भगवान पद्मप्रभ स्वामीजी ने प्रथम धर्मदेशना दी उसका कालजयी महत्व है। अपनी देशना में प्रभु ने ८४ लाख योनियों में जीव के भ्रमण का मार्मिक विवेचन किया और यह प्रतिपादित किया कि पूर्वभव के कर्मों के अनुसार ही उसे आगामी योनि उपलब्ध होती है। भगवान ने स्पष्ट किया कि प्रत्येक भव परिवर्तन के पूर्व और मरण के पश्चात् जीव को तरह-तरह की घोर यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। मानव योनि से इतर योनियों में असीम कष्ट है और मानव जीवन में भी जो दृश्यमान सुख हैं वे नश्वर हैं अवास्तविक हैं। इन अस्थिर सुखों के बाद आने वाले कष्ट बड़े भयंकर होते हैं। अज्ञानवश वह इन क्षणभंगुर सुखों को ही जीवन का सर्वस्व मानकर उनके पीछे ललचाता रहता है किन्तु अपने अन्तर् में वह झांक नहीं पाता। यदि ऐसा करे तो मोक्ष के रूप में चिरसुख को वह अपने जीवन का लक्ष्य बना सकता है उसे प्राप्त करने के साधन जुटा सकता है और जीवन को सार्थक बना सकता है। मनुष्य को चाहिये कि इस क्रम को समेटे और निरर्थक सुखों के छद्म से मुक्त होकर आत्म-कल्याण के मार्ग का अनुसरण करे। आत्मलीन होकर ही मनुष्य को अनन्त शान्ति और असीम सुख उपलब्ध हो सकता है।

अपार ज्ञानपूर्ण धर्मदेशना देकर भगवान पद्मप्रभ स्वामी ने चतुर्विध धर्म संघ की स्थापना की। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इस अनन्त चतुष्टय के स्वामी होकर पद्मप्रभ लोकज्ञ, लोकदर्शी और भाव तीर्थंकर हो गये। इसके पश्चात् सुदीर्घ काल तक भटके हुए जीवों को सन्मार्ग पर लगाकर उनके कल्याण में यागदान करते रहे। ३० लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य पूर्णकर भगवान सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये उन्हें निर्वाण पद की प्राप्ति हो गयी। भगवान का धर्म-परिवार भी सुविशाल था जिसमें १०७ गणधर, १२,००० केवली, ३,३०,००० साधु, ४,२०,००० साध्वियाँ, २,७६,००० श्रावक एवं ५,०५,००० श्राविकाएँ थीं।

सातवें तीर्थंकर भगवान सुपार्श्वनाथ

प्राचीन काल में क्षेमपुरी राज्य में एक अत्यन्त कीर्ति-सम्पन्न और लोकप्रिय शासक था—नन्दिसेन। जो प्रजाहित में सदा सचेष्ट रहा करता था। यह प्रजापालक मानव शासक आत्म-कल्याण के लिए भी उतना ही सावधान था। नरेश नन्दिसेन ने धर्माचार्य अरिदमन से प्रेरणा प्राप्त कर संयम ग्रहण कर लिया और साधना के पथ पर अग्रसर हो गया। अनेक कठोर साधनाओं और घोर तपस्याओं का अटूट क्रम ही उसके इस जीवन का पर्याय बन गया था। मुनि नन्दिसेन छठे ग्रैवेयक में अहमिन्द्र देव बने थे।

ग्रैवेयक से च्युत होकर नन्दिसेन का जीव वाराणसी की रानी पृथ्वी के गर्भ में स्थिर हो गया। वह शुभ घड़ी थी—भाद्रपद कृष्णा अष्टमी की विशाखा नक्षत्र की। उसी रात्रि में रानी ने वे १४ दिव्य स्वप्न देखे जो तीर्थंकर के आगमन के

पूर्व संकेत देते हैं। रानी ने अपने मुख की ओर अग्रसर होता हुआ श्वेत हाथी देखा श्वेत बैल देखा निडर और पराक्रमी सिंह देखा कमलासीन लक्ष्मी के दर्शन किये सुरभित पुष्पहार देखा। साथ ही शुभ्र चन्द्रमा व प्रचण्ड सूर्य देखा सजल स्वर्णकलश व उच्च पताका ऐसी कमल पुष्पों से भरा सरोवर और क्षीर सिन्धु देखा प्रखर दीपशिखा भी उसे दिखायी दी और रत्नजटित देवविमान तथा मूल्यवान रत्नसमूह भी देखा। रानी पृथ्वी ने अपने इन स्वप्नों की चर्चा अपने पति महाराजा प्रतिष्ठसेन से की तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राजा ने कहा कि रानी तुम बड़ी भाग्यशाली हो ऐसे स्वप्न देखने वाली स्त्रियाँ तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती नरेश बनने वाले पुत्रों को जन्म देती हैं। रानी इस कथन से भावविभोर हो गयी और उसका आश्चर्य हर्ष एवं गर्व में परिवर्तित हो गया। यथासमय पृथ्वीरानी ने एक तेजस्वी शिशु को जन्म दिया। गर्भकाल में माता के गर्भशोभन रहने के कारण बालक का नाम—सुपार्श्वनाथ रखा गया।

राजपरिवार में पालित-पोषित होकर युवराज वैभवजन्य सुख और सुविधाओं के मध्य विकसित होते रहे। अभाव से तो वे रंचमात्र भी परिचित नहीं थे। इस परम प्राचुर्य के वातावरण में भी राजकुमार सुपार्श्वनाथ स्वभाव से तटस्थ बने रहे। जागतिक विषयों में उनकी रुचि हो नहीं रही। यही अनासक्ति का भाव आयु के साथ-साथ दृढ़तर होता गया। बाह्य आचरण में सांसारिक मर्यादाओं का भली भाँति निर्वाह करते हुए भी उनके अन्तःकरण में विरक्ति और अनासक्ति का भाव ही पोषित होता रहा। योग्य वय प्राप्ति पर उनका विवाह भी हुआ वाराणसी के राज्यासन पर भी वे विराजित हुए किन्तु इन महती घटनाओं में भी इतना सामर्थ्य नहीं था कि वे नरेश सुपार्श्वनाथ की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को मोड़ दे सकें। वस्तुस्थिति यह थी कि ज्यों ज्यों राग और आसक्ति के अवसर सघन होते गये त्यों त्यों उनकी तटस्थता और संसार-विमुखता की प्रवृत्ति प्रबल होती गयी। अन्तत यह वैराग्य भाव परिपक्वावस्था को भी पहुँचा और सुपार्श्वनाथ ने संयम स्वीकार कर लिया एवं कठोरता के साथ उसका निर्वाह करने लगे और भोगावली का प्रभाव क्षीण हो गया है—इसका विश्वास हो जाने पर उन्होंने वर्षीदान आरम्भ किया। इनके इस त्याग से प्रभावित लगभग एक सहस्र अन्य नरेशों के साथ राजा सुपार्श्वनाथ ने ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को दीक्षा ग्रहण कर ली। अब प्रभु सुपार्श्वनाथ का जीवन सर्वथा भिन्न हो गया था। उन्होंने षष्ठ भक्त की तपस्या के साथ मुनि जीवन का आरम्भ किया। दीक्षा ग्रहण के तुरन्त पश्चात् ही उन्होंने मौनव्रत धारण कर लिया और अत्यन्त कठोर तप व साधना करते हुए वे विचरण करने लगे। उनकी साधना इतनी तीव्र थी कि मात्र ९ माह की संक्षिप्त अवधि में ही उनकी आत्मा ने उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करते हुए उच्च अवस्था प्राप्त कर ली। शिरीष वृक्ष की छाया में भगवान जब कायोत्सर्ग की अवस्था में शुक्लध्यान में मग्न खड़े थे कि सहसा उन्हें अनुभव होने लगा कि समस्त ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो गया है। यह प्रसंग फाल्गुन शुक्ला

षष्ठी का है। विशाखा नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति हो गयी थी।

देवताओं द्वारा केवली प्रभु सुपार्श्वनाथ के समवसरण की रचना हुई। भगवान ने अपनी धर्मदेशना में आत्मा और शरीर की पृथक्ता का विवेचन करते हुए उपदेश किया कि जगत के समस्त दृश्यमान पदार्थ अचिर हैं नश्वर हैं। उनके साथ ममता स्थापित करना विवेकविरुद्धता और दुःखमूलक होता है। क्षणभंगुर होने के कारण यथासमय उस व्यक्ति या वस्तु का अस्तित्व तो समाप्त हो जाता है किन्तु जिसके मन में उसके प्रति आसक्ति या ममता का भाव रहा है उसे इसके अभाव में दुःख होता है। भगवान ने उपदेश दिया कि व्यक्ति के लिए उचित है कि वस्तु स्वजन परिजन यहाँ तक कि अपने शरीर के लिए भी रागग्रस्त नहीं रहे। परिणामतः कष्ट के कारणों का समूल नाश हो जायगा। भगवान सुपार्श्वनाथ ने आत्मा को सर्वस्व बताया और कहा कि यह शरीर तो नश्वर है किन्तु इसके भीतर निवास करने वाली आत्मा अमर है। शरीर पर है और स्व का रूप आत्मा का है तथा इसी के उत्कर्ष और सुख के लिए हमें प्रयत्नशील रहना चाहिये। इस 'पर' अर्थात् शरीर के प्रति अपनत्व का भाव त्यागकर ही मनुष्य भव-बन्धन से मुक्त हो सकता है। भगवान की प्रभावपूर्ण देशना से सज्ञान और प्रेरित होकर असंख्य नर नारियों ने संयम स्वीकार कर लिया। चार तीर्थों की स्थापना कर भगवान भाव तीर्थंकर के गौरव से विभूषित हो गये। इसके अनन्तर भी भगवान व्यापक क्षेत्रों में भ्रमण करते रहे और आत्म कल्याणार्थ जन-जन को सन्मार्ग पर लगाते रहे। २० लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य पूर्णकर भगवान सुपार्श्वनाथ ने जब अपने अन्तिम समय की समीपता का अनुभव किया तो उन्होंने एक माह का अनशन व्रत धारण कर लिया। अन्ततः उन्होंने समस्त कर्म समूह का नाश कर निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। वे सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये।

भगवान सुपार्श्वनाथ का धर्म-परिवार भी सुविशाल था जिसमें ९५ गणधर और ११ ०० केवली थे। इनके अतिरिक्त इस परिवार में ३ लाख साधु ४ लाख ३० हजार साध्वियाँ २५ ००० श्रावक और ४ लाख ९३ हजार श्राविकाएँ थीं।

आठवें तीर्थंकर भगवान चन्द्रप्रभ

भगवान सुपार्श्वनाथ के पश्चात् तीर्थंकर परम्परा में भगवान चन्द्रप्रभ स्वामी का स्थान है। उनका तीर्थंकर जीवन महान था। केवलीपर्याय रूप में भगवान ने जन जन के कल्याण का व्यापक प्रयत्न लगभग १ लाख पूर्व वर्ष तक किया था और व्यापक दिग्भ्रान्त जनों को सन्मार्ग पर लगाया था। भगवान चन्द्रप्रभ स्वामी का पूर्वभव भी अत्यन्त श्रेष्ठ था और उसके प्रभावस्वरूप वे अपने तीर्थंकर जीवन को इतना सर्वोच्चस्थिति बना सके थे। पूर्वभव में उनका नाम पद्म था और वे उच्च कोटि के नरेश थे। राज्य की भरत साधना से उनके मन में विरक्ति जागृत हो उठी

देवताओं ने भगवान के विशाल समवसरण की रचना की और भगवान ने प्रथम धर्म देशना दी। आपने अपनी देशना में प्रतिपादित किया कि मानव शरीर ऊपर से जितना सुन्दर आकर्षक और मनोरम लगता है वास्तव में वह भीतर से उतना ही अपवित्र और मलिन है। बाह्य रूप तो मात्र छलावा है। शरीर की संरचना अस्थि मृदा चर्म आदि से होती है। मनुष्य अपने शरीर के भीतरी रूप का दर्शन करले तो वह अपने शरीर के लिए अति अनुचित कार्य करना छोड़ देगा। रमणियों के प्रति उसकी आसक्ति कम हो जायेगी। शरीर के प्रति राग का भाव व्यर्थ है। यह तो मल-मूत्र का भाण्ड है। सुन्दर सरस भोज्य पदार्थ भी ग्रहण कर लिए जाने के पश्चात् व शरीर के सम्पर्क में आकर घृणायुक्त हो जाते हैं। शरीर की अपवित्रता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है। इस अशुचि शरीर की शक्तियों का प्रयोग जो व्यक्ति धर्म की साधना में करता है उसी का जीवन सफल होता है वही पुण्यात्मा है।

प्रभु की इस अमोघ वाणी का श्रद्धालु श्रोताओं पर सघन प्रभाव हुआ। देशना से उद्बुद्ध होकर सहस्राधिक नर नारियों ने संयम व्रत स्वीकार कर लिया। भगवान ने अपनी आयु की शेषावधि भटकी हुई मानव-जाति को आत्म-कल्याण के मार्ग पर गतिशील करने में व्यतीत कर दी। जीवन के अंतिम काल में भगवान ने सम्मेत शिखर पर अनशनव्रत धारण कर लिया और समस्त कर्मों का क्षय कर निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। भगवान सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये। भगवान के धर्म-परिवार में ९३ गणधर और १० हजार केवली थे। इनके अतिरिक्त ढाई लाख साधु ३ लाख ८० हजार साध्वियाँ ढाई लाख श्रावक एवं ४ लाख ९१ हजार श्राविकाएँ भी भगवान के धर्म-परिवार में सम्मिलित था।

नौवें तीर्थंकर भगवान सुविधिनाथ

भगवान का वास्तविक नाम पुष्पदन्त था। यह इनका गृहस्थ नाम था किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में आप सुविधिनाथ नाम से ही विख्यात हैं। भगवान के पिता काकंदी नगरी के नरेश महाराज सुग्रीव थे और रानी रामादेवी इनकी माता थी। फाल्गुन कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र में व जयन्त विमान से च्युत होकर महापद्म का जीव माता रानी रामादेवी के गर्भ में प्रतिष्ठित हुआ था। भगवान अपने पूर्व भव में महाराज महापद्म थे जो पुण्डरीकिणी नगरी के शासक थे। महापद्म एक यशस्वी नरेश था जो तेजस्वी शासक होने के साथ-साथ दृढ़धर्मावारी भी था। विरक्त होकर महाराज महापद्म ने स्वेच्छापूर्वक राज्य त्याग कर दिया और दीक्षा ग्रहण कर ली थी। अपना शेष जीवन कठोर साधना में व्यतीत किया। परिणामतः उस तीर्थंकर नामकर्म का लाभ हुआ। देहत्याग कर वह विजय विमान में अहमिन्द्र देव बना। राजा महापद्म का जीव जब काकन्दी नगरी की रानी रामा रानी के गर्भ में आया तो रानी ने भी १४ महान् स्वप्नों का दर्शन किया था और इन

स्वप्नों के भावी शुभ प्रभावों से अवगत होकर राजदम्पति ही नहीं सारे राज्य के सभी निवासी अति हर्षित हुए थे। यथासमय रानी ने अलौकिक आभायुक्त युवराज को जन्म दिया। यह मृगशिर कृष्णा पंचमी के मूल नक्षत्र की अति शुभ घड़ी था। जब तक रानी गर्भवती थी यह सब विधि कुशल रही अतः राजा सुग्रीव के मतानुसार बालक का नाम सुविधिनाथ उपयुक्त था। इधर गर्भकाल में माता को पुष्प का दोहद उत्पन्न हुआ था। अतः वह 'पुष्पदन्त' नाम रखना चाहती थी। वस्तुस्थिति यह है कि भगवान के लिए ये दोनों ही नाम समानान्तर रूप से पर्याप्त समय तक प्रचलित रहे। पूर्वभव के उपतप के प्रभावस्वरूप सुविधिनाथ में अपार तेज बुद्धि और पराक्रम के तत्त्वों का समन्वय था। आरम्भ से ही अनासक्त होते हुए भी अभिभावकों की इच्छा को आदर मानकर इन्होंने यथासमय विवाह भी किये शासन-सूत्र भी सँभाला किन्तु उनकी चिन्तनशीलता गम्भीरता और अनासक्ति का भाव सतत रूप से उत्तरोत्तर प्रबल होता रहा। पुत्र के योग्य हो जाने पर उसे उत्तराधिकार सौंप कर नरेश सुविधिनाथ ने अपना साधक जीवन विधिवत् आरम्भ किया था। वर्षीदान के उपरान्त जब भगवान ने दीक्षार्थ महाप्रयाण किया तो इस महाभिनिष्क्रमण से प्रभावित होकर अन्य एक हजार राजाओं ने भी संयम स्वीकार कर लिया। मृगशिर कृष्णा षष्ठी को मूल नक्षत्र में सुविधिनाथ ने सहस्राम्रवन में सिद्धों की साक्षी में स्वयं ही दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा ग्रहण के तुरन्त पश्चात भगवान को मनःपर्यव ज्ञान का लाभ भी हो गया।

मुनि सुविधिनाथ ने इसके पश्चात ४ माह तक कठोर तप-साधना की। अनेक परीषहों-उपसर्गों को झेलते हुए वे आत्मलीन रहा करते। प्रभु का ध्यान सतत रूप से उत्कृष्ट और आत्मा उन्नत होती चली गयी। अन्ततः आपने सहस्राम्रवन में क्षपक श्रेणी में आरोहण किया और मालूर वृक्ष के नीचे कार्तिक शुक्ला तृतीया को जब भगवान शुक्लध्यान में लीन थे घातिक कर्मों का क्षय हो गया और भगवान को केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हो गयी।

केवली प्रभु सुविधिनाथ ने अपनी धर्मदेशना में सर्वजनहिताय दृष्टि के साथ मुक्ति का मार्ग समझाया। विराट विश्व में भटकने की आत्मा की अजस्र यात्रा का वर्णन करते हुए भगवान ने व्यक्त किया कि आत्मा कर्म के जटिल पाश में बंधी रहती है और कर्म के निश्चित फल भी होते हैं जिनको अनिवार्यतः आत्मा को ही भोगना पड़ता है। कर्मों का परिणाम साधारण जन अज्ञानवश पहचान नहीं पाता है। तात्कालिक रूप से जिन क्षणिक सुखों की अनुभूति होती है उन्हें वह वास्तविक सुख मान बैठता है, किन्तु यह भ्रम है छलना है। उनके भावी घोर भयंकर परिणामों की ओर मनुष्य का ध्यान ही नहीं जाता और फलतः वह कर्म करने में अधिक से अधिक फँसता चला जाता है। उसका भावी अशुभ भी प्रबलतर होता चला जाता है इनके स्थान पर यदि मनुष्य धर्म का आचरण करे आत्मा का उत्थान करे तो वह परम शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो सकता है और मोक्ष उसके लिए दुर्लभ नहीं रहेगा।

भगवान सुविधिनाथ की इस प्रथम धमदेशना से समवसरण में उपस्थित असख्य जन उद्बुद्ध हो गये और धम-मार्ग के अनुसरण के लिए प्ररित हुए। लक्ष लक्ष जन जगत का परित्याग कर साधना की ओर उन्मुख हो गये। ऐसा न कर पाने वाले अनेक जनो ने श्रावक के १२ व्रत धारण कर सयमपूवक जीवन व्यतीत किया। इस प्रकार अत्यन्त व्यापक रूप से भगवान ने जनकल्याण का महान काय आरम्भ किया। तत्कालीन अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने भगवान का शिष्यत्व स्वीकार किया और भगवान की वाणी को दूर-दूर तक प्रसारित किया। इस प्रकार प्रथम धम देशना के समय ही भगवान ने चार तीर्थों की स्थापना की और वे भाव तीथकर की गरिमा से विभूषित हुए।

अपने अन्तिम समय को जानकर भगवान सुविधिनाथस्वामी चरम साधना के लिए सम्मेत शिखर पहुँचे जहाँ उनके साथ एक सहस्र अन्य मुनिजन भी थे। भगवान के साथ सभी ने एक माह का अनशन व्रत आरम्भ कर दिया। घोर साधना द्वारा समस्त कर्मों का विनाश कर प्रभु ने भाद्रपद कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र में निर्वाण—परमपद की प्राप्ति कर ली। भगवान सुविधिनाथ मुक्त सिद्ध और बुद्ध बन गये। भगवान का धम-परिवार भी पर्याप्तत व्यापक था जिसमे ८८ गणधर और साढ़े सात हजार केवली थे। आपके धर्म-परिवार में इनके अतिरिक्त २ लाख साधु और १ लाख २० हजार साध्वियाँ थीं। श्रावक श्राविकाओं की सख्या क्रमश २ लाख २९ हजार एव ४ लाख ७२ हजार थी।

दसवें तीथकर भगवान शीतलनाथ

भगवान शीतलनाथ का तीथकर परम्परा में दसवाँ स्थान है। आपका जन्म एस काल में हुआ था कि जब धम बड़ी ही विपन्न अवस्था में था। यही कारण है कि धम के व्यक्त स्वरूप की पुन स्थापना का काम इस काल में एक विकट चुनौती हो गया था और इस चुनौती को भगवान शीतलनाथ ने स्वीकार किया।

उस धर्म-हीन काल में भी भद्दिलपुर राज्य की प्रजा धर्माचरण के लिए सुविख्यात थी। वहाँ के राजा दृढ़रथ का नाम तो धार्मिक प्रवृत्तियों के लिए और भी अधिक महत्त्व के साथ लिया जाता था। प्रजावत्सलता दीन हीनों का कष्ट निवारण न्यायप्रियता आदि अनेक विशेषताएँ नरेश दृढ़रथ में थी। इनकी धर्मपत्नी का नाम था—नन्दा देवी। इसी राज दम्पति की सन्तति भगवान शीतलनाथ थे। वैशाख कृष्णा षष्ठी को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र के शुभयोग में प्राणत स्वर्ग से च्युत होकर राजा पद्मोत्तर का जीव रानी नन्दादेवी के गर्भ में स्थित हुआ था। पद्मोत्तर यह भगवान शीतलनाथ के पूर्वभव का नाम था। अपने उस भव में राजा पद्मोत्तर के रूप में भगवान की आत्मा ने [illegible] का संचय किया था। राजा पद्मोत्तर [illegible] का शासक था [illegible] सुदीर्घ काल तक शासन कार्य करने के उपरान्त [illegible] के चरणों में संयम स्वीकार कर लिया था। [illegible]

तप और साधनाओं के प्रतिफलस्वरूप मुनि पद्मोत्तर को तीर्थंकर नामकर्म की उपलब्धि हो गयी थी। इस देह के अवसान पर पद्मोत्तर के जीव को प्राणत स्वर्ग में बीस सागर की स्थिति वाले देव के रूप में स्थान मिला था। पद्मोत्तर का जीव प्राणत स्वर्ग की अवधि समाप्त कर जब भद्दिलपुर की रानी के गर्भ में प्रविष्ट हुआ तो रानी ने महान पुरुषों के जनन के योग्य १४ दिव्य स्वप्न देखे। जब गर्भकाल की समाप्ति पर रानी ने परम तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया तो सारे जगत में अपूर्व शान्ति व्याप्त हो गयी। राज्य भर में हर्षोल्लास का वातावरण छा गया। भद्दिलपुरनरेश महाराज दृढ़रथ विगत दीर्घकाल से तापरोग से पीड़ित थे और कोई भी चिकित्सा प्रभावी नहीं हो पायी थी, किन्तु पुत्र जन्म के शुभ प्रभावस्वरूप वे उस कष्ट की व्याधि से मुक्त हो गये थे। इस प्रसंग का चित्रण जन इतिहासों में इस प्रकार भी मिलता है कि महाराज दृढ़रथ दाह ज्वर से रुग्ण थे और जब भगवान शीतलनाथ *रानी नन्दा के गर्भ में आये तो गर्भवती रानी के कोमल कर स्पर्श मात्र से नरेश पीड़ा* मुक्त हो गये थे। उन्हें अपार शीतलता का अनुभव होने लगा। इसी आधार पर राजकुमार को शीतलनाथ नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।

राजपरिवार में अपार सुख-सुविधाओं के मध्य युवराज शीतलनाथ का पालन पोषण हुआ। आयु के साथ-साथ उनके बल विक्रम और विवेक में भी वृद्धि होती चली गयी। *सामान्यजनों की भाँति ही उन्होंने भी गृहस्थाश्रम के बन्धन स्वीकार* किए। योग्य वय प्राप्ति पर सुन्दर राजकुमारियों के साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ। पिता के आदेश का पालन करते हुए उन्होंने शासन कार्य भी संभाला। यह सब दायित्व वे कर्तव्य भावना से और निर्विकार रूप में ही करते रहे। सांसारिक विषयों में उन्होंने कभी अपने को लिप्त नहीं किया। भोगावली शेष होने के कारण उन्हें *संसार के इन विषयों से किसी न किसी रूप में ग्रस्त रहना पड़ा। जब भोगावली* कर्म क्षीण हो गये तो उन्होंने संयम स्वीकार कर लेने की अपनी भावना व्यक्त की। इसी समय लोकांतिक देवों ने उनसे धर्मतीर्थ के प्रवर्तन का अनुरोध भी किया।

भगवान ने उत्साहपूर्वक वर्षीदान आरम्भ किया और इसकी समाप्ति पर गृहत्याग कर उन्होंने महाभिनिष्क्रमण किया। सहस्राम्रवन पहुँचकर पंच मुष्टि लोच *किया और माघ कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में दीक्षा ग्रहण कर ली। अपने* साधक जीवन में मुनि शीतलनाथ ने घोर तपस्याएँ कीं। मौनव्रतधारी भगवान एकाकी और छद्मस्थ रूप में व्यापक क्षेत्रों में विचरण करते रहे। ३ माह की अवधि उन्होंने उपसर्गों और परीषहों को झेलते हुए साधना करते हुए व्यतीत की और पौष कृष्णा चतुर्दशी को भगवान का पुनरागमन जब सहस्राम्रवन में हुआ तो पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र के पावन पर्व में उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान ने शुक्लध्यान में लीन होकर चार घातिक कर्मों को सर्वथा क्षीण कर दिया और वे केवली हो गये।

केवली प्रभु शीतलनाथ के समवसरण की रचना हुई और भगवान ने अपनी प्रथम धर्मदेशना में मोक्ष प्राप्ति के एक मात्र मार्ग संवर की स्पष्ट विवेचना की।

भगवान ने ससार के भौतिक पदार्थों और विषयों के प्रति आसक्ति को दुःख का दुर
कारण बताते हुए उपदेश दिया कि पापकर्मों के कारण ही जन्म मरण का च
सचालित रहता है। यदि मनुष्य सवर को अपना ले तो इस चक्र की गति को स्थगि
किया जा सकता है। मनोविकारों पर नियत्रण करना ही सवर है। क्षमा की आर
धना से क्रोध का सवर हो जाता है। इसी प्रकार विनय और नम्रता से अहकार
सवर हो जाता है। सवर की चरम स्थिति को प्राप्त कर लेने पर आत्मा विशु
होकर मुक्ति को वरण कर लेती है। भगवान शीतलनाथ के उपदेश का सार आच
हेमचन्द्र ने निम्नानुसार प्रस्तुत किया है—

'आस्रवो भवहेतु स्याद् सवरो मोक्षकारणम्।'

अर्थात—आस्रव ससार का और सवर मोक्ष का कारण है।

इस परम प्रेरणाप्रद देशना से जागृत होकर असख्य जन आत्म कल्याण
मार्ग पर अग्रसर हुए। भगवान ने चतुर्विध सघ की स्थापना की और भाव तीर्थंकर
गौरव से अलकृत हुए।

तीर्थंकर भगवान शीतलनाथ के उपदेशामृत से पर्याप्त दीर्घकाल तक भव्य
श्रोता असख्य जन लाभान्वित होते रहे। अन्तत अपना निर्वाण समीप अनुभव
भगवान ने एक माह का अनशन व्रत आरम्भ किया और एक सहस्र अन्य मुनियों
इसका अनुकरण किया। वैशाख कृष्णा द्वितीया को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में ही भगवान
परिनिर्वाण को प्राप्त किया। भगवान का धर्म-परिवार भी पर्याप्त व्यापक
जिसमें ८१ गणधर ७ हजार केवली १ लाख साधु १ लाख ६ हजार साध्वि
२ लाख ८९ हजार श्रावक और ४ लाख ५८ हजार श्राविकाएँ थी।

ग्यारहवें तीर्थंकर भगवान श्रेयांसनाथ

तीर्थंकर रत्नमाला के ग्यारहवें दीप्तिमान रत्न श्रेयांसनाथ स्वामी ने म
जाति को जागतिक विषयों के पक से निकालकर अनन्तसुख के पथ-मार्ग
आरूढ़ कर दिया था। भगवान की इस सक्षम भूमिका के कारण उनका यह न
सर्वथा सार्थक प्रतीत होता है। अन्य तीर्थंकरों की भाँति भगवान के साथ ग
पूर्वभवों के शुभ सस्कारों की एक समृद्ध परम्परा जुड़ी हुई थी। पुष्करवर द्वि
की क्षेमपुरी नगरी में उन दिनों में महाराजा नलिनिगुल्म का शासन था।
नलिनिगुल्म ने दीर्घकाल तक न्यायबुद्धि और प्रजावत्सलता के साथ शासन कि
अन्तत अन्तःप्रेरणा से वे आत्म-कल्याण की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने श्रमण धर्म
को ग्रहण किया और सतत साधना तथा उग्र तप के बल पर अधिकांश कर्मों
का क्षय कर दिया। उनका जीव महाशुक्र कल्प में महर्द्धिक देव बना।

उस काल की चर्चा है जब सिंहपुरी नामक राज्य में महाराजा विष्णु
शासन था। इनकी धर्मपत्नी का नाम रानी विष्णुदेवी था। इस राज परिवार
समृद्धि का स्तर बड़ा-बड़ा था। स्थिति अवधि की समाप्ति पर महाशुक्रकल्प से च्यु
होकर ... का जीव रानी विष्णुदेवी के गर्भ में स्थिर हुआ। यह शुभ

भाग्पद कृष्णा द्वादशी का था जब रानी ने अलौकिक आभा सम्पन्न सुन्दर राजपुत्र को जन्म दिया। माता विष्णुदेवी ने भी बालक के गर्भ में आते समय १४ दिव्य स्वप्नों का दर्शन किया था और स्वप्नफल की श्रेष्ठता से अवगत होकर राजसम्पत्ति का वह जो रूप उत्तरोत्तर वृद्धि पाता जा रहा था, वह अब चरम पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। बालक अत्यन्त तेजस्वी था और उसके शारीरिक लक्षण भी उसकी भावी महानता के द्योतक थे। जब से वह माता के गर्भ में आया तब से ही राज्य में न्याय धर्म और विवेक की प्रवृत्तियाँ तीव्रतर होने लगी थीं। इस प्रभाव के आधार पर युवराज का नाम श्रेयांसकुमार रखा गया। भगवान का आरम्भिक जीवन गृहस्थ रूप में ही व्यतीत हुआ। इस दिशा में स्वाभाविक रुचि न होने पर भी अभिभावकों के आग्रह के कारण उन्होंने सुन्दर नृपकन्याओं के साथ विवाह किया। उचित वय प्राप्ति पर पिता जब आत्म-कल्याण की साधना हेतु सब कुछ त्यागकर संयम-मार्ग पर आरूढ़ हुए तो श्रेयांसकुमार ने कौशल के साथ राज काज भी सम्पन्न किया। नृपति श्रेयांस की विशेषता यह थी कि उन्होंने वैभव-विलास और सत्ताधिकार भोगने की अपेक्षा राजा के दायित्वों के निर्वाह को ही महत्त्व दिया। परिणामतः उनकी प्रजा सब प्रकार से सानन्द प्रसन्न एवं संतुष्ट थी। नरेश श्रेयांस भी अपने पुत्र के योग्य हो जाने पर उसे राज्य सौंप कर आत्म-कल्याण की साधना में प्रवृत्त होने की कामना करने लगे। तभी लोकान्तिक देवों ने उनसे इस निमित्त प्रार्थना की। राजा ने एक वर्ष तक भरपूर दान दिया। कोई भी याचक उनके द्वार से निराश नहीं लौटा।

वर्षीदान सम्पन्न कर श्रेयांसकुमार ने गृह त्याग कर अभिनिष्क्रमण किया। सहस्राम्रवन में अशोक वृक्ष तले समस्त कार्यों से मुक्त होकर उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। उस समय वे बेले की तपस्या में थे और दीक्षा ग्रहण करते ही उन्होंने मौन व्रत धारण कर लिया था। भगवान का प्रथम पारणा सिद्धार्थपुर के नरेश नन्द के यहाँ परमान्न से हुआ था। दीक्षित होकर मुनि श्रेयांसकुमार अहिंस भाव से अनेक दुस्सह परीषहों को धीरज के साथ सहन करते हुए दो माह तक ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे। माघ कृष्णा अमावस्या के दिन क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर उन्होंने मोह को परास्त कर दिया। मुनि श्रेयांस ने शुक्लध्यान द्वारा समस्त घातिक कर्मों को क्षयकर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। विशाल समवसरण में केवली श्रेयांसनाथ स्वामी ने देव-मनुजों के अपार समुदाय को प्रथम देशना प्रदान की और चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना की। इस प्रकार उन्हें भाव तीर्थंकर का गौरव प्राप्त हुआ। अनेक अतिशय क्रूरकर्मियों के हृदय परिवर्तन की अद्भुत भूमिका के लिए भगवान का अत्यन्त प्रशंसनीय स्थान प्राप्त है। अपने असाधारण प्रभाव एवं क्षमता का उपयोग करते हुए भगवान ने असंख्य जनों को सन्मार्ग पर लगाया था। ११ लाख पूर्व वर्ष तक भगवान इसी प्रकार जनकल्याणार्थ ही विचरण करते रहे। जब उन्हें अपने जीवन का अन्तिम समय समीप लगने लगा तो उन्होंने

एक सहस्र मुनियों के साथ अनशन आरम्भ कर लिया और ध्यानस्थ हो गये। शुक्ल ध्यान की चरमावस्था में पहुँचकर भगवान ने सकल कर्मों का क्षय किया और सिद्ध बुद्ध एव मुक्त हो गये। भगवान का परिनिर्वाण श्रावण कृष्णा तृतीया को धनिष्ठा नक्षत्र की शुभ घड़ी मे हुआ था।

धर्म-परिवार

गणधर	७६
केवली	६५००
मन पर्यवज्ञानी	६०००
अवधिज्ञानी	६०००
चौदह पूर्वधारी	१३००
वक्रियलब्धिधारी	११०००
वादी	५०००
साधु	८४०००
साध्वी	१ ०३ ०००
श्रावक	२ ७९ ०००
श्राविका	४ ४८,०००

बारहवें तीर्थंकर भगवान वासुपूज्य

तीर्थंकरो की यशस्वी परम्परा म बारहवाँ स्थान भगवान वासुपूज्य का है। अन्य तीर्थंकरो की अपेक्षा इनमे यह वशिष्ट्य था कि आपने गृहस्थ जीवन का भोग नहीं किया। आप दृढ़तापूर्वक अविवाहित ही रहे और इसी रूप में दीक्षा ग्रहण कर ली।

भगवान वासुपूज्य अपने पूर्वभव म राजा पद्मोत्तर थे। राजा पद्मोत्तर पुष्करद्वीप के मगलावती विजय की नगरी रत्नसचया के स्वामी थे। मौलिक चिन्तन एव धर्मप्रियता इस नृपति की प्रमुख विशेषताएँ थीं। आध्यात्मिक मनोवृत्ति वाले पद्मोत्तर जिनशासन के प्रति अचचल भक्ति रखते थे। जीवन को उन्होंने स्वानुभव क आधार पर नश्वर पाया और अक्षुण्ण सुख प्राप्ति के लक्ष्य को ही उन्होंने जीवन के साफल्य का आधार माना। मनोमथन के इस नवनीत को पाकर वे इसी दिशा में चिन्तित थे कि इस मोक्ष लक्ष्य को प्राप्त कैसे किया जाय? और तभी इसके समाधान का अवसर भी सयोग से उपस्थित हुआ। गुरु वज्रनाभ से राजा पद्मोत्तर का सम्पर्क हुआ। गुरु के सदुपदेशों से प्रेरित होकर राजा ने अनासक्त होकर सयम धारण कर लिया। साधना द्वारा आत्मा की उन्नति कर उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लिया। निर्मल ध्यान म लीन मुनि पद्मोत्तर की जीवन-सीमा का सवरण हुआ था और उनका जीव प्राणत स्वर्ग में ऋद्धिमान देव बना।

चम्पानगरी के इतिहास में एक काल ऐसा भी आता है जो शौर्य और पराक्रम से भरपूर है। काल की इस विशेषता का मूल आधार तत्कालीन नरेश वसुपूज्य की पराक्रमशीलता ही थी। इसी शासक वसुपूज्य के पुत्र होने नाते भगवान वासुपूज्य कहलाये थे। नपति वसुपूज्य की रानी का नाम जया था। निश्चित अवधि के समापन पर राजा पद्मोत्तर का जीव प्राणत स्वर्ग से च्यवकर रानी जया के गर्भ में स्थिर हुआ। उसी रात्रि को रानी ने भी तीर्थंकर जननी के योग्य दिव्य १४ स्वप्नों का दर्शन किया था। उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि वह तीर्थंकर की माता बनेगी अथवा उसका पुत्र चक्रवर्ती होगा। परिणामत उसका चित्त सदा उत्फुल्ल रहने लगा। यथासमय रानी जयादेवी ने फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को दिव्य रूपवान कुमार को जन्म दिया। न केवल राजपरिवार अपितु समस्त राज्य में हर्ष की हिलोरें दौड़ने लगीं। द्वादश दिवस पर्यन्त जन्म-महोत्सव मनाया जाता रहा।

आयु के साथ-साथ युवराज वासुपूज्य के सौन्दर्य शक्ति और आकर्षण में वृद्धि होने लगी और युवक वासुपूज्य तत्कालीन नृपकन्याओं के प्रिय चहेते हो गये। विवाह के लिए अनेक योग्य प्रस्ताव भी आये। माता-पिता भी इस हेतु लालायित थे कि उनके घर में पुत्र-वधू आ जाय। वासुपूज्य तो जन्मसिद्ध विरक्त और अनासक्त थे। वे विवाहादि के भँवर में ग्रस्त होना ही नहीं चाहते थे। प्रस्ताव आया भी। पिता ने राजकुमार से कहा कि अब तुम्हें विवाह कर लेना चाहिए और राजकाज भी सभाल लेना चाहिये। अब मैं यह त्यागकर साधना-मार्ग को अपनाना चाहता हूँ।

कुमार वासुपूज्य ने विनय के साथ पिता के प्रस्ताव से असहमति व्यक्त करते हुए अपने कौमार्यव्रत से उन्हें परिचित कराया। कुमार ने पिता से कहा कि जिस सांसारिकता को आप असार समझकर त्याज्य समझ रहे हैं उसमें मुझे क्यों ग्रस्त करना चाहते हैं? शान्ति और मुक्ति यदि वरेण्य हैं तो उसका जितना महत्त्व आपके लिए है उतना ही मेरे लिए भी है। मुझे उस मार्ग पर अग्रसर होने से आप रोकते क्यों हैं? कुमार ने यह तक भी रखा कि जब अन्तत मुझे भी इस ससार जाल से एक दिन मुक्त होना ही है तो विवेक का आग्रह है कि मुझे उसमें ग्रस्त होना ही नहीं चाहिये। सयम के लिए किसी निर्धारित आयु का भी कोई विधान नहीं है।

पुत्र के इस आन्तरिक व्यक्तित्व की झलक पाकर माता पिता के वात्सल्य पूर्ण हृदय को आघात लगा। उनके सारे स्वर्णिम स्वप्न ध्वस्त हो गये। जब पुत्र ने अपने दृढ़ मतव्य को स्पष्टत व्यक्त करते हुए कहा कि मैं शीघ्र ही सयम ग्रहण कर लेना चाहता हूँ तो दुखित माता पिता ने अनेकधा उसे समझाया। उन्होंने कहा—वत्स यदि तुम सयम ही ग्रहण करना चाहते हो तो इस दिशा में कोई निषेध नहीं है किन्तु पहले विवाह तो कर लो। उन्होंने पूर्व तीर्थंकरों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा कि उन्होंने भी विवाह तो किये ही थे। इस प्रामाणिक तर्क का भी कुमार वासुपूज्य पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। राजकुमार ने प्रत्युत्तर में मार्मिक एव सटीक विचार प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि सयम ग्रहण करने से पूर्व विवाहादि गृहस्थ

स्वाभाविक ही था। अन्तत भयकर युद्ध हुआ और तारक का द्विपृष्ठ के हाथों वध हो गया था। श्रद्धालु द्विपृष्ठ ने भगवान के समक्ष यह सारा वृतान्त प्रस्तुत करते हुए अपनी जिज्ञासा का उद्घाटित किया। राजा ने प्रश्न किया कि प्रभु ! क्या पूर्वभव म मेरा तारक के साथ कोई वर भाव था ?

भगवान ने उत्तर दिया—हाँ पूर्वभव का वर था और इसी कारण तुम्हारे हाथों उसका वध हुआ था। भगवान ने राजा द्विपृष्ठ को सबोधित करते हुए कहा—राजा ! सुनो कुछ काल पूर्व पर्वत नामक एक राजा था जो अत्यन्त न्यायप्रिय और सज्जन था। वह शक्तिशाली अधिक नहीं था। उसका पडोसी राजा विन्ध्यशक्ति अत्यन्त सबल तो था किन्तु वह अनतिक स्वभाव का और दुरात्मा था। एक अनिद्य सुन्दरी गुणमजरी राजा पर्वत के राज्य मे निवास करती थी। इस पर विन्ध्यशक्ति की कुदृष्टि थी। विन्ध्यशक्ति की अनतिकता चरम-सीमा पर पहुँच गयी। उसने राजा पर्वत का सन्देश भेजा कि गुणमजरी को मुझे सौंप दो। पर्वत दुबल अवश्य था किन्तु वह स्वाभिमानी भी कम नही था। उस प्रस्ताव को उसने अपनी और अपने राज्य की मान हानि माना। गुणमजरी को न सौंपने के निश्चय के साथ उसने विन्ध्यशक्ति को उत्तर भिजवा दिया। कामांध और कुपित विन्ध्यशक्ति ने पर्वत पर आक्रमण कर दिया। प्रचण्ड शक्तिमान विन्ध्यशक्ति के समक्ष पर्वत की पराजय तो निश्चित थी ही। पराजित नरेश पर्वत को आत्मग्लानि हुई। उसने सयम ग्रहण कर लिया। मुनि पर्वत ने अनेक उग्रतप भी किये किन्तु विन्ध्यशक्ति से उसके प्रतिशोध का ज्वलित भाव शान्त नही हो पाया। उसने आगामी भव म विन्ध्यशक्ति से प्रतिशोध पूर्ण करने का सकल्प ले लिया। भगवान न पूर्वभव की इस मार्मिक कथा के वर्णन के पश्चात धैर्य के साथ सुन रहे राजा द्विपृष्ठ का अवगत किया कि तुम्हारे रूप म राजा पर्वत का जीव जन्मा और प्रतिनायक तारक के रूप म विन्ध्यशक्ति का जीव ही जन्मा। तुम दोनो के मध्य यह वर पूर्वभव से ही चला आ रहा है। उस सकल्प के कारण ही तुम्हारे द्वारा तारक का वध हुआ है।

तत्पश्चात भगवान ने क्षमाशीलता के महान आदर्श की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए गभीर उपदेश दिया। भगवान की वाणी का राजा द्विपृष्ठ पर अमित प्रभाव हुआ और उसने तत्काल सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया। उसकी क्रोध वृत्ति सर्वथा शान्त हो गयी। राजा के अग्रज विजय बलदेव ने श्रावकधर्म स्वीकार किया। यह मात्र एक दृष्टान्त है जो भगवान की वाणी की प्रबल प्रभावशीलता को उजागर करता है।

भगवान चम्पानगरी मे ६०० मुनियो के साथ अनशन व्रत में स्थिर हो गये। यह उनके जीवन का अन्तिम समय था। भगवान ध्यानलीन हो गये। शुक्ल ध्यान के चतुर्थ चरण मे भगवान ने समस्त कर्मों का क्षय कर दिया। भगवान सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये। इस प्रकार भगवान को निर्वाण पद की प्राप्ति हुई। निर्वाण का समय था—आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र।

कुमार का समारोह में न जाया गया और सभी इन्द्रों ने उनका अभिषेक किया। सारे राज्य में दस दिवस तक समारोह आयोजित किये जाते रहे। कुमार अनन्तनाथ जब माता के गर्भ में थे तभी शत्रु की अनन्त सेना ने अयोध्या पर आक्रमण कर दिया था और राजा सिंह ने उस विशाल सेना को परास्त कर दिया था। अतः बालक का नाम अनन्तनाथ रखा गया था।

बाल्यावस्था में राजकुमार अत्यन्त सुन्दर थे। देवतागण भी मानव रूप धारण कर बालक की सेवा में रहा करते थे। युवा होने पर युवराज अमित तेज के स्वामी हो गये। माता पिता के आग्रह से उन्होंने रमणी राजकन्याओं से विवाह भी किया और सुखी दाम्पत्य जीवन में प्रवेश किया। अनुकूल वय प्राप्ति पर युवराज अनन्तनाथ को पिता ने राज्यारूढ़ कर दिया। बड़ी ही विशिष्टता के साथ नृप अनन्तनाथ ने प्रजा-पालन के दायित्व का निर्वाह किया। जितनी आयु में वे सिंहासनारूढ़ हुए थे (साढ़े सात लाख वर्ष) उससे दुगनी अवधि तक वे शासन करते रहे और जब बाईस लाख वर्ष की आयु में उनकी विराग भावना अतिशय प्रबल हो गयी। राज्य त्याग कर व वर्षीदान में प्रवृत्त हुए और इसकी समाप्ति पर गृह त्यागकर वे सागरदत्ता पालकी में विराजित हो कर सहस्राम्रवन पहुँचे। इस उद्यान में वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को उन्होंने स्वयं ही दीक्षा ग्रहण कर ली। किसी गुरु की अपेक्षा उन्हें नहीं हुई। दीक्षित होते ही मुनि अनन्तनाथ मन:पर्यवज्ञानी हो गये थे। वर्द्धमाननगर के नृपति महाराजा विजय के यहाँ आपका प्रथम पारणा हुआ।

मुनि अनन्तनाथ तत्पश्चात् कठोर तपस्याओं और साधनाओं में लीन हो गये। कठिन परीषहों से भरा तीन वर्ष का साधना समय उन्होंने सहिष्णुता के साथ बिताया और तब अयोध्यानगरी के सहस्राम्रवन में उनका पदार्पण हुआ। वैशाख कृष्णा चतुर्दशी का मुनिराज वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानलीन हो गये और चार घातिक कर्मों का क्षयकर रेवती नक्षत्र में उन्होंने केवलज्ञान की प्राप्ति की। देवताओं ने भगवान का कैवल्य महोत्सव मनाया और समवसरण की रचना की जिसमें द्वादश कोटि परिषदें भगवान की प्रथम देशना से लाभान्वित हुई। भगवान ने चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना की और तीर्थंकरत्व प्राप्त कर लिया। तीर्थंकर भगवान अनन्तनाथ ने जन-जन के कल्याणार्थ विभिन्न भू भागों में विचरण किया। इसी क्रम में जब भगवान द्वारिका पहुँचे तो तत्कालीन नरेश वासुदेव पुरुषोत्तम ने अपने अग्रज बलदेव सुप्रभ के साथ भगवान की वन्दना की। भगवान की सुधोपम उपदेश वाणी का इन पर महान प्रभाव हुआ। वासुदेव पुरुषोत्तम ने सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया। परिणामतः उसके शासन से क्रूरता का तत्त्व समाप्त हो गया सहृदय नरेश का शासन कायम हो गया। बलदेव सुप्रभ ने श्रावकधर्म को स्वीकार कर लिया और कालान्तर में विरक्त होकर वह श्रमण साधक हो गया। उसे मोक्ष की भी प्राप्ति हुई। भगवान के इस प्रभाव के परिणामस्वरूप अनेकानेक जन सन्मार्गी हो गये थे।

अपने अन्तिम समय में भगवान ने एक सहस्र अन्य साधुओं के साथ अनशन

वादी	२ ८००
साधु	६४ ०००
साध्वी	६२ ४००
श्रावक	२ ४० ०००
श्राविका	४ १३ ०००

सोलहवें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ

भगवान धर्मनाथ के पश्चात् तीर्थंकर परम्परा मे सोलहवाँ स्थान भगवान शान्तिनाथ का है। भगवान शान्तिनाथ का समग्र जीवन ही सर्वजन-कल्याण का मूर्त रूप था। आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण—दोनो ही प्रवृत्तियो मे वे सदा अग्रगण्य माने जाते हैं। इस अपरिमित गौरव का आधार भगवान के पूर्वभवो के सुदृढ़ शुभ सस्कारो को माना जाता है। पूर्वजन्म में भगवान के जीव ने तीर्थंकर नामकर्म अर्जित किया था।

प्राचीन काल में पुण्डरीकिणी नगरी में राजा मेघरथ राज्य करता था। भगवान शान्तिनाथ का जीव ही अपने पूर्वभव मे इस राजा के रूप में था। राजा मेघरथ जहाँ प्रजाहितैषी और न्यायप्रिय शासक था वहीं वह परम शूरवीर और साहसी भी था। इसके अतिरिक्त दया क्षमा धर्मप्रियता आदि की विशेषताओं से भी वह बड़ा सम्पन्न था। व्रत उपवास पौषध नित्य नियमादि में वह कभी प्रमाद नहीं करता था। कहने को तो वह राजा था किन्तु राजसी सुखोपभोग में उसकी तनिक भी रुचि नहीं थी। राजा के दायित्वो का निर्वाह करना ही उसका लक्ष्य था। उसकी रुचि तो मानवोचित आदर्शों का पालन करने मे थी। नृपति मेघरथ बड़ा दयालु था। एक प्रसंग से उसकी करुणा भावना की दृढता का परिचय मिलता है। राजा ध्यानमग्न बैठा हुआ था कि सहसा काँपता हुआ एक कबूतर उसकी गोद में आ गिरा। यह पक्षी प्राणो के भय से आतंकित था। उसने राजा से अपने प्राणो की रक्षा करने की याचना की। निरीह पक्षी पर राजा द्रवित हो उठा। उसने कबूतर को शरण में लेते हुए आश्वस्त किया कि अब तुम भयमुक्त हो जाओ। कोई भी तुम्हारी कुछ भी हानि नहीं कर सकेगा। इसी समय एक बाज झपटता हुआ वहाँ आ पहुँचा। हाँफते हुए उसने राजा से अपने आहार (कबूतर) को लौटाने की माँग की।

राजा ने शरणागत कबूतर को लौटाने से मना करते हुए बाज को अहिंसा का उपदेश दिया और कहा कि उदर-पूर्ति के लिए जीवहिंसा करना पाप है। शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है। तुम भी पाप से बचो और मुझे भी कर्तव्य-पालन करने दो। तुम्हें भूख लगी है तो मेरी पाकशाला से मनचाहा व्यजन लो और तृप्त हो जाओ। किन्तु कुतर्की बाज कब मानने वाला था। उसने कहा कि मैं मांसाहारी हूँ। तुम्हारी पाकशाला के व्यजन मेरे लिए अखाद्य हैं। मुझे तेज भूख लगी है मुझे मेरा आहार लौटा दो। इस कबूतर की रक्षा से यदि तुम्हें पुण्य होगा तो क्या

मुझे भूखा मारने का पाप तुम्हें नहीं लगेगा ? राजा बड़ी समस्या में फंस गया। बाज के लिए मांस हार की व्यवस्था कैसे करे ! उसने कहा। अच्छा बाज, तुम मांस ही चाहते हो तो यह कबूतर तो मैं तुम्हें नहीं दूँगा। इसके भार के बराबर मांस तुम्हें आहार के लिए दे देता हूँ। राजा ने एक तुला मँगाकर एक पलड़े में कबूतर को रख दिया और दूसरे में अपने शरीर का मांस काट काट कर चढ़ाने लगा। राजा अपने शरीर का मांस पलड़े में चढ़ाता ही रहा किन्तु वह कबूतर के भार के बराबर हो ही नहीं पा रहा था। राजा का शरीर क्षत विक्षत हो गया था। सारी देह में असह्य पीड़ा थी किन्तु वह अपने वचन से नहीं डिगा। इस प्रसन्नता के साथ मुझे हुए कि उसकी यह नश्वर देह किसी की प्राण रक्षा में सहायक हो गया—वह स्वयं ही उस दूसरे पलड़े में बैठने को तत्पर हो गया। तभी एक कौतुक हुआ। एक देव वहाँ प्रकट हो गया और अब वहाँ न राजा के तन का कटा हुआ मांस था न बाज न कबूतर। राजा भी स्वस्थ-तन हो गया था। उस देव ने राजा से क्षमायाचनापूर्वक निवेदन किया कि मैं इन्द्र की सभा में आया हूँ। वहाँ इन्द्र आपकी करुणा भावना और शरणागत वत्सलता की अतिशय प्रशंसा कर रहे थे। उनकी उक्ति में मुझे विश्वास नहीं हुआ और आपकी परीक्षा करने को मैं स्वयं ही पक्षी पर आया। मार्ग में यह बाज मिल गया था। मन ही उसके शरीर में प्रवेश कर यह सारी लीला की। देव ने कहा कि महाराज आप धन्य हैं। मेरा सारा सन्देह मिट गया है। आपके विषय में इन्द्र से जो कुछ सुना मैंने आपको वैसा ही पाया।

अपने अवधिज्ञान की सहायता से राजा मेघरथ ने पूर्ववृत्तान्त ज्ञात कर प्रकट किया कि एक व्यवसायी के दो पुत्र जब व्यवसायार्थ विदेश गये, तो वहाँ किसी रत्न को लेकर दोनों में संघर्ष हुआ। संघर्ष में दोनों मारे गये और आगामी जन्म में वे कबूतर और बाज बने। इस प्रकार राजा ने यह भी बताया कि यह देव अपने पूर्वभव में दमतारि नामक प्रतिवासुदेव था और मैं अपने पूर्वभव में अपराजित बलदेव था। मेरा अनुज दृढ़रथ भी उस भव में मेरा अनुज वासुदेव था। दमतारि की कन्या कनकश्री के लिए हम दोनों भाइयों ने दमतारि से युद्ध किया था और वह हमारे हाथों मारा गया। अपने आगामी जन्मों में से किसी में दमतारि ने तप किया और परिणामस्वरूप वह देव बना। पूर्वभव के वैमनस्य के कारण ही दमतारि (देव) इन्द्र के मुख से की गयी मेरी प्रशंसा का सहन नहीं कर सका था।

अपने पूर्वभव विषयक वृत्तान्त को सुनकर बाज व कबूतर को जातिस्मरण ज्ञान हुआ। वे राजा मेघरथ से आत्म कल्याण का मार्ग बताने की प्रार्थना करने लगे। राजा से प्राप्त अनशन व्रत पालन कर दोनों पक्षियों ने देवयोनि प्राप्त की।

इस धर्मप्रिय राजा मेघरथ का विरक्तिभाव यथासमय अति प्रबल हुआ और उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। अपने कठोर तप और साधना के बल पर मुनि मेघरथ ने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित और किया मरणोपरान्त सर्वार्थसिद्ध महाविमान में

देव बना। स्वर्गसुख की अवधि समाप्त होने पर मेघरथ का जीव भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को भरणी नक्षत्र मे सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवकर हस्तिनापुर के नरेश विश्वसेन की रानी अचिरा के गर्भ मे स्थित हुआ। रानी ने यथासमय ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र म ही एक अत्यन्त तेजवान पुत्र को जन्म दिया। तत्काल समस्त लोकों में तीर्थंकर जन्म-सूचक आलोक व्याप्त हो गया। रानी जब गर्भवती थी तो इस देश में भयंकर महामारी फैली हुई थी। कोई भी प्रयत्न इसका उन्मूलन नहीं कर पा रहा था। भगवान के गर्भस्थ होते ही सारे देश म शान्ति हो गयी थी। रानी ने उच्च प्रासाद पर चढ़कर चारों ओर दृष्टि डाली। जिधर जिधर उसकी दृष्टि पड़ती गयी उधर-उधर से महामारी समाप्त होती चली गयी। भगवान के इस अद्भुत प्रभाव के कारण नवजात शिशु का नाम शान्तिनाथ रखा गया। राजकुमार १००८ गुणों से युक्त अत्यन्त सुन्दर और कुन्दन वत् वर्ण वाला था।

अपने यौवन म राजकुमार शान्तिनाथ अत्यन्त बलवान और प्रचण्ड पराक्रमी था। पिता विश्वसेन अपनी वृद्धावस्था म युवराज का राज्याभिषेक कर स्वय आत्म कल्याण में प्रवृत्त हो गया था। नृपति के रूप मे भी शान्तिनाथ कुशल सिद्ध हुआ और उसके पराक्रम के प्रभाव से कोई राजा उससे वमनस्य रखने का साहस नही कर पाता था। कुछ कालोपरान्त राजा की आयुधशाला मे चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई जो राजा के लिए इस निर्देश की सूचना थी कि अब उसे चक्रवर्ती बनने का उद्यम करना चाहिए। और वस्तुत राजा शान्तिनाथ ने अपने शौर्य और पराक्रम के बल पर आसिन्धु व्याप्त समस्त राज्यो को पराजित कर अपने अधीन कर लिया और वह चक्रवर्ती सम्राट के गौरव स विभूषित हो गया।

जब भोगफलदायी कर्म अशेष हुए तो राजा शान्तिनाथ के मन मे विरक्ति जागत हुई और वह सयम ग्रहण करने को लालायित होन लगा। मर्यादानुसार लोकान्तिक देवों ने धर्मतीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की और राजा वर्षीदान म प्रवृत्त हुआ। इसके सम्पन्न होने पर अभिनिष्क्रमण कर राजा शान्तिनाथ न दीक्षा ग्रहण कर ली और उन्हें तुरन्त ही मनःपर्यवज्ञान का लाभ हो गया। मन्दिरपुरनरेश सुमित्र के यहाँ उनका पारणा सम्पन्न हुआ। दीक्षोपरान्त एक वर्ष तक मुनि शान्तिनाथ अनेक परीषहों को समभाव से सहन करते हुए जनपद मे विचरण करते रहे साधना और कठोर तप करते रहे। अन्तत व पुन हस्तिनापुर के सहस्राम्रवन म पहुच और नन्दी वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न हो गये। शुक्लध्यान की द्वितीय अवस्था में पहुचकर मुनि शान्तिनाथ ने समस्त घातिक कर्मों का विनाश कर केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति कर ली।

केवली भगवान शान्तिनाथ ने अपनी प्रथम देशना स असख्य जन को प्रति बोधित किया। अपनी सुधोपम अमृतवाणी मे भगवान ने [illegible] की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा कि [illegible] में

जिसमें म श्री प्राप्ति संभव है। भग आचार्य प्रवर के बिना मानव जीवन व्यर्थ रह जाता है। भगवान ने कहा कि ऐसे व्यक्ति का जीवन बकरी के गले के स्तन भांति व्यर्थ है। भगवान ने आत्मा के उत्थान को ही श्रेयस्कर बताया और इ दिशा म व्यस्त रहने की प्रेरणा दी। सुख दुःख का तात्विक विवेचन करते हुए भगवा ने अज्ञान को दुःख का कारण और भय एवं कष्ट को उसका परिणाम बताय अज्ञान और मोह को पराजित करने वाला ही दुःख से निवृत्त होकर चिर शांति लाभ कर सकता है—भगवान ने अपनी देशना में यह विशिष्ट सन्देश भी दिया भगवान के उद्बोधक मधुरदेशों का उपस्थित जन समुदाय पर अमित प्रभाव हुआ और उनमें से अनेक ने तत्काल ही दीक्षा ग्रहण कर ली। हस्तिनापुरनरेश चक्रायु का नाम ऐसे धर्मप्रिय जनों में विशेष उल्लेखनीय है। इनके साथ ३२ अन्य राजा भी दीक्षित हुए थे।

केवली पर्याय का एक दीर्घ अवधि भगवान ने जनपद म विचरण करते हुए व्यतीत की। इस दौरान अगणित नर नारियों को उन्होंने आत्म-कल्याण का मार्ग बताया और उस पर चलने की प्रेरणा भी किया। भगवान का परिनिर्वाण सम्मेद शिखर पर ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र म हुआ और वे सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये।

धर्म परिवार

गणधर	९०
केवली	४३००
मन पर्यवज्ञानी	४ ०००
अवधिज्ञानी	३,०००
चौदहपूर्वधारी	८००
वक्रियलब्धिधारी	६ ०००
वादी	२ ४००
साधु	६२ ०००
साध्वी	६१,६००
श्रावक	२ ९० ०००
श्राविका	३ ९३ ०००

सत्रहवें तीर्थंकर भगवान कुन्थुनाथ

कुरुक्षेत्र के हस्तिनापुर के ही राजघराने में सत्रहवें तीर्थंकर भगवान कुन्थुनाथ का जन्म हुआ था। हस्तिनापुरनरेश महाराज शूरसेन भगवान कुन्थुनाथ के पिता थे और भगवान की माता का नाम रानी श्रीदेवी था। भगवान का जन्म वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को कृत्तिका नक्षत्र में हुआ था। भगवान अपने पूर्वभव में बत्ती महाविदेह(क्षेत्र) राज्य के नरेश सिंहावह थे सिंहावह महाराज स्वयं तो धर्माचारी थे ही

जनता को भी धर्मचारी बनने को प्रेरित करते रहते थे। स्वभाव से वे विरक्त और अनासक्त थे। सांसारिक विषयों के मध्य वे कमलवत् निर्लिप्त रूप में रहे। यथा समय महाराज ने दीक्षा ग्रहण की और कठोर तप तथा साधना की। समाधिपूर्वक कालकर मुनि सिंहावह ने सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देव स्थिति प्राप्त की। स्वर्गावधि के समापन पर मुनि सिंहावह का जीव सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवकर रानी श्रीदेवी के गर्भ में श्रावण कृष्णा नवमी को कृत्तिका नक्षत्र में स्थित हो गया था। उसी रात्रि में रानी ने १४ शुभ स्वप्न भी देखे जो इस तथ्य का संकेत करते थे कि रानी तीर्थंकर को जन्म देने वाली है। गर्भवती रानी ने कुन्थु नामक रत्नों की विशाल राशि देखी थी। इस आधार पर राजकुमार का नाम कुन्थुकुमार रखा गया था।

युवराज कुन्थुकुमार का व्यक्तित्व अति भव्य एवं प्रभावपूर्ण था। सौन्दर्य और यौवन के मूर्त रूप कुन्थुकुमार की बलिष्ठ देह ३५ धनुष ऊंची थी। सुन्दर राजकुमारियों के साथ उनका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। उनका दाम्पत्य जीवन भी बड़ा सुखमय रहा। सिंहासनारूढ़ होकर भगवान ने स्वयं का एक कुशल शासक सिद्ध किया। वे अद्वितीय पराक्रमी नरेश थे। उनके शस्त्रागार में भी चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई थी और नरेश चक्रवर्ती सम्राट बने। पर्याप्त समय तक उन्हें इस निमित्त सघन युद्ध करने पड़े। राजा कुन्थुनाथ सहस्रों नरेशों के अधिराज चौदह रत्नों तथा नव निधियों के स्वामी हो गये थे। राजा के भोगकर्म जब समाप्ति पर आये तो उनके मन में अनासक्ति का भाव गहराने लगा और वे दीक्षा ग्रहण करने को लालायित होने लगे। लोकान्तिक देवों ने भी इसी समय उनसे धर्मतीर्थ प्रवर्तन की प्रार्थना की। वर्षीदानादि सम्पन्न कर कुन्थुनाथ ने गृह त्यागकर अभिनिष्क्रमण किया। वैशाख कृष्णा पंचमी को कृत्तिका नक्षत्र में उन्होंने सहस्राम्रवन में पंचमुष्टि लोच किया और षष्ठ भक्त तप के साथ चारित्र स्वीकार कर लिया। इस समय मुनि कुन्थुनाथ को मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति हो गयी थी। भगवान का प्रथम पारणा चक्रपुरनरेश व्याघ्रसिंह के यहाँ सम्पन्न हुआ। तत्पश्चात छद्मस्थ दशा में भगवान १६ वर्ष तक निरन्तर विहार करते रहे। यह अवधि भगवान ने कठोर तप और साधना में व्यतीत की और समत्व के साथ वे कठिन परीषहों को सहन करते रहे। अन्ततः भगवान हस्तिनापुर के उसी सहस्राम्रवन में पधारे और तिलक वृक्ष के तले उन्होंने षष्ठ भक्त तप के साथ कायोत्सर्ग किया। शुक्लध्यान में लीन होकर वे क्षपक श्रेणी में आरूढ़ हुए और घातिक कर्मों को नष्ट कर उन्होंने केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। चैत्र शुक्ला तृतीया को कृत्तिका नक्षत्र में भगवान केवली हो गये थे।

सहस्राम्रवन में ही भगवान का समवसरण रचा गया और विशाल जन समुदाय को भगवान ने प्रथम देशना प्रदान की। भगवान ने संयम और चारित्रधर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया और धर्म के मूल का विवेचन करते हुए कहा कि

महाबल व्यक्त रूप में तो अपने मित्रों जैसी साधना ही करते रहे किन्तु गुप्त रूप में अतिरिक्त साधना पृथक से भी करते रहे। इस छल के कारण उन्होंने स्त्रीवेद का बंध कर लिया। मरणोपरान्त मुनि महाबल का जीव अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र बना।

नियत अवधि की समाप्ति पर मुनि महाबल का जीव अनुत्तर विमान से च्यवित होकर मिथिलापुरी की रानी प्रभावतीदेवी के गर्भ में स्थिर हुआ। उसी रात्रि में रानी ने तीर्थंकरों की माता के योग्य १४ दिव्य स्वप्नों का दर्शन किया। राजा कुम्भ ने जब स्वप्नफलद्रष्टाओं से रानी के स्वप्नों की चर्चा की तो ज्ञात हुआ कि महारानी प्रभावतीदेवी महान सन्तान की जननी बनेगी। इससे रानी अत्यन्त उल्लसित हुई और वह धार्मिक प्रवृत्तियों में अधिकाधिक मन लगाने लगी। मृगशिर शुक्ला एकादशी को अश्विनी नक्षत्र में रानी ने एक अलौकिक रूपवती कन्या को जन्म दिया। माता को गर्भावधि में दोहद हुआ था कि उन स्त्रियों का अहोभाग्य है जो पचवर्णीय पुष्प शय्या पर शयन करती हैं और चम्पा, गुलाब आदि पुष्पों की सुगन्ध का आनन्द लेती हुई विचरती हैं। राजा कुम्भ ने रानी के इस दोहद का पूर्ण किया था। रानी के पुष्प सम्बन्धी दोहद में माल्य शय्या की प्रमुखता थी। इस कारण राज कन्या का नाम मल्ली रखा गया। ये ही स्त्रीरूप में उत्पन्न उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान मल्लिनाथ हुए।

नृपकन्या का अनुपम रूप आयु के साथ-साथ विकसित होता गया। वह कोमलांगी शोभा की अपार कोष थी। सर्वत्र उसके लावण्य की ख्याति पुष्पगन्ध की भाँति प्रसारित हो गयी और उसके रूप सौरभ से अनेक नृप भ्रमर अधीर हो उठे थे। अनेक राजा उसको प्राप्त करने की लालसा पालने लगे। रमणी राजकुमारी में तो रूप के साथ-साथ शील और विनय भी था किन्तु अपनी असाधारण सुन्दर पुत्री के कारण पिता नृपति कुम्भ को अतिशय दर्प था। इस दर्प ने उन्हें दुर्विनीत बना दिया। यह स्वाभाविक ही था कि विभिन्न राजा राजकुमारों के परिणय प्रस्ताव नरेश कुम्भ के पास आते। पिता कुम्भ को ये राजा अपनी पुत्री के समक्ष तुच्छ प्रतीत होते थे। वह प्रस्तावों को अस्वीकृत ही नहीं करता अपितु प्रस्तावकों का अपमानित भी कर देता था। इस कारण तत्कालीन अनेक नरेश महाराज कुम्भ से अप्रसन्न थे और उससे प्रतिशोध लेने को आतुर थे। इनमें प्रमुखतः उल्लेखनीय थे—चम्पानरेश चन्द्रछाया श्रावस्तीनरेश रुक्मी वाराणसीनरेश शंख हस्तिनापुरनरेश अदीनशत्रु, काम्पिल्यनरेश जितशत्रु और साकेतपुरनरेश प्रतिबुद्ध। ये छहों राजा अपनी निन्दा अपमान और भावना के कारण राजा कुम्भ के घोर शत्रु हो गये। ये सभी संगठित हो गये और उन्होंने संयुक्त रूप से आक्रमण कर दिया। मिथिला की शक्ति तो इतनी थी कि किसी एक राजा का सामना करने के लिए भी अपर्याप्त थी। राज्य पर घोर संकट छा गया। नरेश कुम्भ भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। उन्हें राज्य-रक्षा का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता था। धीर राजकुमारी मल्ली

राजकुमारी की भूमिका का प्रधान भाग आरम्भ हुआ। उसने सभी राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि क्या हो गया है आपको ? आप तो मेरी रूप-माधुरी पर मुग्ध व अतिशय आसक्त थे फिर मेरी ओर से मुँह मोड़कर क्यों खड़े हो गये आप ? राजाओं ने उत्तर दिया कि तुम्हारा रूप तो अब भी मोहक है हम उस पर प्राण न्योछावर करते हैं किन्तु यह भयंकर दुर्गन्ध असहनीय है। इससे हमारी रक्षा करो। यह नारकीय यातना अब सही नहीं जाती। कोई इस भवन से हमें बाहर निकाल दो उसका हम पर बड़ा उपकार होगा। मल्लीकुमारी ने स्पष्ट किया कि इस सुन्दर प्रतिमा में ही यह गंध आ रही है। प्रतिदिन एक-एक कौर इसमें डाला जाता है। वही भोज्य सामग्री सड़कर यह दुर्गन्ध दे रही है। मेरे जिस शरीर की सुन्दरता पर आप मोहित हैं, वह रक्त-मज्जादि से निर्मित है, नश्वर है। बाहर से यह मोहक किन्तु भीतर से अशुचि है घृण्य है मलिन है। इसके प्रति आसक्ति उचित नहीं। पवित्र अन्न तक इस शरीर के सम्पर्क से अपवित्र विकृत और और घृणा योग्य हो जाता है। इस शरीर की यथार्थता यही है। बाह्य सौन्दर्य तो छद्म है अवास्तविकता है। इस छद्म सौन्दर्य पर मोहित होना मात्र स्वयं को छलना है यह विवेकसम्मत कार्य नहीं कहा जा सकता। अपने पूर्वभव का ध्यान कर आप आत्म-कल्याण में क्यों नहीं लगते।

इस प्रबोधन से राजाओं की सोई आत्मा जाग उठी। उनके ज्ञान-चक्षु खुल गये। मोहगृह के द्वार उन्मुक्त हो गये और राजा बाहर निकल आये। वे मल्ली कुमारी का उपकार स्वीकार करने लगे कि उसने उन्हें नरक की यातना से बचा लिया। उन्होंने राजकुमारी से कल्याणकारी मार्ग बताने का निवेदन किया। राजकुमारी ने कहा कि मैं तो चारित्र स्वीकार करने का दृढ़ निश्चय कर चुकी हूँ। तुम मेरे पूर्वभव के मित्र और सहधर्मी रहे हो। आत्म-कल्याण के लिए तुम्हें भी विरक्त होकर इसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। छहों राजा संयम ग्रहण करने को तत्पर हो गये।

मल्लीकुमारी का निश्चय चारित्र स्वीकारने का था ही। लोकान्तिक देवों की धर्म प्रवर्तन करने की प्रार्थना से वह और भी प्रबल हो गया। वर्षीदान सम्पन्न कर भगवान मल्लिनाथ ने गृह त्यागकर जयन्त नामक शिविका पर आरूढ़ होकर निष्क्रमण किया और सहस्राम्रवन पहुँचे। मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को भगवान ने वहाँ ३०० स्त्रियों एवं १००० पुरुषों के साथ दीक्षा ग्रहण की। तुरन्त ही आपको मनःपर्यवज्ञान का लाभ भी हो गया। दीक्षा के पश्चात् सहस्राम्रवन में ही अशोक वृक्ष के तले आप ध्यानलीन हो गये। दीक्षा ग्रहण के दिन ही आपको केवलदर्शन-केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गयी—यह विशेष उल्लेखनीय प्रसंग है। केवलज्ञान से ही भगवान का प्रथम पारणा राजा विश्वसेन के यहाँ हुआ था।

केवली भगवान मल्लिनाथ का समवसरण रचा गया। अपनी प्रथम देशना

से ही भगवान ने अनेक भव्यजनों को आत्म कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ कर दिया। उनके पिता महाराजा कुम्भ और माता रानी प्रभादेवी ने भी श्रावकधर्म स्वीकार किया। विवाहाभिलाषी छहों राजाओं ने भी उसी अवसर पर मुनि दीक्षा ग्रहण की। आपने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भावतीर्थंकर का गौरव प्राप्त किया। तत्पश्चात निरन्तर विचरणशील रहकर भगवान ने असंख्यजनों को धर्मलाभ कराया। अन्तिम समय में भगवान ने संथारा लिया और चैत्र शुक्ला चतुर्थी की अर्द्ध रात्रि में भरणी नक्षत्र के शुभ योग में चार अघातिक कर्मों का क्षय कर आपने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। आप सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये।

धर्म परिवार

गणधर	२८
केवली	२,२००
मन पर्यवज्ञानी	१७५०
अवधिज्ञानी	२,२००
चौदहपूर्वधारी	६६८
वैक्रिय लब्धिधारी	२ ९००
वादी	१ ४००
साधु	४०,०००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	२ ०००
साध्वी	५५ ०००
श्रावक	१ ८३ ०००
श्राविका	३ ७० ०००

बीसवें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रत

मगध देश के अन्तर्गत राजगृह नगर के राजवंश में भगवान मुनिसुव्रत का जन्म हुआ था। राजगृह के नरेश महाराजा सुमित्र आपके पिता थे और महारानी पद्मावती आपकी माता का नाम था। पूर्वजन्मों के सुसंस्कारों का भव्य संकलन ही भगवान की महान उपलब्धियों का मूल आधार था। भगवान अपने पूर्वभव में चम्पा नगरी के नरेश महाराजा सुरश्रेष्ठ थे। यह नरेश इतिहास में अपनी धार्मिक प्रवृत्ति, दानशीलता पराक्रम एवं शौर्य के लिए ख्यातनाम है। सभी अन्य नरेशों ने महाराजा सुरश्रेष्ठ की अधीनता स्वीकार कर ली थी। विशाल साम्राज्य, अतुलित वैभव और अपार विलास का धनी था—यह चम्पानरेश। इसके जीवन में अभाव का सर्वथा अभाव था। एक समय चम्पानगरी में नन्दन मुनि का पदार्पण हुआ। आपके उपदेश से राजा का मन विराग से ओत प्रोत हो गया और उसने संयम ग्रहण करने का संकल्प

किया। भौतिक पदार्थों, तज्जनित सुखों सांसारिक नाता रिश्तों को यह असार मानने लगा। आत्म-कल्याण के उद्देश्य से गृह त्यागकर उसने संयम ग्रहण कर लिया। सुरश्रेष्ठ मुनि ने कठोर तप और साधनाएँ की। परिणामतः उन्हें तीर्थंकर नामकर्म अर्जित करने का सौभाग्य मिला। अन्ततः अनशन और समाधिपूर्वक काल कर वे अपराजित विमान मे अहमिन्द्र देव बने। स्वर्गावधि समाप्त होने पर मुनि सुरश्रेष्ठ का जीव अपराजित विमान से अवरोहित हुआ और रानी पद्मावती के गर्भ में स्थित हुआ। रानी ने इसी रात्रि में १४ दिव्य स्वप्न देखे। ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी को श्रवण नक्षत्र में रानी ने असाधारण तेजसम्पन्न पुत्र रत्न को जन्म दिया। भगवान जब माता के गर्भ में थे तो माता ने मुनियों की भाँति सम्यक रीति से व्रतों का पालन किया था। इस प्रभाव के आधार पर राज-पुत्र का नाम मुनिसुव्रतकुमार रखा गया।

अनन्त वैभव और सुख-साधनों मे राजकुमार का बाल्यकाल व्यतीत हुआ और एक शक्तिशाली तथा पराक्रमी युवक के रूप में उनका व्यक्तित्व निखर उठा। बल और सौन्दर्य उनकी विशेषताएं थी। गुणवती, सुन्दरी राजकन्याओं के साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ जिनमें प्रभावती को प्रमुख स्थान प्राप्त था। प्रभावती ने सुव्रत नामक पुत्र को जन्म दिया। यथोचित समय आने पर पिता राजा सुमित्र ने युवराज मुनिसुव्रत को राज्य भार सौंपकर संयम ग्रहण कर लिया था।

नरेश मुनिसुव्रत को अपनी इस नवीन भूमिका में भी पर्याप्त यश प्राप्ति हुई। उन्होंने अपनी सन्तान के समान स्नेह के साथ प्रजा का पालन किया और न्याय बुद्धि से ही शासन करते रहे। कालान्तर मे उन्हें ऐसा अनुभव होने लगा कि अब उनके भोगफलदायी कर्म समाप्ति पर आ गये हैं और उन्हें आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में उन्होंने संयम ग्रहण करने का सुनिश्चय कर लिया। तभी लोकांतिक देवो ने भी धर्मतीर्थ प्रवर्तन करने की प्रार्थना की। इससे नृपति के मन का भाव प्रबलतर हो गया। उन्होंने अपने संकल्प को प्रकट किया और पुत्र सुव्रत को को राज्यासन सौंपकर दानकर्म में प्रवृत्त हो गये। एक वर्ष तक उदारतापूर्वक दान करने के बाद उन्होंने गृह त्यागकर अभिनिष्क्रमण किया और अपराजिता नामक शिविका में आरूढ़ होकर आप नीलगुहा नामक उद्यान में पहुँचे। वहाँ सांसारिक विभूति के शेष चिन्ह वस्त्रालंकारों का भी आपने त्याग कर दिया। षष्ठ भक्त तप मे दीक्षा ग्रहण कर वे यथार्थ में मुनिसुव्रत हो गये। भगवान की दीक्षा ग्रहण तिथि फाल्गुन शुक्ला द्वादशी थी और वह शुभ योग था श्रवण नक्षत्र का। चारित्र ग्रहण करते ही भगवान मुनिसुव्रत को मन:पर्यवज्ञान का लाभ भी हो गया था। राजा ब्रह्मदत्त के यहाँ क्षीरान्न से प्रभु का प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ।

पारणापरान्त भगवान ने बहुविध कठिन परीषहों को समभावपूर्वक सहन करते हुए ग्रामानुग्राम विहार किया और अनेक बाह्य एवं आन्तरिक तपों तथा साधनाओं में लगे रहे। ग्यारह माह के पश्चात् भगवान अपने दीक्षास्थल पर ही

लौट आये और चम्पावृक्ष के नीचे ध्यानलीन हो गये। शुक्लध्यान की द्वितीय अवस्था में पहुंचकर भगवान ने घातिक कर्मों का क्षय कर दिया और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। विशाल समवसरण में केवली भगवान मुनिसुव्रत ने अपनी प्रथम धर्मदेशना में श्रावकधर्म एवं मुनिधर्म का सविस्तार विवेचन किया। भगवान के उपदेशों से प्रतिबोधित हो अनेक जनों ने श्रावकधर्म और सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया। अनेक जन दीक्षित भी हो गये।

कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् भगवान ने जन जन का आत्म-कल्याण हेतु प्रेरित करने के उद्देश्य से एक विशाल अभियान चलाया। इस प्रयोजन से भगवान ने व्यापक भू भाग में निरंतर विहार किया और परमार्थ में सदा सन्नद्ध रहे। अन्तिम समय की समीपता का अनुभव कर भगवान ने सम्मेत शिखर पर पदार्पण किया जहाँ एक हजार मुनियों के साथ आपने अनशन आरम्भ किया। ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को श्रवण नक्षत्र में भगवान ने सकल कर्मों का क्षय कर दिया और निर्वाण पद प्राप्त किया। भगवान सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

धर्म परिवार

गणधर	१८
केवली	१ ८००
मन पर्यवज्ञानी	१ ५००
अवधिज्ञानी	१,८००
चौदहपूर्वधारी	५००
वैक्रियलब्धिधारी	२ ०००
वादी	१ २००
साधु	३० ०००
साध्वी	५० ०००
श्रावक	१ ७२ ०००
श्राविका	३ ५० ०००

इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान नमिनाथ

भगवान मुनिसुव्रत स्वामी के पश्चात् तीर्थंकर परम्परा में इक्कीसवाँ स्थान भगवान नमिनाथ का है। इन दोनों के मध्य लगभग ६ लाख वर्ष का अन्तराल माना जाता है। भगवान नमिनाथ का जन्म मिथिलानगरी में हुआ था। मिथिलाधिप महाराजा विजयसेन भगवान के पिता थे और भगवान की माता का नाम महारानी वप्रादेवी था।

पश्चिम विदेह म कौशाम्बी नगरी थी। किसी समय यहाँ पर राजा सिद्धार्थ का शासन था। भगवान नमिनाथ का पूर्वभव इसी राजा के रूप में था। राजा सिद्धार्थ अत्यन्त दयालु और प्रजाप्रिय था। प्रजा पालनादि के कार्य वह कर्तव्यवश ही सम्पन्न करता था अन्यथा वह मानसिक रूप से तो सर्वथा अनासक्त और वीतराग था। आत्मकल्याण उसका सबसे बड़ी साध थी। अन्तत उसने सुदर्शन मुनि से संयम ग्रहण कर लिया और साधना में प्रवृत्त हो गया। दृढ़ साधनाओं के परिणाम स्वरूप उसने तीर्थंकर नामकर्म अर्जित कर लिया और समाधिपूर्वक देह त्यागकर उसका जीव अपराजित विमान में ३३ सागर की आयु वाला देव बना। सिद्धार्थ मुनि का जीव अपराजित विमान का आयुष्य पूर्णकर आश्विन शुक्ला पूर्णिमा (शरद् पूर्णिमा) की रात्रि को मिथिला की रानी वप्रादेवी के गर्भ में स्थिर हुआ था। रानी ने १४ दिव्य स्वप्नों का दर्शन किया। यथासमय श्रावण कृष्णा अष्टमी को अश्विनी नक्षत्र में रानी ने नीलकमल की आभा वाले असाधारण लक्षणयुक्त पुत्र रत्न को जन्म दिया। भगवान के नामकरण के सम्बन्ध में भी एक प्रसंग प्रचलित है। भगवान जब माता के गर्भ में थे मिथिला पर शत्रुओं का आक्रमण हुआ था। शत्रु सैन्य ने राज्य को सभी ओर से घेर लिया। राज्य में त्राहि त्राहि मच गई। भय और आतंक का वातावरण ही चारों ओर दिखाई देता था। गर्भवती रानी राजप्रासाद के उच्च भाग पर पहुँची और उसने चारों ओर दृष्टि डाली। कहा जाता है कि जिधर जिधर उसकी दृष्टि जाती रही वहाँ की सेना नम्र होकर झुक गया। भगवान के इस प्रभाव के आधार पर उनका नाम नमिनाथ रखा गया था।

अपार सुख सुविधाओं के वातावरण में युवराज नमिनाथ का बाल्यकाल व्यतीत होता रहा। यौवन मे पदार्पण करने पर कुमार में शक्ति शौर्य साहस प्रबुद्धता रूपाकर्षण आदि सभी पौरुष गुण विद्यमान हो गये। अनेक राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण कर कुमार ने सुखद गृहस्थ जीवन भी भोगा और पिता के संयम ग्रहण कर लेने पर राजा होकर नमिनाथ ने कुशल शासक होने का परिचय भी दिया। नरेश नमिनाथ ने स्नेहपूर्वक प्रजा का पालन किया। उनके स्वभाव का एक स्थायी तत्त्व चिन्तनशीलता था जो आयु के साथ साथ सबल होता गया था। वस्तुत उनका बाह्य जीवन जगत और जगत के विषयों के मध्य अवश्य था किन्तु उनसे सर्वथा निर्लिप्त भी था। विषयों के साथ उनका लगाव कभी नहीं रहा। वे सदा आत्म कल्याण की दिशा में ही मनन करते रहते थे। इस क्रम की प्रबलतर श्रेणी जब आयी तो नरेश नमिनाथ के मन में संयम ग्रहण करने की कामना जाग उठी। उसी समय लोकान्तिक देवों ने भी उनसे धर्मतीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की। राजा को इससे अपनी कामना का औचित्य प्रतीत हुआ और वे इस दिशा में सक्रिय हो गये। राजा अपने पुत्र सुप्रभ को राज्यासन सौंपकर स्वयं वर्षीदान में प्रवृत्त हो गये। एक वर्ष पर्यन्त मुक्तहस्ततापूर्वक दान करने के पश्चात् राजा नमिनाथ ने गृह त्यागकर

अभिनिष्क्रमण किया और आषाढ़ शुक्ला नवमी को सहस्राम्रवन में दीक्षा ग्रहण की। मुनि नमिनाथ का प्रथम पारणा वीरपुर के राजा दत्त के यहाँ सम्पन्न हुआ। केवल नौ माह की संक्षिप्त साधना अवधि के उपरान्त ही मुनि नमिनाथ को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी थी। इस अवधि में भगवान छद्मस्थावस्था में जनपद में विहार करते रहे और अनेक तप तथा साधनाओं में लीन रहे। इस दौरान भगवान ने कठिन परीषहों को धैर्य के साथ सहन किया। ९ माह पश्चात भगवान पुनः अपने दीक्षा स्थल पर पहुँचे। वहाँ एक मौलसरी वृक्ष के तले आप ध्यानस्थ हो गये। शुक्लध्यान के द्वितीय चरण में पहुँचकर भगवान ने सकल घातिक कर्मों को नष्ट कर दिया और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया।

केवली प्रभु नमिनाथ के समवसरण का आयोजन विशाल पैमाने पर किया गया। भगवान ने अपनी प्रथम धर्मदेशना में अनगारधर्म और आगारधर्म का सूक्ष्म और मर्मस्पर्शी विवेचन किया। प्रतिबोधित होकर अनेक जनों ने अनगारधर्म स्वीकार कर लिया और संयम ग्रहण किया। इसी तरह अनेक जन आगारधर्म स्वीकार कर श्रावक भी बने। भगवान ने चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना की और तीर्थंकर के गौरव से विभूषित हो गये। इसके पश्चात भी भगवान सुदीर्घ काल तक जनपद में विहार करते रहे और व्यापक स्तर पर जन कल्याण में व्यस्त रहे। अपने जीवन के अन्तिम समय में भगवान सम्मेत शिखर पर पधार गये और एक माह के अनशन व्रत द्वारा अयोगी और शैलेशी अवस्था प्राप्त की। इस प्रकार भगवान को निर्वाण पद प्राप्त हुआ और वे सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये।

धर्म परिवार

गणधर	१७
केवली	१ ६००
मन पर्यवज्ञानी	१ २०८
अवधिज्ञानी	१ ६००
चौदहपूर्वधारी	४५०
वैक्रियलब्धिधारी	५ ०००
वादी	१ ०००
साधु	२० ०००
साध्वी	४१ ०००
श्रावक	१ ७० ०००
श्राविका	३ ४८ ०००

बाईसवें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि

इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान नमिनाथ के अनन्तर इस परम्परा में हुए भगवान अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर हैं जो भगवान नेमिनाथ के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। भगवान करुणा भावना के साक्षात् अवतार थे। पर दुःख निवारण भगवान की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों में से एक थी और उसके लिए वे सर्वस्व-त्याग के लिए भी सदा प्रस्तुत रहते थे। जन्म-जन्मान्तर से ही भगवान में ये सद्वृत्तियाँ थीं और उनका उत्तरोत्तर विकास होता चला गया था।

किसी समय यमुनातट पर शौर्यपुर नामक राज्य स्थित था। यहाँ के राजा समुद्रविजय और रानी शिवादेवी भगवान नेमिनाथ के अभिभावक थे। माता पिता और पुत्र का यह सम्बन्ध भी जन्म जन्मान्तरों से चला आ रहा था। ये तीनों जीव प्रत्येक पूर्वजन्म में परस्पर इसी नाते से सम्बद्ध रहे। इस विषय में यह वृत्तान्त भी प्रसिद्ध है कि अचलपुर नरेश विक्रमधन की रानी धारिणी ने एक रात्रि को स्वप्न में सरस फलों से लदा आम्र वृक्ष देखा और किसी व्यक्ति को उसने यह कहते भी सुना कि यह वृक्ष भिन्न भिन्न स्थानों पर नौ बार स्थापित होगा। इस असाधारण स्वप्न का फल जानने को सभी उत्सुक थे। सामुद्रिक ने यह तो बताया कि रानी किसी महापुरुष को जन्म देगी किन्तु स्वप्न के इस अंश का आशय स्पष्ट न हो सका कि वृक्ष नौ बार भिन्न भिन्न स्थानों पर स्थापित होगा। पर्याप्त कालक्षेप के पश्चात् नरेश विक्रमधन चतुर्विध ज्ञानी वसुंधर मुनि का व्याख्यान सुनने गये और वहाँ उन्होंने उस स्वप्नांश के विषय में अपनी जिज्ञासा प्रकट की। मुनिराज ने स्वप्न की विस्तृत व्याख्या करते हुए व्यक्त किया कि नरेश का यह राजकुमार एक के पश्चात् एक भव धारण करते हुए नौवें भव में तीर्थंकर बनेगा। ऐसा ही हुआ। इन्हीं माता पिता के घर में धनकुमार ने बार-बार जन्म लिया। माता-पिता और पुत्र तीनों के भव परिवर्तित होते रहे किन्तु प्रत्येक भव में सम्बन्ध यही रहा। अपने अन्तिम भव में धनकुमार का जीव ही भगवान अरिष्टनेमि के रूप में अवतरित हुआ। स्पष्ट है कि राजा विक्रमधन ही इस जन्म में महाराजा समुद्रविजय थे और रानी धारिणी का जीव ही रानी शिवादेवी के रूप में जन्मा था।

धनकुमार के जीव ने जिन ९ भवों को व्यतीत किया उनमें से एक भव में वे राजकुमार अपराजितकुमार के रूप में जन्मे। युवराज अपराजित शूर-वीर साहसी और पराक्रमी तो थे ही—करुणा सहानुभूति आदि में भी वे पीछे नहीं थे। दीन दुखियों की सेवा करना, उनकी रक्षा करना—युवराज के स्वभाव का एक स्थायी भाव था। वे निरन्तर विचरणशील रहा करते और जहाँ सहायता का पात्र कोई व्यक्ति मिलता वे उसकी सेवा में लग जाते थे। इस विषय में अपराजितकुमार के जीवन का एक प्रसंग प्रसिद्ध है। वन-विहार के समय एक बार एक भयभीत राज-पुरुष व्यक्ति उनकी शरण में आया। वह किसी अन्य राज्य का अपराधी था और वहाँ की सेना

थी। जीवन और जगत् के तत्त्वों पर गम्भीर चिन्तन द्वारा सिद्धान्तों का निरूपण होने लगा था और इस प्रकार पराविद्या का स्वरूप निरूपित होने लगा था। कर्मकाण्ड विषयक अपराविद्या' का प्रभाव घटता जा रहा था। तत्कालीन बलि प्रथा को भी भगवान ने मिथ्याचार घोषित करते हुए इसका विरोध किया और अहिंसा को धर्म का मूल माना। परिणामतः बलि समर्थकों का आप से तीव्र विरोध भी रहा। निश्चय ही जैनधर्म को बलवान बनाने में भगवान पार्श्वनाथ की महत्त्वपूर्ण और सामयिक भूमिका रही।

पूर्वभव—भगवान के पूर्वभव निम्नानुसार थे—

(१) मरुभूति और कमठ का भव	(६) वज्रनाभ का भव
(२) हाथी का भव	(७) ग्रैवेयक देवलोक का भव
(३) सहस्रार स्वर्गलोक का भव	(८) स्वर्णबाहु का भव
(४) किरणवेग विद्याधर का भव	(९) प्राणत देवलोक का भव
(५) अच्युत स्वर्गलोक का भव	(१०) भगवान पार्श्वनाथ का वर्तमान भव।

पोतनपुर के नरेश अरविन्द जैनधर्मानुयायी थे। इनके राजपुरोहित विश्वभूति थे, उनके दो पुत्र थे—कमठ (अग्रज) और मरुभूति (अनुज)। पिता के पश्चात् कमठ ने उनका कार्यभार संभाला और मरुभूति अनासक्त सा था। मरुभूति सरल मन का था, इसके विपरीत कमठ कामुक और दम्भी था। उसके अपनी अनुज वधू के साथ भी अनैतिक सम्बन्ध थे। जब मरुभूति ने राजा से इसकी शिकायत की तो कमठ को निष्कासित कर दिया गया। वन में जाकर कमठ घोर तपस्या करने लगा। अग्रज के कष्टमय वन जीवन के समाचार पाकर मरुभूति को हार्दिक दुःख हुआ और प्रेम मिलन के भाव सहित क्षमायाचनार्थ वह कमठ के पास पहुँचा। प्रतिशोध की अग्नि में जलता हुआ कमठ बड़ा कुपित हुआ। जब मरुभूति ने कमठ के चरणों में सिर झुका रखा था तभी भारी पत्थर के प्रहार से कमठ ने उसकी जीवन-लीला समाप्त कर दी। यह भगवान के पूर्वभवों में से प्रथम भव था जिसमें उनका जीव मरुभूति के रूप में था।

इसी क्रम में आठवें भव में भगवान राजा स्वर्णबाहु के रूप में थे। स्वर्णबाहु बड़े शक्तिशाली और पराक्रमी थे। उनके राज्य पुराणपुर में एक समय क्षेमंकर मुनि का आगमन हुआ। वैराग्य की महिमा पर चिन्तन करते-करते ही राजा स्वर्णबाहु को जातिस्मरण ज्ञान हो गया और उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि स्वर्णबाहु ने [illegible] की आराधना और कठोर तप किया। परिणामतः उन्हें तीर्थंकर नामकर्म की प्राप्ति हो गयी। मुनि स्वर्णबाहु एक बार किसी वन में विहार कर रहे थे। [illegible] कमठ इस समय सिंह के रूप में इसी वन में निवास करता था। मुनि को देखकर सिंह को पूर्वभव का वैर स्मरण हो आया और उसने मुनि स्वर्णबाहु पर आक्रमण किया। अन्तिम समय [illegible] मुनि ने [illegible] ही [illegible]

व्रत धारण कर लिया और तपस्यारत हो गये थे। सिंह के आक्रमण से मुनि की जीवन लीला समाप्त हो गयी और उनका जीव प्राणत देवलोक के महाप्रभ विमान में महर्द्धिक देव बना।

भगवान पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी के राजकुल के घर में हुआ था। वाराणसी के राजा इक्ष्वाकुवंशीय महाराजा अश्वसेन उनके पिता और महारानी वामादेवी उनकी माता थी। चैत्र कृष्णा चतुर्थी को विशाखा नक्षत्र में मुनि स्वर्ण बाहु का जीव महाप्रभ विमान से च्यवकर रानी वामादेवी के गर्भ में स्थित हुआ था। गर्भधारण की रात्रि में ही रानी ने १४ दिव्य और शुभ स्वप्नों का दर्शन भी किया। पौष कृष्णा दशमी को अनुराधा नक्षत्र में रानी वामादेवी ने अलौकिक तेजसम्पन्न पुत्ररत्न को जन्म दिया। नीलकमल की आभा और सर्पमुख चिह्न कुमार की विशेषताएँ थीं। जब कुमार गर्भ में थे एक रात को रानी ने राजा अश्वसेन के समीप (शय्या में) चल रहे सर्प को घने अंधेरे में भी देख लिया और राजा की प्राण रक्षा कर ली। इस प्रकार के प्रभाव के कारण महाराज ने राजकुमार का नाम पार्श्व नाथ रखा।

सहज वात्सल्य एवं स्नेहमय वातावरण में कुमार का लालन-पालन होने लगा। बाल्यकाल से ही उनमें चिन्तन-मनन की मौलिक प्रवृत्ति थी जो आयु के साथ साथ प्रबलतर होती गयी। प्रचलित मान्यताओं का वे विश्लेषण करते उनको तर्क की कसौटी पर कसते। इस कसौटी पर खरी न उतरने वाली मान्यताओं का वे निर्भीकता के साथ खण्डन भी करते थे। भगवान का युग मिथ्याचारों का ही युग था और वाराणसी ऐसे आडम्बरों का प्रमुख केन्द्र थी।

एक दिन पंचधूनी तपने वाला एक तापस नगर में आया। उसके अद्भुत तप से आकर्षित होकर अनेक जन उसके समीप एकत्रित रहा करते थे। युवराज भी वहाँ पहुँचे। उन्होंने देखा कि एक जलते हुए लक्कड़ में जीवित सर्प है। सर्प की प्राण हानि की आशंका से उनके हृदय में करुणा का उदय हुआ। ऐसी साधना-पद्धति के प्रति भी उनके मन में भर्त्सना का भाव जाग्रत हुआ जिसमें अहिंसा का ध्यान नहीं रखा जाता। कुमार ने तापस कमठ को भी ललकार कर कहा कि यह तप तुम्हें शुभ फल नहीं दे सकता। करुणारहित कोई धर्म हो ही नहीं सकता। उसे धर्म मानना अज्ञान है। ऐसा आडम्बर साधक का कल्याण नहीं कर सकता। जीवित प्राणियों को अग्नि में होम देना किसी भी धर्म में उपयुक्त नहीं हो सकता। तापस कमठ ने अपनी साधना का खण्डन सुना तो क्रुद्ध हो गया और दोनों में खूब वाद विवाद हुआ। अन्ततः सेवकों को आदेश देकर कुमार ने सर्प वाले लक्कड़ को बाहर खिंचवा लिया। अर्द्ध जला सर्प बाहर निकल आया जो मरणासन्न था। कुमार ने नवकार मंत्र सुनाया और सर्प को सद्गति प्राप्त हुई। तापस की इस करुणाहीनता पर जनता ने भी उसकी भर्त्सना की। कुमार ने उसे दयाधर्मपालन का उपदेश दिया तो

आयु मे कुमार पार्श्वनाथ ने संयम ग्रहण करने का अपना संकल्प व्यक्त किया। उन्हें अपने भोग-कर्मों के समाप्त होने का अनुभव भी होने लगा और आत्म-कल्याण में प्रवृत्त होने की अभिलाषा प्रबल होने लगी। तभी लोकान्तिक देवो ने उनसे धर्म तीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना भी की। पार्श्वनाथ ने वर्षीदान सम्पन्न कर गृह त्याग के साथ अभिनिष्क्रमण किया। विशाला नामक शिविका में आरूढ होकर आप आश्रमपद उद्यान पहुचे और वस्त्राभूषणो का त्यागकर ३०० अन्य राजाओ के साथ दीक्षा ग्रहण की। तुरंत ही आपको मन पर्यवज्ञान का लाभ हो गया। कोष्टक ग्राम मे धन्य नामक गृहस्थ के यहाँ भगवान का प्रथम पारणा हुआ।

तत्पश्चात भगवान अपने अजस्र विहार पर निकल पड़े। दीक्षोपरान्त भगवान ने यह अभिग्रह लिया था कि अपने साधनाकाल (८४ दिन) में मैं शरीर से ममत्व हटाकर सर्वथा समाधि अवस्था में रहूंगा। इस अवधि में जो भी उपसर्ग होगा उसे अचचल भाव से सहन करूगा। अपने अभिग्रहानुसार भगवान शिवपुरी नगर पधारे और कौशाम्बी वन मे ध्यानलीन होकर खड़े हो गये। भगवान के साधनाकाल मे अनेक प्रकार के उपसर्ग हुए। सध्या समय एक बार जब वे एक तापस-आश्रम के समीप वट वृक्ष तले कायोत्सर्ग कर ध्यानलीन खड़े थे कि मेघमाली असुर उधर आ निकला। कमठ का जीव ही मेघमाली के रूप मे जन्मा था। मेघमाली ने अपने ज्ञान से भगवान के साथ अपने पूर्वभव के वैर को ज्ञात कर लिया और प्रतिशोध का भाव उसके मन में प्रबल हो गया। माया से सिंह, भालू आदि हिंस्र प्राणियों का रूप धर कर उसने भगवान को आतंकित करना चाहा किन्तु वे यथावत् ही ध्यानलीन खड़े रहे। कुण्ठित होकर मेघमाली ने प्रचण्ड आँधी और घोर वर्षा द्वारा बाधा पहुँचाने का प्रयत्न किया किन्तु उसके हाथ फिर भी असफलता ही लगी। भगवान अब भी अडिग ध्यान में लीन रहे। मेघमाली की समस्त माया व्यर्थ हो गयी। अन्तत धरणेन्द्र की प्रेरणा से मेघमाली को अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। वह प्रभु चरणो मे क्षमायाचना करने लगा। प्रभु तो वीतरागी थे। उनके लिए न कोई शत्रु था न मित्र। अतः मेघमाली को भगवान ने आश्वस्त किया।

अपनी साधना एवं तप पूर्णकर भगवान दीक्षा के ८४वें दिन वाराणसी पधारे और अपने दीक्षास्थल—आश्रमपद उद्यान मे घातकी वृक्ष तले ध्यानस्थ खड़े हो गये। अष्टम तप के साथ शुक्लध्यान के द्वितीय चरण मे प्रभु ने घातिक कर्मों का क्षय कर दिया और उन्हें केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति हो गयी। भगवान के केवली होने का समय चैत्र कृष्णा चतुर्थी के विशाखा नक्षत्र का शुभ योग था—इसे सभी स्वीकार करते हैं किन्तु मतभेद का विषय यह है कि कुछ के मत मे यह तिथि वही थी जब कमठ द्वारा भयकर उपसर्ग उपस्थित किये गये थे जबकि अन्य जन इस से सहमत नहीं होते वे कैवल्य प्राप्ति को इसके अनन्तर मानते हैं। केवली भगवान

के विशाल समवसरण की रचना की गयी। समस्त राज-परिवार भी इसमें सम्मिलित हुआ। प्रभावती के नेत्रों से हर्षाश्रु प्रवाहित होने लगे। भगवान ने अपनी प्रथम धर्मदेशना में इन्द्रियों के दमन और सर्वकषायों पर विजय प्राप्त करने की महत्ता का प्रतिपादन किया। भगवान ने यह स्पष्ट किया कि आत्मा भी पूर्ण चन्द्रमा के समान है, किन्तु उसकी किरणें कर्मावरण में छिपी रहती हैं। ज्ञान और वैराग्य की साधना द्वारा इस आवरण को विदीर्ण किया जा सकता है। ऐसा करना प्रत्येक मनुष्य के लिए करणीय है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र का व्यवहार ही मनुष्य को उस आवरण से मुक्ति प्राप्त करने की समर्थता दे सकता है। धर्मसाधना ही कर्म बन्धनों को काट सकती है। धर्माराधना सभी के लिए अपेक्षित है और धर्महीनता से जीवन में महाशून्य निर्मित हो जाता है।

भगवान पार्श्वनाथ की इस अमोघ वाणी का उपस्थित जनसमुदाय पर गहरा प्रभाव हुआ। अनेक मनुष्यों ने समता क्षमा और शान्ति की साधना का व्रत लिया। महाराजा अश्वसेन ने तत्काल ही मुनिव्रत धारण किया। माता वामादेवी और पत्नी प्रभावती ने आहुती दीक्षा ग्रहण की। भगवान ने चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना की और भावतीथंकर की गरिमा से विभूषित हुए।

लगभग ७० वर्ष तक भगवान ने जन-कल्याणार्थ व्यापक विहार किया और आपकी अमृत वाणी से असंख्य जनों को सन्मार्ग का अनुसरणकर्ता बनाया। आपके धर्मशासन में १००० साधुओं और २००० साध्वियों ने सिद्धि का लाभ किया। भगवान को जब अपना निर्वाण-काल समीप अनुभव होने लगा तो आप सम्मेत शिखर पर पधार गये और अनशन व्रत ले लिया। शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण में पहुँचकर भगवान ने सकल कर्मों का क्षय कर दिया और इस प्रकार श्रावण शुक्ला अष्टमी को विशाखा नक्षत्र में प्रभु को निर्वाण पद की प्राप्ति हो गयी आप सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये।

धर्म परिवार

गणधर	१०
केवली	१०००
मनःपर्यवज्ञानी	७५०
अवधिज्ञानी	१४००
चौदहपूर्वधारी	३५०
वैक्रियलब्धिधारी	११००
वादी	६००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	१२००
साधु	१६०००
साध्वी	३८०००

श्रावक	१६४०००
श्राविका	३,२७ ००

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी

वर्तमान अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थंकरों की जिस परम्परा का आरंभ आदिनाथ भगवान ऋषभदेव से हुआ था उसके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी हुए। पूर्व तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के पश्चात् लगभग ढाई शताब्दी के अन्तराल से भगवान महावीर का प्रादुर्भाव हुआ। वह समय ईसापूर्व छठी शताब्दी का था। अर्थात् आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व भगवान ने दिग्भ्रान्त मानवता को कल्याण का मार्ग बताया। २३वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के पश्चात् धर्मानुशासन में जो विशृंखलता और शिथिलता आ गयी थी भगवान महावीर ने उसको दूर किया और जैनधर्म को पुनः सशक्त रूप में स्थापित कर दिया तथा तत्कालीन युग के अनुरूप बना दिया। भगवान की यह धर्म-उन्नयन की सफल भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि उन्हें जैनधर्म का संस्थापक ही कह दिया जाता है। भगवान ने धर्मसंघ की स्थापना कर तीर्थंकरत्व तो प्राप्त किया ही साथ ही वे लोकोपकारी मार्गदर्शक भी थे। इस दृष्टि से उन्हें यथार्थ ही में लोकनायक कहा जा सकता है।

लोकनायक के रूप में अपने युग का जितना संस्कार भगवान ने किया कदाचित् कोई अन्य महापुरुष किसी अन्य काल में उतना नहीं कर पाया। भगवान ने पिछड़ी अंध-परम्पराओं, मिथ्याचारों, पाखण्ड वर्णादि भेदभाव को भी दूर किया और समाज-सुधारक के पुनीत आसन पर सम्मानित हुए। साथ ही उच्च मानवीय आदर्शों—सत्य, अहिंसा, करुणा, प्रेम, बन्धुत्व, क्षमाशीलता आदि की पुनर्स्थापना की। आपने अखिल विश्व में साम्य, क्षमा, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि पावन सिद्धान्तों का प्रचार किया और विश्व-मानवता को एक नवीन और अनुकूल रूप प्रदान किया।

पूर्वभव

जनधर्मानुसार आत्माएँ अनेक स्तर की न होकर सभी एक समान ही होती हैं। सभी आत्माओं के लिए समान रूप से परमात्मा बनने की संभावना रहती है। आवश्यकता उनके उत्थान की ही है। आत्मा की उपलब्धियों के आधार पर ही उसे यह गौरव मिलता है और ये उपलब्धियाँ किसी एक ही जन्म के संस्कारों और शुभकर्मों से नहीं अपितु जन्म जन्मान्तर के संस्कारों के परिणामस्वरूप प्राप्त होती हैं। भगवान महावीर के साथ भी जन्म-जन्म के संस्कारों का समुच्चय था। भगवान का जीव जब अनेक पूर्वभवों के पूर्व नयसार के रूप में था तब भी उसमें श्रेष्ठ संस्कार अंकुरित थे।

नयसार एक राजा का सेवक था। यह राजा महाविदेहस्थित जयन्ती नगरी का शासक था। नयसार विनम्र, दयालु और स्वामिभक्त सेवक था। एक बार जब

वह वन में लकड़ी काटने गया और वहाँ मध्याह्न समय भोजन करने को बैठने ही वाला था कि उसे एक मुनि के दर्शन हुए। मुनि भूखे प्यासे और थकित प्रतीत हो रहे थे। नयसार ने उनकी सेवा की आहार आदि का प्रतिलाभ लिया और फिर उन्हें इच्छित स्थान तक पहुँचा आया। मुनि ने उसे धर्मोपदेश दिया और उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। नयसार सम्यक्धर्म का निर्वाह करते हुए आजीवन मुनिजन की सेवा करता रहा। अपने दूसरे भव में नयसार का जीव सौधर्म देवलोक में देव और तीसरे भव में मरीचि बना। भगवान ऋषभदेव (प्रथम तीर्थंकर) के पुत्र भरत का पुत्र मरीचि था जिसके विषय में भगवान ने यह कथन किया था कि यह इसी अवसर्पिणी काल में तीर्थंकर बनेगा। महावीर स्वामी के रूप में मरीचि का जीव ही तीर्थंकर बना और इस प्रकार भगवान आदिनाथ की भविष्यवाणी सत्य घटित हुई।

नयसार का जीव अपने चौथे भव में ब्रह्मलोक का देव पाँचवें में कौशिक ब्राह्मण छठे में पुष्यमित्र ब्राह्मण सातवें में सौधर्म देव बना। इसी प्रकार नयसार के जीव की भव-यात्रा चलती रही और यह अपने आठवें भव में अग्निद्योत नौवें भव में द्वितीय कल्प का देव दसवें भव में अग्निभूति ब्राह्मण ग्यारहवें भव में सनत्कुमार देव बारहवें भव में भारद्वाज तेरहवें भव में माहेन्द्र कल्प का देव चौदहवें भव में स्थावर ब्राह्मण पन्द्रहवें भव में ब्रह्मकल्प का देव और सोलहवें भव में विश्वभूति बना। सांसारिक कपट आचरण देखकर विश्वभूति विरक्त हो गया था और मुनि-जीवन में उसने कठोर तप किया। अपने सत्रहवें भव में नयसार का जीव महाशुक्र स्वर्गलोक में देव बना और अठारहवें भव में उसने त्रिपृष्ठ के रूप में जन्म लिया। त्रिपृष्ठ महाराज प्रजापति का पराक्रमी राजकुमार था और इस युग का प्रथम वासुदेव था। इस समय राजा अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव था। त्रिपृष्ठ पराक्रमी होने के साथ-साथ करुणाहीन एवं क्रूरकर्मी भी था। अतः उसने निकाचित कर्मबंध कर लिया और इस प्रकार नयसार का १९वाँ भव सप्तम नरक में नेरइया के रूप में हुआ। यही जीव २०वें भव में सिंह २१वें भव में चतुर्थ नरक का नेरइया और २२वें भव में प्रियमित्र (पोट्टिल) चक्रवर्ती बना। प्रियमित्र ने संयम ग्रहण कर लम्बी तपस्याएँ की और परिणामस्वरूप नयसार का जीव अपने २३वें भव में महाशुक्र कल्प में देव बना। यही जीव अपने २४वें भव में राजा नन्द के रूप में रहा। जिसने तीर्थंकर गोत्र का बंध किया और कालोपरान्त प्राणत स्वर्ग में देव बना। यह नयसार के जीव का २५वाँ भव था। प्राणत स्वर्ग से च्यवकर वह ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में स्थित हुआ। यह नयसार के जीव का २६वाँ भव माना जाता है और इस गर्भ से निकालकर उसे रानी त्रिशला के गर्भ में स्थापित किया गया। यह नयसार के जीव का २७वाँ भव था जो भगवान महावीर स्वामी के रूप में रहा।

ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में ऋषभदत्त नामक ब्राह्मण रहा करता था जिसकी पत्नी का नाम देवानन्दा था। राजा नन्द का जीव स्वर्गावधि की समाप्ति पर आषाढ़

[शुक्]ला ६ को उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में, प्राणत स्वर्ग से च्यवकर देवानन्दा के गर्भ में [अवत]रित हुआ। उस रात्रि में उसने भी १४ दिव्य स्वप्न देखे। स्वप्न फल ज्ञात होने पर [कि त्रि]लोकपूज्य और प्रतापी पुत्र की प्राप्ति होने वाली है—पति-पत्नी अत्यन्त हर्षित हुए। भावी तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के एक ब्राह्मणी के गर्भ में स्थित होने से इन्द्र को आश्चर्य हुआ, क्योंकि तीर्थंकरों के क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न होने की परम्परा है। अस्तु देवराज ने हरिणगमेषी देव को आदेश दिया कि भगवान के जीव को देवानन्दा के गर्भ से निकालकर रानी त्रिशला के गर्भ में स्थापित कर दिया जाय। यह साहरण क्रिया तुरन्त सम्पन्न कर ली गयी। रानी त्रिशला भी उस समय गर्भवती थी। दोनों माताओं के गर्भस्थ जीवों को परस्पर स्थानान्तरित कर दिया गया। देवानन्दा के गर्भ में भगवान ८२ रात्रियाँ व्यतीत कर अब तक तीन ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। उस रात्रि में देवानन्दा ने अनुभव किया कि जैसे पूर्व में देखे गये १४ स्वप्न उसके मुख के मार्ग से बाहर निकल गये हों। गर्भहरण की आशंका से वह बड़ी दुखित हुई। साहरण होने पर माता त्रिशला ने दिव्य स्वप्न देखे जिनके फल से सारे राज्य में प्रसन्नता छा गयी।

गर्भगत संकल्प—गर्भस्थ शिशु तनिक चपल और गतिशील रहा करता है। यह मानकर कि इस प्रकार की गतिशीलता से माता को कष्ट होता होगा—भगवान अचंचल हो गये। माता इस स्थिरता के कारण गर्भह्रास के अनुमान से चिन्तित हो गयी। माता की इस दशा के कारण भगवान ने अचंचलता का परित्याग कर दिया। अपने माता पिता का गर्भस्थ शिशु के प्रति भी इतना वात्सल्य देखकर गर्भ में ही भगवान ने संकल्प लिया कि मैं दीक्षा ग्रहण कर ऐसे मनोरम माता पिता को कष्ट नहीं पहुँचाऊँगा। उनके जीवनकाल में संयम ग्रहण नहीं करूँगा।

जन्म एवं नामकरण—नौ माह और सात दिन की गर्भावधि पूर्ण होने पर रानी त्रिशलादेवी ने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (तदनुसार ३० मार्च ५९९ ई. पू.) को उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में तेजवान पुत्ररत्न को जन्म दिया। जो कुन्दन वर्णी और १००८ लक्षणों से सम्पन्न था। जब से भगवान माता के गर्भ में आये थे इस क्षत्रियकुण्ड राज्य में उत्तरोत्तर उन्नति होती रही। राजकीय साधन, शक्ति, ऐश्वर्यादि में आशातीत अभिवृद्धि हुई। इस प्रभाव के आधार पर पिता महाराज सिद्धार्थ ने राजपुत्र का नाम वर्धमान रखा। परिवार में भगवान का यही नाम प्रचलित रहा किन्तु उनके कतिपय अन्य नाम भी रहे यथा—वीर, ज्ञातपुत्र, महावीर, सन्मति आदि। इनमें से महावीर नाम अधिक लोक प्रचलित हुआ। इसमें विरोधाभास लगता है कि जो अहिंसाधर्म का पालक है वह वीर ही नहीं महावीर कैसे हो सकता है। हाँ विरोध का मात्र आभास ही होता है, इन दो पक्षों में कोई वास्तविक विरोध नहीं है। शक्ति, शौर्य, पराक्रम आदि विशेषताओं के कारण वीरजन दुर्जनता, अनाचार, अन्याय का विनाश कर सत्य, न्याय, नीति आदि की प्रतिष्ठा कर सकते हैं। भगवान ने अस्त्रों का

उपयोग नहीं किया। शान्ति प्रेम क्षमा आदि मानवीय गुणों से विरोधियों को पराजित कर के उनका हृदय परिवर्तन कर देने में महात्मा की वीरता प्रकट होती है और वह महात्मा वीर ही नहीं महावीर कहा जाता है। भगवान को इस आधार पर महावीर कहना उपयुक्त ही है।

बाल्यकाल निर्भीकता एवं बुद्धि वैभव

परम ऐश्वर्यशाली अधिपकुल के राजप्रासाद में भगवान अपार सुख सुविधाओं के मध्य अपना बाल्यकाल व्यतीत करने लगे। माता पिता का असीम वात्सल्य उन्हें मिलता रहा। बालक वर्धमान ने अपनी श्रीमा द्वारा अपनी असाधारणता का परिचय भी कम नहीं दिया। आठ वर्ष की आयु में ही वर्धमान ने अपनी निर्भीकता और साहस का अच्छा परिचय दे दिया था। बाल मित्रों के साथ खेल के क्रीड़ा मग्न थे तभी एक विशाल और भयंकर विषधर आ गया। सभी बालक आतंकित हो कांपने लगे किन्तु निर्भीक वर्धमान ने उसे उठाकर एक ओर रख दिया। स्वर्ग में देवेन्द्र द्वारा की गयी प्रशंसा में अविश्वास कर एक देव भगवान के साहस की स्वयं परीक्षा करने का ही नाग बनकर आया था। इसी प्रकार तिन्दूसक खेल के मध्य जब दांव जीतकर बालक वर्धमान एक अपरिचित खिलाड़ी बालक की पीठ पर आरूढ़ हुए तो सहसा वह बालक अपना आकार बढ़ाने लगा और वर्धमान उसकी पीठ पर बैठे आकाश छूने लगे। सभी बाल सखा इस बार भी अत्यन्त भयभीत हुए किन्तु वर्धमान ने फिर अपने साहस का परिचय दिया। उन्होंने एक ही मुष्टिप्रहार से उस मायावी को संकुचित कर दिया और स्वयं पुनः धरती पर आ गये। वही देव परीक्षा करने के उद्देश्य से नया खिलाड़ी बनकर पुनः आया था। वस्तुतः बालक वर्धमान शक्ति साहस और निर्भीकता के प्रतिरूप ही थे।

तीर्थंकर स्वयंबुद्ध होते हैं उन्हें विद्याध्ययन द्वारा ज्ञान नहीं प्राप्त करना पड़ता तथापि उन्हें लोक प्रचलन के अनुसार कलाचार्य की पाठशाला में अध्ययनार्थ भेजा गया। पाठशाला में एक ब्राह्मण आया और बड़े जटिल प्रश्न करने लगा। स्वयं गुरुजी भी उन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दे पा रहे थे। वर्धमान ने गुरु की अनुमति से उन सभी कठिन प्रश्नों के उत्तर दे दिये। गुरु और आगंतुक ब्राह्मण बालक के बुद्धिवैभव से बड़े प्रभावित हुए। कलाचार्य ने कहा कि बालक वर्धमान मेरा भी गुरु बनने की क्षमता रखता है। यह ब्राह्मण और कोई नहीं स्वयं इन्द्र था जिसने घोषित किया कि साधारण शिक्षा इस बालक के लिए कोई महत्त्व नहीं रखती। ऐसे अनेक प्रसंग भगवान के बाल जीवन में आये जिनसे उनके भावी तीर्थंकरत्व का पूर्व परिचय मिला करता था।

गृहस्थयोगी वर्धमान

आयु के साथ-साथ वर्धमान की मौलिक प्रवृत्ति—चिन्तनशीलता में भी उत्तरोत्तर विकास होने लगा। ३० वर्ष की आयु तक सांसारिक विषयों का उन्होंने उन्मुक्त

उपभोग किया था किन्तु यह उनका बाह्य व्यवहार ही था। भीतर से वे अनासक्त थे। भोग में वे तन से प्रवृत्त थे मन से नहीं। उनकी सहज प्रवृत्ति—चिन्तन मनन ने उन्हें अन्तर्मुखी बना दिया था। जीवन और जगत की समस्याओं पर मौलिक रूप से विचार करना और उनके समाधान खोजना—उनके लिए सहज नित्य व्यापार हो गया था। सामाजिक विषमताओं असंगतियों और विकारों ने उन्हें और अधिक चिन्तनशील बना दिया। वे चुप चुप रहने लगे गम्भीर रहने लगे। कुमार वर्धमान की इस स्थिति से माता पिता चिन्तित हुए और उन्हें भय होने लगा कि पुत्र कहीं विरक्त न हो जाय। वे इसके लिए उपाय सोचने लगे और यही उपाय उन्हें सूझा कि पुत्र को विवाह-बन्धन में बांध दिया जाय। आन्तरिक मन से वे इस बन्धन में पड़ना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने आरम्भ में माता पिता के इस विचार से अपनी असहमति व्यक्त की। किन्तु वे माता पिता को दुखित भी नहीं करना चाहते थे अतः अन्ततः उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। अपने अग्रज नन्दिवर्धन को वर्धमान ने इस सारी परिस्थिति से परिचित भी करा दिया था। राजा समरवीर की कन्या यशोदा के साथ भगवान का परिणय सम्पन्न हुआ। यशोदा सब प्रकार से इस कुल और वर के योग्य थी। यशोदा ने कालान्तर में एक पुत्री को भी जन्म दिया जिनका नाम प्रियदर्शना रखा गया।

बाह्य रूप से ही भगवान सांसारिक थे अन्यथा उनका मन तो कभी से विरक्त था। वे विषय-सागर में कमलवत् निर्लिप्त भाव से विहार करते थे। उनका मन तो अनन्त सुख की खोज में था। माता पिता के जीवन-काल में दीक्षा ग्रहण न करने का संकल्प उन्होंने माता के गर्भ में ही ले लिया था अतः वे अभी रुके हुए थे। किन्तु अब भी शरीर से ही दीक्षा ग्रहण शेष था। उनका मन तो दीक्षित हो ही चुका था।

वर्धमान की आयु जब २८ वर्ष की हुई उनके माता पिता का स्वर्गवास हो गया। अब संयम ग्रहण के लिए अनुकूल समय आ गया था। वर्धमान ने अग्रज नन्दिवर्धन से विरक्त होने की अनुमति मांगी। माता-पिता के निधन से वे पहले ही बड़े दुखित थे अनुज का यह प्रस्ताव उन्हें और कष्ट देने लगा। अग्रज ने वर्धमान से आग्रह किया कि वे अभी संयम ग्रहण नहीं करें। वर्धमान अपने अग्रज का पिता तुल्य ही सम्मान करते थे। उनकी आज्ञा का अनादर वर्धमान नहीं कर पाये और दीक्षा ग्रहण का विचार कुछ समय के लिए उन्हें पुनः स्थगित करना पड़ा। राज परिवार के सम्पन्न वातावरण में रहकर भी वर्धमान योगी-सा जीवन जीने लगे थे। भौतिक सुखों और विषयों के प्रति उनका मन विकर्षित रहता था। वे अद्भुत गृहस्थयोगी थे।

स्वतः दीक्षा ग्रहण—प्रतीक्षा की यह दो वर्ष की अवधि वर्धमान को अत्यन्त दीर्घ लगी। अन्ततः जब लोकान्तिक देवों ने उनसे धर्म प्रवर्तन की प्रार्थना की तो वे वर्षीदान में प्रवृत्त हुए और इसके सम्पन्न हो जाने पर उन्होंने महाभिनिष्क्रमण

किया। वधमान गृह त्यागकर चन्द्रप्रभा शिविका में आरूढ़ हो ज्ञातखण्ड उद्यान म पधारे। वहाँ वस्त्रालकारों का त्यागकर उन्होंने पचमुष्टि केश लु चन किया और स्वय सयम ग्रहण कर लिया। भगवान को तत्काल ही मन पयवज्ञान की प्राप्ति भी हो गयी। भगवान स्वय ही दीक्षादाता और स्वय ही दीक्षा-ग्राहक थ। अपने मार्ग के निर्माता भी वे स्वय थ और स्वयं ही उस माग के पथिक भी। आत्मदीक्षा के पश्चात भगवान ने सिद्धो को नमन किया तथा सकल्प लिया कि अब मेरे लिए समस्त पापकम अकरणीय हैं। इनम स किसी म भी अब मेरी प्रवृत्ति नहीं रहगी। आज मैं सम्पूण सावद्य कर्मों का ३ करण और ३ योग स त्याग करता हूँ।

साधना उपसग एव परीषह

दीक्षोपरान्त ही भगवान ने उपदेश का क्रम आरम्भ नहीं कर दिया। अभी तो कल्याणकारी माग की खोज करनी थी। इस खोज क लिए आत्मजता बनना अपेक्षित था और इस निमित्त भगवान ने साधना आरम्भ की। भगवान ने इस आशय का सकल्प ग्रहण किया कि जब तक मैं केवलज्ञान का प्राप्त न कर लूगा—शान्त एकान्त वनो म रहकर आत्मसाक्षात्कार हेतु सतत् प्रयत्नशील रहूँगा। मौनव्रत धारी मुनि महावीर पवतो कन्दराओ गहन विजनो म विचरणशील रह और जीवन तथा जगत की अबूझ गुत्थियो को सुलझाने के लिए गम्भीर चिन्तन करत रह। आहार विहार पर दृढ नियन्त्रण म भी व सफल रहे और कठोर प्राकृतिक प्रहारो को भी वे धयपूवक सहन करते रह। धीर-गम्भीर महावीर इस प्रकार अपनी साधना के सोपानो का क्रमश पार करत रहे और उनका आत्मिक उत्थान होता रहा। भगवान को अपने इस साधना काल मे अनेक परीषह और उपसग सहन करने पड जिनस उनकी क्षमाशीलता उदारता एव सहिष्णुता का परिचय मिलता है। ३० वष की आयु म प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले भगवान महावीर को ४२ वष की आयु म कवल्य की प्राप्ति हुई थी। इस लगभग साढ़ बारहवर्षीय दीघ साधना अवधि को इस दृष्टि से भयकर बाधाओ और आपदाओ से भरा काल कहा जा सकता है। भगवान की मान्यता थी कि परीषहो को शान्ति के साथ सहन करने वाल साधक को ही साधना म सफलता मिलती है और कष्टो को इस प्रकार सहन करने स ही पापकम नष्ट होते हैं। इस दृष्टि स भगवान ने नसर्गिक रूप से आने वाल परीषहो को तो सहा ही कुछ कष्टकर परिस्थितियो को उन्होंने स्वयं भी निमन्त्रित किया। इस हेतु दुजन और क्रूरकर्मियो के क्षत्रो म भी प्रभु ने विहार किया। कतिपय उपसग एव परीषह प्रसग विशष रूप म उल्लखनीय हैं।

गोपालक प्रसग—भगवान वन म ध्यानावस्थित खड़ थ और समीप ही एक गोपालक अपने बल चरा रहा था। सध्या समय गोदोहन क लिए वह अपन बल भगवान को सौंपकर और बिना उनका उत्तर सुने चला गया। लौटकर आया तो बलों को वहाँ न पाकर वह कुपित हुआ और भगवान को अपशब्द कहने लगा। भगवान अब भी पूववत्

ध्यानलीन थे। गोपालक ने सारा वन खोज लिया किन्तु उसके बल तो जब वह लौटा तो प्रभु चरणो म बठ मिले। गोपालक और अधिक क्रोधित हुआ और बला की रस्सी से ही भगवान पर कोड बरसाने लगा। भयकर मार से भी भगवान विच लित नहीं हुए, साधना म अडिग रहे। सहसा किसी दिव्यपुरुष ने आकर रस्सी को पकडकर गोपालक को रोकते हुए कहा—नादान तू नही जानता कि जिन्हें तू इस प्रकार कष्ट द रहा है व जगत के उद्धारक प्रभु महावीर स्वामी हैं। गोपालक को काटो तो खून नही। तीव्र प्रायश्चित्त की अग्नि में वह जसे भुना जा रहा था। उसने भगवान के चरणो में नतमस्तक होकर क्षमा प्रार्थना की। ध्यान-समापन पर भगवान ने देखा कि वह दिव्यपुरुष इन्द्र अब भी करबद्ध खडा है। इन्द्र ने अपनी अभिलाषा प्रकट की कि वह प्रभु के साथ रहकर इन बाधाओ को दूर करता रहे। भगवान ने निषेधपूर्वक कहा कि मेरी साधना स्वाश्रयी है। ज्ञान व मोक्ष की प्राप्ति अपने ही पुरुषार्थ से सभव है कोई और इसमे सहायक नहीं हो सकता। आत्मबल ही साधक का एक मात्र आश्रय हो सकता है।

मोराक आश्रम प्रसग—भगवान तो आत्मलीन रहा करते थे। बाह्य ससार से उनका नाता टट ही गया था। बस उनकी भौतिक काया ही इस ससार मे थी। एक समय मोराक ग्राम पधारे जहाँ कुलपति के आग्रह पर भगवान ने आश्रम मे चातुर्मास किया और तापसो के लिए निर्मित घास की झोपडियों मे स एक में ध्यान लीन होकर खड हो गये। समीपस्थ क्षेत्र की गायें प्राय आश्रम मे घुसकर झोपडियो की घास चर जाया करती थी। एक अवसर पर जब तभी तापस कहीं गये थे गायो ने सभी झोपडियो का उजाड दिया। भगवान तो ध्यानलीन थे। व झोपडियो की रक्षा कसे करते? वसे भी वे मोह से परे हो गये थे। तापस जन लौटे तो आश्रम का विनाश देखकर दुखित हुए। उन्होने कुलपति से इसकी शिकायत की कि महावीर यहाँ थे किन्तु उन्होंने रक्षा नहीं की। कुलपति को भी क्रोध आया। वे भगवान के पास आये तो उन्हें बडा आश्चर्य हुआ कि भगवान अब भी ध्यानलीन खड़े हैं और उनकी झोंपड़ी भी नष्ट हो गयी है। रोष भरे स्वर मे उन्होने कहा कि क्षत्रिय तो मातृ भूमि की रक्षा के लिए भी प्राणो की बाजी लगा देते हैं तुम अपनी झोपडी की रक्षा भी नहीं कर सके। धिक्कार है तुम्हें! भगवान मौन रहे कोई प्रतिकार नहीं किया किन्तु वे सोचने लगे कि मेरी स्थिति से ये जन अपरिचित हैं। मुझे झोपडी का मोह होता तो राजभवन ही क्यो त्यागता? इस आश्रम में तो साधना की अपेक्षा साधनो को अधिक महत्त्व दिया जाता है। उन्होंने इस आश्रम को त्यागने का निश्चय कर मन ही मन ५ प्रतिज्ञाएँ की—

(१) ईर्ष्या व मनस्य रखने वालों के साथ नहीं रहना।

(२) साधना के लिए सुरक्षित सुविधाजनक स्थल को नही चुनना और कायो त्सग द्वारा शरीर प्रवत्ति को रोक देना।

रहीं। भगवान का अग्ल मात्र रच मात्र को भी चलन नहीं हुआ। सगम अपना यह दांव भी हार गया।

रात्रि व्यतीत हो गयी अरुणोदय हुआ। प्रात वेला म कुछ राजकर्मचारी कुछ अपराधियों को साथ लिये हुए प्रभु के समक्ष आये। अपराधियों ने भगवान की ओर सकेत हुए कहा कि ये ही हमारे गुरु हैं जिन्होने हमें चोरी का धधा सिखाया है। कुपित हो राजकर्मचारियों ने भगवान पर वेग के साथ डडे बरसाना आरभ कर दिया। सहिष्णुता के अवतार भगवान महावीर ने उफ तक नहीं किया मौन-अडिग बने रहे। सगम का यह वार भी इस प्रकार खाली गया। निरन्तर ६ मास तक भाति भाति के प्रयत्न करके भी सगम देव जब सफल न हो सका तो अन्तत उसने भगवान से निवेदन किया कि धन्य हैं आप और धन्य है आपकी साधना ! मुझे असफल होकर ही लौटना पड रहा है। भगवान का हृदय करुणा से भर आया और उनके नयन आर्द्र हो उठे। सगम द्वारा इसका कारण पूछा जाने पर भगवान ने प्रकट किया कि मेरे सम्पर्क म जो भी आया है उसके पाप कट गये हैं किन्तु तुम तो नये पाप बाध कर जा रहे हो। इनका फल भी तुम्हे भोगना होगा। उसी की कल्पना से मुझे दुख हो रहा है।

भगवान अपने अपराधी के प्रति कितने करुणाशील थे !

अतिविकट अतिम उपसर्ग— सयोग ही है कि भगवान के प्रथम उपसर्ग और अन्तिम उपसर्ग— दोनो का सबध गोपालको से ही है। इस अन्तिम उपसर्ग के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि भगवान विहार करते-करते जब छम्माणी ग्राम म पहुचे तो समीप ही ग्राम के बाहर आप ध्यान में लीन खडे हो गये। एक ग्वाला भगवान के पास अपने बैल छोडकर चला गया और लौट कर देखा कि बैल वहाँ नही हैं। उसने भगवान से पूछा कि उसके बैल कहाँ हैं ? भगवान तो ध्यानलीन थे। उन्होने कोई उत्तर नहीं दिया। ग्वाला क्रोध से अभिभूत हो रोष के स्वर मे बार-बार भगवान से प्रश्न करने लगा किन्तु कोई उत्तर उसे नही मिला। अज्ञान ग्वाले ने कहा कि यह साधु जब कुछ सुनता ही नही तो इसके कान व्यर्थ हैं इन्हे बन्द कर देना चाहिये—और उसने प्रभु के दोनो कानो मे कांस्य शलाकाए ठूस दी। प्रभु को जिस घोर यातना का अनुभव हुआ होगा—उसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। भगवान ने सहिष्णुता के साथ सारा कष्ट सह लिया और क्षमाशीलता के साथ कोई प्रतिक्रिया भी व्यक्त नही की। वे तो अपने अडिग ध्यान म ही लीन रहे। अपने साढे बारह वर्ष के साधना-काल भगवान को होने वाला यह सबसे बड़ा उपसर्ग था।

अद्भुत अभिग्रह

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् भगवान का जो साधनाकाल कैवल्य प्राप्ति के पूर्व रहा—वह अतिशय कष्टपूर्ण था। भगवान ने इस अवधि म आहार सम्बन्धी कठोर नियन्त्रण भी रखा। अनेक

प्रकार के अभिग्रह भगवान धारण किया करते थे । एक अभिग्रह तो बड़ा ही अद्भुत था, जिसका सम्बन्ध चन्दनबाला के प्रसंग से है । भगवान ने एक बार १३ बातों का विकट अभिग्रह किया—अविवाहिता नृपकन्या हो जो सदाचारिणी हो तथापि वह बन्दिनी हो उसके हाथों में हथकड़ियाँ और पाँवों में बेड़ियाँ पड़ी हों वह मुण्डितशीष हो वह तीन दिन से उपोषित हो वह खाने के लिए सूप में उबले हुए बाकुले लिये हुए हो वह किसी अतिथि की प्रतीक्षा में हो वह न घर में हो न बाहर हो वह प्रसन्नवदना हो किन्तु उसके नेत्रों में आँसू हों—ऐसी अवस्था में जब वह नृपकन्या अपने भोजन में से मुझे भिक्षा दे तो मैं आहार ग्रहण करूँगा अन्यथा ६ माह तक निराहार रहूँगा । ५ माह और पच्चीस दिन तक इस अभिग्रहवश भगवान निराहार रहकर ही साधना करते रहे । अभिग्रह की परिस्थितियाँ तभी पूर्ण हुई और चन्दनबाला (चन्दना) से भगवान ने भिक्षा ग्रहण की । संक्षेप में चन्दना की कथा इस प्रकार है—

चन्दना चम्पानरेश दधिवाहन की राजकुमारी थी । जब कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चम्पा पर आक्रमण कर उसे परास्त कर दिया तो उसके सैनिक चम्पा की सम्पत्ति लूटकर लाये । वे चम्पा की रानी और राजकुमारी को भी ले आये । मार्ग में रानी ने तो रथ से कूदकर आत्मघात कर लिया और राजकन्या को कौशाम्बी लाकर नीलाम कर दिया । धनावह नामक एक श्रेष्ठी ने उसे क्रय कर लिया । धनावह का चन्दना पर अतिशय पवित्र पुत्रीवत् स्नेह था किन्तु उसकी पत्नी बड़ी शंकालु स्वभाव की थी । ईर्ष्यावश उसने चन्दना को मुण्डित करवा दिया हाथ पैरों में लोहे की शृंखला डलवाकर उसे तहखाने में धकेल दिया । उसे भोजन भी नहीं दिया गया । धनावह को ३ दिन पश्चात् चन्दना की इस दुर्दशा का समाचार मिला तो वह अपने घर गया । पत्नी वहाँ नहीं थी और सारी खाद्य सामग्री भण्डारगृह में बन्द पड़ी थी । धनावह ने तुरन्त कुछ बाकले उबाल कर पात्र के अभाव में सूप में रखकर चन्दना को खाने को दिये । चन्दना भोजन के लिए यह सूप लेकर बैठी ही थी कि इस मार्ग से भगवान का आगमन हुआ । भगवान को आहार भेंट करने का अवसर पाकर उसके मुख पर प्रसन्नता छा गयी किन्तु भेंट करने को कितना तुच्छ आहार है—यह ध्यान आने पर उसके नेत्रों में अश्रु भर आये । इस प्रकार अभिग्रह की सारी परिस्थितियाँ पूर्ण हो गयीं । भगवान ने चन्दना से भिक्षा ग्रहण की । अपने विगत अपमानित जीवन का स्मरण कर चन्दना के मन में विराग उदित हुआ । यही चन्दना आगे चलकर भगवान की शिष्य मण्डली में एक प्रमुख साध्वी बनी ।

कैवल्य प्राप्ति व समवसरण

भगवान की यह दीर्घ और सतत साधना अन्ततः फलवती हुई । ऋजुबालुका नदी के तटवर्ती वन में शाल वृक्ष तले भगवान जब उकड़ू बैठे हुए ध्यानमग्न थे

मनःपर्यवज्ञानी	५००
अवधिज्ञानी	१ ३००
चौदह पूर्वधारी	३००
वादी	१ ४००
वैक्रियलब्धिधारी	७००
अनुत्तरोपपातिक मुनि	७००
साधु	१४,०००
साध्वी	३६ ०००
श्रावक	१ ५९ ०००
श्राविका	३ १८ ०००

(३) केवली युग

भगवान महावीर स्वामी के परिनिर्वाणोत्तर काल म आरभ का कुछ अन्य केवली काल कहलाता है। भगवान के पट्ट पर उनके परम शिष्य सुधर्मा स्वामी प्रतिष्ठित हुए जिन्होंने धर्मशासन को सुसगठित और सुदृढ स्वरूप देने की अपनी क्षमता का अच्छा परिचय दिया। सुधर्मा स्वामी ने धर्म सघ और धर्म प्रसार के निमित्त जो कौशलपूर्ण श्रम किया उसी का परिणाम है कि जैनधर्म उत्तरोत्तर सबल भी होता गया और उसका एक स्पष्ट चित्र भी जन मानस मे अकित होता गया। इस दृष्टि से सुधर्मा स्वामी भगवान के उत्तराधिकारी के रूप म माने जाते है। भगवान के अन्य शिष्यों म एक और प्रख्यात नाम स्मरण किया जाता है और वह है—इन्द्रभूति गौतम। गौतम को भगवान का प्रधान शिष्य होने का गौरव प्राप्त था। भगवान की शिष्य परम्परा मे ११ गणधर थे जिनम इन्द्रभूति गौतम ही सर्वाधिक महत्ता के पात्र रहे। प्रभु महावीर स्वामी के परिनिर्वाण के तुरत पश्चात् ही गौतम को कैवल्य का लाभ हो गया था और केवली जगत् निरपेक्ष होता है उसका तो अनन्त शान्ति और अक्षय सुख का एक पृथक ही लोक होता है जिसम वह विहार करता है। वह आत्म-सुख की अनुभूति म ही लीन रहता है। अत केवली को किसी पद की गरिमा स अलकृत किया जाना सभव नहीं होता। सुधर्मा स्वामी के अतिरिक्त शेष गणधरो को तो भगवान के सामने ही निर्वाण की प्राप्ति हो गयी थी। अत धर्मशासन का सारा दायित्व सुधर्मा स्वामी पर आ जाना भी नितान्त स्वाभाविक ही था।

केवली काल के ३ प्रमुख व्यक्तित्व माने जाते है—

(१) इन्द्रभूति गौतम

(२) सुधर्मा स्वामी

(३) जम्बू स्वामी

इन्द्रभूति गौतम

भगवान के शासन में इन्द्रभूति गौतम का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्रव्रजित होने के पूर्व वे वैदिक ज्ञान के प्रकांड पंडित माने जाते थे। ईसापूर्व ६०७ में राजगृही के समीप गोब्बर ग्राम में गौतम का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। गौतम उनका गोत्रनाम था। इनके पिता-माता का नाम क्रमशः वसुभूति और और पृथ्वी था। इनके दो अनुज अग्निभूति और वायुभूति थे। जन्म से ही इन्द्रभूति बड़ी कुशाग्र बुद्धि के थे और नव-नवीन ज्ञान प्राप्ति की सतत् जिज्ञासा उनमें सदा ही बनी रहती थी। कठोर परिश्रमपूर्वक वेद-वेदांग एवं विविध विद्याओं का गहन पारायण कर इन्द्रभूति गौतम अत्यन्त प्रखर विद्वान युवक के रूप में जब उभरे तो उनके पाण्डित्य पर सभी मुग्ध थे। उनमें वाक्शक्ति प्राबल्य था। वाणी का यह वैदग्ध्य और ज्ञान की सबलता इनके सुयश का आधार बनी और शास्त्रार्थों में उन्होंने अनेक यशस्वी विद्वानों को निरुत्तर कर दिया। इन्द्रभूति से विवाद करना बड़ा दुष्कर समझा जाता था। इसी कारण वे वादि गज-सिंह कहे जाते थे।

आरम्भ में इन्द्रभूति गौतम कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे और कर्मकाण्ड के क्षेत्र में उन्हें देशव्यापी ख्याति प्राप्त हो गयी। उच्चस्तरीय अनुष्ठानों का इन्हीं के द्वारा सम्पन्न कराया जाता था। एक ऐसे ही अवसर पर गौतम के जीवन में नवीन मोड़ आ गया और वे अपनी वंशानुगत धर्म प्रवृत्ति का परित्याग कर महावीर भगवान के शिष्य हो गये। इस सम्बन्ध में इतिहास में उपलब्ध घटना इस प्रकार है—

सोमिल नामक एक ब्राह्मण द्वारा अपापा में एक विराट् यज्ञ का आयोजन किया गया था। इस यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए तत्कालीन लब्ध प्रतिष्ठित कर्मकाण्डी गण एकत्रित हुए थे और यज्ञ के अधिष्ठाता पण्डित थे—इन्द्रभूति गौतम। संयोग से भगवान महावीर स्वामी भी इन दिनों इसी नगर में थे और नगर-बाह्य क्षेत्र में भगवान का समवसरण रचा गया था। भगवान के समवसरण स्थल की ओर दर्शनाकांक्षा के साथ अनेक देवगण आकाश मार्ग से पहुँच रहे थे। ये देवगण यज्ञस्थल के ऊपर होकर भी गुजर रहे थे। यज्ञकर्ताओं को भ्रम था कि हमारे यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए देवगण का आगमन हो रहा है किन्तु वे यज्ञ में सम्मिलित होने के स्थान पर आगे बढ़ जाते थे—यह देखकर उन्हें क्षोभ हो रहा था। ज्ञान-दर्प से परिपूर्ण इन्द्रभूति को यह देखकर अपना अपमान अनुभव होने लगा और वह अहं को व्यक्त करते हुए कह उठे कि अवश्य कोई इन्द्रजालिया हमारे यज्ञ में आये देवगण को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। कौन है वह? इन्द्रभूति ने चुनौती के स्वर में यह भी कहा कि मैं उसे शास्त्रार्थ द्वारा वाद और विद्या दोनों में ही परास्त कर दूंगा। है कौन वह?

जब गौतम को ज्ञात हुआ कि देवगण तो भगवान महावीर स्वामी के समवसरण की ओर जा रहे हैं तो उसके मन में भगवान के प्रति विद्वेष का भाव प्रबल हो उठा

के समवसरण में वे अपने एक सहस्र शिष्यों के साथ उपस्थित हुए। भगवान का प्रभाव अमोघ था ही। वे उससे कैसे वंचित रहते। इनकी भी वही स्थिति हुई और ये भी प्रभु चरणों में दीक्षित हो गये। तत्पश्चात् मंडित तथा मौर्य अपने साढ़े तीन-तीन सौ (३५० ३५०) शिष्यों सहित भगवान से प्रतिबोधित होकर दीक्षित हो गये।

प्रभु के समवसरण की यह चरम उपलब्धि थी। प्रथम देशना में ही ११ वैदिक विद्वानों ने अपने ४४०० शिष्यों सहित दीक्षा ग्रहण कर ली थी। भगवान की यह गरिमा अक्षुण्ण स्वीकार की जाती है। भगवान के ये ही ११ गणधर हुए जो अत्यन्त सक्षम थे। भगवान ने इन गणधरों को त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उद्बोध देकर वस्तुस्वरूप का सम्यक् बोध कराया और गणधरों ने त्रिपदी पर मनन कर १४ पूर्वों की रचना की—

(१) उत्पाद पूर्व	(८) कर्मप्रवाद पूर्व
(२) अग्रायणी पूर्व	(९) प्रत्याख्यान पूर्व
(३) वीर्यप्रवाद पूर्व	(१०) विद्यानुप्रवाद पूर्व
(४) अस्ति-नास्तिप्रवाद पूर्व	(११) कल्याणप्रवाद पूर्व
(५) ज्ञानप्रवाद पूर्व	(१२) प्राणावाय पूर्व
(६) सत्यप्रवाद पूर्व	(१३) क्रियाविशाल पूर्व
(७) आत्मप्रवाद पूर्व	(१४) लोकबिन्दुसार पूर्व

इन ११ गणधरों में से अचल मुनि तथा अकम्पित मुनि का एक ही गण था और मैतार्य मुनि एवं प्रभास मुनि का भी एक ही गण था। शेष गणधर मुनियों के गण पृथक् पृथक् थे। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि भगवान के धर्मशासन में सम्मिलित इन ११ गणधरों में महत्त्व की दृष्टि से इन्द्रभूति गौतम ही सर्वोपरि थे। गौतम स्वामी की ओर उन्मुख होकर ही प्रभु उपदेश प्रदान किया करते थे यद्यपि उपदेश सभी के लिए होते थे और भगवान के अपरिमित स्नेह से उत्साहित गौतम स्वामी भी अपनी समस्त शंकाएँ निवारणार्थ प्रभु के समक्ष प्रस्तुत कर दिया करते थे। प्रभु और गौतम स्वामी के मध्य सुदृढ़ अनन्यता का भाव था। गौतम स्वामी सदा ही भगवान के साथ विचरण करते रहे और निर्मल भावना के साथ वे भगवान की सेवा कर अपने इस भव को धन्य समझते थे। भगवान से जब इस अनन्यता का रहस्य पूछा गया तो जिज्ञासुओं को तुष्ट करते हुए भगवान ने जो उत्तर दिया, उसका आशय यह था कि दोनों का यह संसर्ग न केवल इस भव का ही अपितु विगत अनेक भवों से चला आ रहा था। जन्म-जन्मान्तरों से पुष्ट होता चला आ रहा संसर्ग ही इस भव में इतना प्रगाढ़ रूप ले सका था। भगवान अपने शिष्य गौतम स्वामी की भक्ति भावना की गहनता से सुपरिचित थे। अतः जब प्रभु को अपना अन्तिम समय निकट अनुभव होने लगा तो इस कल्पना के कारण कि गौतम के लिए यह प्रयाग दुस्सह होगा भगवान ने उन्हें देवशर्मा (एक ब्राह्मण) को प्रतिबोध देने भेज दिया।

भगवान के निर्वाणोपरान्त जब गौतम स्वामी लौट तो इस दुःख ने उन्हें अतिशय रूप से व्यथित कर दिया। मनस्ताप में डूबे गौतम स्वामी गम्भीर मन से चिन्तन करने लगे। सहसा उनके मानस में स्पष्टता के साथ निर्मोह का अवतरण हुआ। गौतम स्वामी को कैवल्य का लाभ हो गया। केवली गौतम स्वामी तत्पश्चात् समस्त लोकानुभूति से मुक्त सर्वथा तटस्थ हो गये। परम यशस्वी केवली गौतम की गरिमा के साथ १२ वर्षों तक पृथ्वी तल पर विहार करते रहे। तदनन्तर राजगृह में उन्हें सधारा सहित निर्वाण पद की प्राप्ति हो गयी, वे मुक्त हो गये। मोक्ष-प्राप्ति के समय उनकी आयु ९२ वर्ष की थी। ० वर्षों की एक लम्बी अवधि भगवान महावीर स्वामी की सेवा में व्यतीत करने का अमूल्य यश उन्हें प्राप्त था।

आर्य सुधर्मा स्वामी

भगवान महावीर स्वामी के परम शिष्य तो इन्द्रभूति गौतम ही थे किन्तु भगवान के निर्वाण के अनन्तर तत्काल ही कैवलज्ञान से सम्पन्न हो गये थे। कैवल्य आत्मानन्द के अलौकिक वातावरण में विहार करते हैं अतः उन्हें धर्म शासन का कोई दायित्व नहीं दिया जाता। अस्तु भगवान के अन्य सक्षम शिष्य सुधर्मा स्वामी को पट्ट पर प्रतिष्ठित किया गया। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को आर्य सुधर्मा स्वामी इस परमोच्च गौरव से मण्डित हुए थे और जिस प्रतिभा एवं शक्ति का परिचय उन्होंने चतुर्विध धर्मसंघ के संचालन कार्य में दिया—उसे असाधारण कहना चाहिए। वस्तुतः सुधर्मा स्वामी पर प्रभु निर्वाणोपरान्त दुरूह दायित्व आ गया था। शेष ९ गणधरों के विषय में वर्णित किया जा चुका है कि उन्हें भगवान की उपस्थिति में ही निर्वाण प्राप्त हो चुका था। ऐसी स्थिति में उनके गणों को भी आर्य सुधर्मा के ही साथ संयुक्त कर दिया गया था और इस पर संगठित सौधर्म गच्छ की विशालता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। वीर-संघ की समस्त व्यवस्था और संचालन का दायित्व आर्य सुधर्मा स्वामी ने निस्सन्देह अत्यन्त कौशल के साथ निभाया था।

विदेह प्रान्तान्तर्गत कोल्लाग ग्राम में ६०७ ईसापूर्व में आपका जन्म वैदिक संस्कार युक्त ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपके पिता का नाम धम्मिल्ल और माता का नाम भद्दिला था। सुधर्मा बाल्यकाल से ही अत्यन्त तीव्र बुद्धि के थे। उनकी प्रवृत्ति भी धर्माभिमुख थी और कदाचित् उनकी यही विशेषता उनके नामकरण का आधार भी बनी। कठोर परिश्रम एवं दत्तचित्तता के साथ आर्य सुधर्मा ने वेद-वेदांग का गम्भीर अध्ययन किया और इस विद्या पर उन्होंने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अल्पायु में ही उन्हें देश व्यापी ख्याति प्राप्त हो गयी थी और वे सर्वत्र अपने पाण्डित्य के कारण चर्चा के विषय हो गये थे। कर्मकाण्ड के अति महत्त्वपूर्ण दायित्व उन्हें सौंपे जाने लगे जिन्हें वे गरिमापूर्ण विधि से सम्पन्न करने लग गये थे। उनके पास भी ५०० शिष्यों का एक विशाल समुदाय सदा ही रहा करता था। इनके चरित की रूप रेखा को इन्द्रभूति गौतम के समतुल्य समझा जा सकता है। भगवान का प्रभाव और जैनधर्म में दीक्षा

लकर संयम ग्रहण करने और इस नवीन साधना-मार्ग पर आरूढ़ होने का संयोग भी इन दोनों का एक ही प्रकार का तथा एक ही अवसर का था। भगवान महावीर स्वामी के प्रतिबोध से ही उनके मानस को यथार्थ आलोक प्राप्त हुआ था और उनकी आत्मा जाग्रत होकर धर्म-मार्ग पर गतिशील हुई। गौतम की ही भाँति दीक्षा ग्रहण के समय सुधर्मा स्वामी की आयु भी ५० वर्ष की थी और इन्होंने भी ३० वर्षों तक का जीवन-काल प्रभु-सेवा में समर्पित कर उसे धन्य किया था। तदनन्तर २० वर्षों तक उन्होंने घोर संघ का संचालन किया। उल्लेखनीय है इस अवधि के अन्तिम आठ वर्ष केवली पर्याय के रहे। इस प्रकार एक सौ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर आर्य सुधर्मा स्वामी ने राजगृही के गुणशील चैत्य में पादोपगमन संथारा युक्त अवस्था में मोक्ष पद प्राप्त कर लिया।

सौधर्मगच्छ के रूप में ही भगवान के द्वारा स्थापित धर्मपथ की परम्परा का उद्भव हुआ था और यही परम्परा अजस्र रूप से अग्रसर होती रही। आज तक की जो श्रमण परम्परा है उसे सौधर्मगच्छीय परम्परा ही माना जाता है। जैनधर्म आर्य सुधर्मा स्वामी की महती भूमिका का ऋणी है और श्रमण-परम्परा के मूल में इस प्रकार आर्य सुधर्मा स्वामी की प्रतिच्छवि स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

जम्बू स्वामी

आर्य सुधर्मा के अनन्तर जम्बू स्वामी ने धर्मसंघ-संचालन का गौरवपूर्ण और महान् दायित्व ग्रहण किया था। जम्बू स्वामी इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी के पश्चात् द्वितीय पट्टाधीश हुए थे। जम्बू स्वामी का जीवन चरित्र भी विचित्र हो रहा जिसे वैराग्य निधि का कान्तिपूर्ण रत्न कहा जा सकता है। विरक्ति की अटलता में उनके मानस का सादृश्य स्थिर करने के लिए विरले जन ही मिल पाते हैं।

राजगृह में श्रेष्ठी ऋषभदत्त के गृह में जम्बूकुमार का जन्म हुआ था। श्रेष्ठी ऋषभदत्त एवं उसकी धर्मपत्नी धारिणी—दोनों ही धर्म निष्ठा में बड़े सुदृढ़ थे। सम्पन्नता के वरदान से इनका जीवन सर्वसुखमय था। सामाजिक मान सम्मान प्रतिष्ठा का लाभ भी इस दम्पति को पूर्णत था। इन समस्त सुखों के वातावरण को भी एक दुःख की कसक प्रभावहीन बनाने में सर्वथा सक्षम थी। यह कसक थी—एक अभाव को अभाव था—सन्तति का। ऋषभदत्त की निस्संतानता उसके समस्त सुख-वैभव को फीका कर देती थी। यह वेदना धारिणी को अपेक्षाकृत अधिक त्रस्त किया करती थी। जब अपनी सन्तानहीनता का स्मरण हो जाता धारिणी के हृदय में तीव्र शूल उठने लगता था और वह व्यग्र अधीर और चिन्तित हो उठती। एक समय की चर्चा है राजगृह में आचार्य सुधर्मा स्वामी का शुभागमन हुआ था। श्रेष्ठी दम्पति आचार्य श्री के दर्शनार्थ चल दिये। पति पत्नी जब इस हेतु वैभार गिरि की ओर जा रहे थे तभी मार्ग में उनको भेंट एक नैमित्तिक—यशमित्र से हो गयी जिसने धारिणी को चिन्तित अवस्था में देखकर उसकी वेदना के कारण को समझ लिया। यशमित्र ने धारिणी की चिन्ता को उन्मूलित करते हुए भविष्यवाणी की कि शीघ्र ही उस सुन्दर और

निराशा हुई किन्तु उन्होंने प्रयत्न क्रम को स्थगित नहीं किया। उन्होंने पुत्र जम्बू से एक युक्तिपूर्ण आग्रह किया और कहा कि यदि तुमने संयम स्वीकार करने का ही निश्चय किया है, तो हम तुम्हारे मार्ग में बाधक नहीं बनेंगे। तुम वैराग्य धारण कर लोगे तो हमारी आशाओं का प्रासाद ध्वस्त हो जायगा। पुत्रवधुओं के मधुर सञ्चरण के साथ इस गृह को नूपुर ध्वनि से झंकृत करने की हमारी साध अपूर्ण ही रह जायगी। हमें निराश न करो। पहले तुम विवाह कर लो और तदनन्तर तुम वधुओं को सहमत कर उनकी अनुमति के साथ जगत का परित्याग कर देना। इतने मात्र से ही हमारी आकांक्षा पूर्ण हो जायगी। जम्बू ने आपत्ति की कि मैंने आमरण ब्रह्मचर्य व्रत के निर्वाह का अटल प्रण किया है। कौन कुमारी मुझसे विवाह के लिए अपने को तत्पर कर सकेगी? पिता सोचते थे कि एक बार विवाह हो जाने पर उसके मन का विराग खो जायगा और रागात्मक स्वरूप जागृत हो जायगा। हमारा उद्देश्य इस प्रकार पूर्ण हो जायगा और जम्बू गृहस्थ बना रहेगा। अतः पिता ने जम्बू की आपत्ति को दूर करते हुए कहा कि इस सबकी व्यवस्था पहले ही से हो गयी है तुम तो विवाह कर हमारी अभिलाषा की पूर्ति कर दो। मातृ पितृ भक्त जम्बूकुमार ने स्वीकृति दे दी। श्रेष्ठि-कन्याओं को भी अपने रूप-यौवन पर अभिमान था। वे सोचती थीं कि विवाहोपरान्त तो हम जम्बू पर बंधन डालने में सफल हो ही जायेंगी। वे विरक्त हो ही नहीं सकेंगे। उनकी धारणा यह भी थी कि जिसे एक बार चाहे मानसिक रूप से ही सही—पति स्वीकार कर लिया विवाह होगा तो केवल उसी के साथ होगा किसी अन्य के साथ नहीं। कन्याओं के माता-पिता का विरोध भी इस तर्क के समक्ष पराजित हो गया। निदान जम्बूकुमार का विवाह इन आठों कन्याओं के साथ हो गया। यह परिणय प्रसंग भी बड़ा अद्भुत प्रकार का था। राग के स्थान पर वैराग्य भाव के साथ जम्बू ने विवाह किया था। वधुएँ उल्लसित थीं जम्बू के माता पिता प्रफुल्लित थे और स्वयं जम्बू अपने संकल्प पर और अधिक दृढ़ हो गये थे।

जैसे यह विवाह अद्भुत था, वैसे ही मधु राका भी अद्भुत रही। जम्बू की सुहागरात निवृत्ति भाव के साथ थी प्रवृत्ति की भावना के साथ नहीं। इसमें राग नहीं विराग प्रबल था और आकर्षण के स्थान पर विकर्षण का ही प्राधान्य था। अगले प्रभात में ही जम्बू संयम ग्रहण कर लेने वाला था। माता पिता वचन-बद्ध थे। उनकी ओर से अब कोई आग्रह शेष नहीं था। अब तो नववधुओं पर ही निर्भर था कि वे अपने मोह-पाश में जम्बू को बन्दी बनाने में कितनी सफल होती हैं। उन्हीं पर सारी आशाएँ आश्रित थीं। इस प्रकार यह रात्रि शक्ति-परीक्षण की रात्रि बन गयी थी। किसकी विजय होती है—राग की या विराग की प्रवृत्ति की या निवृत्ति की आकर्षण की या विकर्षण की?

जम्बूकुमार ने अपनी इस मधु रजनी को आध्यात्मिक रंग दे दिया था। राग और विराग का खूब संघर्ष रहा। एक-एक वधू ने अपने रूप-यौवन की सम्मोहक

विद्याएँ लेकर उसके विनिमय में मुझे स्तंभिनी और विमोचिनी विद्याओं का दान कर दो।

जम्बूकुमार ने उत्तर में अत्यन्त संयत स्वर में कहा कि मुझे तुम्हारी इन विद्याओं की आवश्यकता नहीं। मैं तो कल ही जगत का परित्याग कर प्रव्रजित हो रहा हूँ। जम्बू का अभी-अभी विवाह हुआ और अभी-अभी ही यह संयम धारण करने के लिए संकल्पबद्ध है यह जानकर प्रभव पर अद्भुत प्रभाव पड़ा। विरक्ति की महिमा तो वह समझ ही चुका था—अब वह वैराग्य को अपनाने के लिए समुत्सुक हो गया था। जम्बू का आचरण देखकर प्रभव जैसे कर्कशाचारी क्रूरकर्मी दस्यु की आत्मा भी जागृत हो उठी। जम्बू का प्रतिबोध पाकर उसका मानस अपने नवीन रूप में और भी सुदृढ़ हो गया। उसने तत्काल उसी स्थल पर यावज्जीवन स्तेय कर्म का परित्याग कर दिया और इसका सुपरिणाम इस चमत्कार के रूप में व्यक्त हुआ कि उसके सभी साथी स्वत ही मुक्त हो गये। जम्बूकुमार ने इन सभी को भी बोध प्रदान किया परिणामत विरक्ति की महत्ता को स्वीकार कर इनका मन भी संयमार्थ मचल उठा।

जम्बूकुमार के तत्त्वज्ञान और प्रतिबोध का प्रभाव यहीं तक सीमित नहीं रहा। उसकी आठों पत्नियाँ अब तक अपने पति को साधना मार्ग का पथिक बनने की मौन अनुमति तो दे ही चुकी थीं अब तो वे रमणियाँ स्वयं भी इस मार्ग पर गतिशील होने के लिए उत्सुक हो गयीं। जम्बू की इस चरम प्रभावपूर्ण उपलब्धि से उसके माता पिता पर भी प्रभाव होना नितान्त स्वाभाविक था। जम्बू के प्रतिबोध से जागृत होकर पिता ऋषभदत्त एवं माता धारिणी भी संयमार्थ तत्पर हो गये। इस शुभ वेला में उन्होंने भी जम्बूकुमार के साथ ही प्रव्रजित हो जाने का संकल्प व्यक्त किया। अपनी पुत्रियों के भविष्य के विषय में उत्सुक आठों वधुओं के माता पिता भी ऋषभदत्त के यहाँ एकत्रित हो गये थे। जब इन आठ युग्मों ने गत रात्रि के राग विराग संघर्ष का यह अद्भुत परिणाम देखा तो जम्बूकुमार की वैचारिक प्रतिभा को हृदय से स्वीकार कर लिया। उन्हें जम्बू के दृष्टिकोण में सत्य और यथार्थ के तत्त्वों का अनुभव होने लगा और उन्होंने भी मननपूर्वक यह स्वीकार कर लिया कि जगत मिथ्या है—इससे विरक्ति का भाव ही विवेकशीलता का प्रतीक है और मोक्ष प्राप्ति मनुष्य मात्र का लक्ष्य है जिसे विरक्ति-पूर्वक साधना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। कन्याओं के माता पिता ने भी संयम ग्रहण कर लेने का निश्चय कर लिया। इसी समय प्रभव भी अपने ५०० साथियों सहित लौट आया। ये सब अपने-अपने माता-पिता स्वजनादि से संयम ग्रहण करने की अनुमति प्राप्त करके लौटे थे। और इसी समय मगधनरेश कूणिक भी आ पहुँचा। उसने जम्बूकुमार के इस विक्रम की कथा को सुना तो चकित रह गया। उसे जब यह ज्ञात हुआ कि आज प्रात जम्बूकुमार का महाभिनिष्क्रमण भी है तो वह इस समारोह में सम्मिलित होने को आया। अपने राज्य में उत्पात मचाने वाले प्रभव को यहाँ देखकर उसे क्रोध आ गया किन्तु जम्बूकुमार ने

उस ने प्रतिबोधित किया और मगधराज ने सच्चे हृदय से प्रभव एवं उसके साथियों के अपराध क्षमा कर दिए।

प्रातःकाल ही जम्बूकुमार ५२७ दीक्षाभिलाषियों के साथ आचार्य सुधर्मा स्वामी के चरणों में उपस्थित हो गये। जम्बूकुमार ने सभी को दीक्षा प्रदान करने हेतु आचार्यश्री से अनुरोध किया और आचार्य सुधर्मा स्वामी ने सभी को भागवती दीक्षा प्रदान की।

जम्बूकुमार अब जम्बू मुनि हो गये थे। जम्बू मुनि ने सतत रूप से २० वर्षों तक गुरु आर्य सुधर्मा स्वामी की सेवा की और उनके समक्ष मार्गदर्शन में ज्ञान व साधना की। ऊपर से ऊपर की मंजिलें पार करते रहे। आचार्य सुधर्मा स्वामी ने निर्वाण प्राप्ति की वेला में जम्बू मुनि को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। वीर निर्वाण संवत् २० में जम्बू मुनि धर्मशासन पट्ट पर आसीन हुए। अब तक के जम्बू मुनि अब जम्बू स्वामी हो गये। जम्बू स्वामी इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी के द्वितीय पट्टधर थे। भरतक्षेत्र के इस काल के ये अंतिम केवली माने जाते हैं। जम्बू स्वामी ने ४४ वर्ष की अवधि तक 'केवली-पर्याय' की गरिमा से विभूषित रहते हुए धर्मसंघ का संचालन किया।

जम्बू स्वामी ने १६ वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की थी। २० वर्ष तक साधना और ४४ वर्ष तक संघ संचालन किया। इस प्रकार ८० वर्ष के आयुष्य में वीर निर्वाण संवत् ६४ में जम्बू स्वामी को परिनिर्वाण की प्राप्ति हुई।

(४) पूर्वधर युग

तीर्थंकर युग के पश्चात् केवली काल जो आरंभ हुआ था उसके अन्तिम केवली जम्बू स्वामी थे। जम्बू स्वामी भगवान महावीर के द्वितीय पट्टधर थे। इनके साथ ही केवली काल का समापन हो गया था और तत्पश्चात् श्री प्रभव स्वामी के साथ पूर्वधर काल का समारंभ माना जाता है। श्री प्रभव स्वामी भगवान के तृतीय पट्टधर थे। इनके साथ आरंभ हुई पूर्वधर काल की एक पर्याप्त दीर्घ पट्टधर परंपरा मिलती है जिसे निम्नानुसार प्रस्तुत किया जा सकता है। यद्यपि पट्ट परंपरा विविध पट्टावलियों में विविध रूप से प्राप्त होती है तथापि हम एक परंपरा प्रस्तुत कर रहे हैं—

तीसरे पट्टधर	श्री प्रभव स्वामी
चौथे पट्टधर	आचार्य शय्यंभव
पाँचवें पट्टधर	आचार्य श्री यशोभद्र स्वामी
छठे पट्टधर	आचार्य श्री सम्भूतिविजय
सातवें पट्टधर	आचार्य श्री भद्रबाहु
आठवें पट्टधर	आचार्य स्थूलभद्र
नौवें पट्टधर	आचार्य महागिरि

दसवें पट्टधर	आचार्य सुहस्ति
ग्यारहवें पट्टधर	आर्य बलिस्सह
बारहवें पट्टधर	आर्य इन्द्रदिन्न
तेरहवें पट्टधर	आर्य आर्यदिन्न
चौदहवें पट्टधर	आर्य वज्रस्वामी
पन्द्रहवें पट्टधर	आर्य वज्रसेन
सोलहवें पट्टधर	आर्य रथ
सत्रहवें पट्टधर	आर्य पुष्यगिरि
अठारहवें पट्टधर	आचार्य फल्गुमित्र
उन्नीसवें पट्टधर	आचार्य धारणगिरि
बीसवें पट्टधर	आर्य शिवभूति
इक्कीसवें पट्टधर	आर्य भद्र
बाईसवें पट्टधर	आर्य नक्षत्र
तेईसवें पट्टधर	आर्य रक्षित
चौबीसवें पट्टधर	आर्य नागस्वामी
पच्चीसवें पट्टधर	जहल विष्णु
छब्बीसवें पट्टधर	सडील अणगार (स्कन्दिल)
सत्ताइसवें पट्टधर	आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

प्रभव स्वामी

श्री प्रभव स्वामी अन्तिम केवली जम्बूस्वामी के अनन्तर भगवान के तृतीय पट्टधर थे। श्री प्रभव आर्य सुधर्मा स्वामी (प्रथम पट्टधर) द्वारा दीक्षित हुए थे और जम्बूस्वामी के साथ ही ये भी प्रव्रजित हुए। इनका जीवन वृत्तान्त अन्तिम केवली जम्बूस्वामी के प्रकरण में सविस्तार वर्णित किया जा चुका है। श्री प्रभव स्वामी को दीक्षोपरान्त आर्य सुधर्मा स्वामी ने जम्बूस्वामी के मार्गदर्शन में साधना करने का निर्देश दिया था और तभी से वे जम्बूस्वामी के शिष्य हो गये थे।

अपने जीवन के पूर्वभाग में तस्कर के रूप में श्री प्रभव जितने क्रूरकर्मी थे जीवन के उत्तर भाग में वे उतने ही अधिक पवित्राचरण वाले श्रद्धेय पुरुष सिद्ध हुए। ३० वर्ष की आयु तक प्रभव गृहस्थ बने रहे और उसके पश्चात् ६४ वर्ष की आयु तक उन्होंने मुनि-जीवन व्यतीत किया। यह अवधि श्री प्रभव स्वामी ने अत्यन्त संयम एवं साधना के साथ पूर्ण की तथा जीवन के अन्तिम ११ वर्षों में उन्होंने संघ का संचालन किया। इस रूप में भी प्रभव स्वामी ने जिस संगठन शक्ति एवं निपुण व्यवस्था की विशेषताओं का परिचय दिया वह प्रशंसनीय है।

अपने जीवन की सांध्यवेला में श्री प्रभव स्वामी को इस [illegible] चिन्ता रही [illegible] के रूप में उनका उत्तराधिकारी

व्यक्तित्व नहीं दिखाई देता था। सहसा उन्हें एक प्रतिभाशाली व्यक्ति का ध्यान आया और उसकी योग्यता के यथार्थ परीक्षण का निश्चय कर उन्होंने राजगृह की ओर विहार किया। श्री प्रभव स्वामी नगर-बाह्य क्षेत्र के उद्यान में ठहरे और अपने दो मुनियों को नगर में भेजा। 'अहो कष्टं अहो कष्टं पुनस्तत्त्वं न ज्ञायते'—का उच्चारण करते हुए वे दोनों मुनि उस स्थान पर आकर रुक गये जहाँ आर्य शय्यंभव यज्ञानुष्ठान कर रहे थे। मुनियों की उक्ति से आर्य का ध्यान अनुष्ठान में विक्षेपित हुआ और वे इस कथन पर मनन करने लगे। उनके चेतना पट पर प्रश्न उभरने लगा कि यज्ञादि अनुष्ठान बड़े श्रमसाध्य होते हैं। क्या उनमें कोई तत्त्व सन्निहित नहीं है? क्या इससे भिन्न और विशिष्ट कोई अन्य तत्त्व भी है जिसका मुझे ज्ञान न हो? वे कथन में मिथ्यात्व की आशंका भी नहीं कर पाये क्योंकि उनको विश्वास था कि मुनिजन मिथ्याचार से दूर रहते हैं। तत्काल उनका जिज्ञासु चित्त अन्यान्य तत्त्वों के साथ परिचय स्थापित करने के लिए उद्विग्न हो उठा।

तत्त्वज्ञान की शोध में आर्य शय्यंभव श्री प्रभव स्वामी की सेवा में उपस्थित हुए। श्री प्रभव स्वामी ने सम्भावित उत्तराधिकारी के रूप में इसी व्यक्ति की कल्पना की थी। उन्होंने आर्य शय्यंभव की उत्कंठा सुनकर उन्हें वीतराग मार्गीय तत्त्वज्ञान का सम्यक् बोध कराया। आर्य शय्यंभव के तत्त्ववेधी हृदय पर गहन प्रभाव हुआ। उनके मानस में वैराग्य की महत्ता प्रतिष्ठित हो गयी और वे जीवन के इस विरक्त स्वरूप को ही मानव-सर्वस्व मानने लगे। उन्हें यह सन्देह से परे प्रतीत हुआ कि आत्मकल्याण के लिए विरक्ति एक अमोघ उपाय है। उन्होंने तत्काल ही आचार्य प्रभव स्वामी के चरणों में संयम ग्रहण कर लिया। आर्य शय्यंभव अविचलित भाव से आत्मकल्याण के इस मार्ग पर अग्रसर होने लगे। साधना के क्षेत्र में निरन्तर उच्चता की ओर उन्मुख रहने वाले शय्यंभव ने सिद्ध कर दिया कि आचार्य प्रभव स्वामी की उनके प्रति धारणा अक्षरशः सत्य ही थी कि वे क्षमतावान एवं प्रतिभाशाली हैं।

अपने जीवन काल में ही आचार्य प्रभव स्वामी ने शय्यंभव को पट्टासीन कर दिया और स्वयं इस दायित्व से मुक्त हो गये। वीर निर्वाण संवत् ७५ में आचार्य प्रभव स्वामी ने निर्वाण पद की प्राप्ति कर ली।

आचार्य शय्यंभव

श्री प्रभव स्वामी के पश्चात् आचार्य-परंपरा में भगवान के चौथे पट्टधर के रूप में आचार्य शय्यंभव का स्थान है। इन्द्रभूति गौतम की भाँति शय्यंभव भी आरंभ में कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे और तदनन्तर वे जैनधर्म में दीक्षित हुए। इस विषय में विस्तृत वृत्तान्त वर्णित किया जा चुका है। संयम ग्रहण करते समय आचार्य शय्यंभव की आयु २८ वर्ष थी। वे विवाहित थे और तब तक निस्सन्तान थे किन्तु पत्नी गर्भवती अवश्य थी। गर्भ की अत्यन्त आरंभिक अवस्था थी अतः अनभिज्ञ स्वजन परिजन इस

अपने गृह में प्रवेश करते हुए देखा तो कोशा की मुरझाई हुई हृदय-वल्लरी लहलहा कर प्रफुल्लित हो गयी। अत्यन्त उत्साह एवं आवभगत के साथ अपने सदन में उसने उनका स्वागत किया। याम का भोग द्वारा यह अद्भुत और अपूर्व अभिनन्दन था। मुनि को संयम भ्रष्ट करने के लिए अपेक्षित साधन-सुविधाओं की प्रचुरता कोशा के पास थी। रूप यौवन चितवन, भाव भंगिमाएँ प्रमिल हृदय विलास-वैभव सब कुछ तो था। इन्हीं शस्त्रों के प्रहार से आत्मरक्षा करना स्थूलभद्र मुनि की शक्तिमत्ता की कसौटी थी। नृत्यांगना कोशा ने समस्त प्रकार के प्रयत्नों द्वारा मुनि स्थूलभद्र का याग से विमुख कर भोग में प्रवृत्त करना चाहा। कोई प्रयत्न उसने शेष न रखा किन्तु मुनि स्थूलभद्र प्रत्येक अवस्था में तटस्थ निलिप्त आत्मकेन्द्रित और अप्रभावित बने रहे। अन्ततः भोग को नमित होना ही पड़ा। मुनि स्थूलभद्र के सदुपदेशों से कोशा के हृदय में जागृति आगयी। वह मुनि के मार्ग में हित पिता का अनुभव करने लगी और अपने प्रयत्नों को त्यागकर स्वयं भी श्राविका हो गयी।

गुरुदेव संभूतिविजय ने भी इस प्रकार की भव्य सफलता के विश्वास के साथ मुनि स्थूलभद्र को इस विचित्र अभिग्रह हेतु अनुमति प्रदान की थी। चातुर्मास समापन पर जब शिष्य मुनिजन गुरुदेव की सेवा में पुनः उपस्थित हुए तो अन्य मुनियों के प्रति इस आशय का कथन किया कि तुम्हारा अभिग्रह दुष्कर था और दुष्कर शब्द उच्चारित किया। स्थूलभद्र मुनि के लिए आचार्य संभूतिविजय ने कहा— अइदुक्कर —अर्थात तुम्हारा अभिग्रह अतिदुष्कर था।

प्रकट तो इस अवसर पर अन्य मुनिजन मौन और शान्त बने रहे किन्तु मुनि स्थूलभद्र की इस असाधारण प्रशंसा से वे अनमने होगये थे। वे समझते थे कि कोशा का सदन तो प्रचुर सुख-सुविधा से भरा था। वहाँ कष्ट ही क्या था कि अतिदुष्कर कहा जाय। अगले चातुर्मास में ऐसे ही एक मुनि ने कोशा का भवन चुना। अब तक कोशा का चित्त तो आध्यात्मिक चेतना से जागृत हो गया था। अतः मुनि का मार्ग अबाधित था। मुनि की मात्र परीक्षा के लिए कोशा ने उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का रच मात्र सा और कृत्रिम प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि वे मुनि संयम से च्युत होगये। कोशा का तो ऐसा कोई प्रयोजन था नहीं। अतः उसने अपने प्रयत्नों द्वारा मुनि को पुनः संयम-मार्ग पर आरूढ़ कर दिया।

महान उपलब्धि दशपूर्वधर

श्री स्थूलभद्र दशपूर्वधर थे। एक समय ऐसा भी आया जब मध्यवर्ती भारतीय प्रदेशों में लम्बे समय का भयंकर अकाल पड़ा था। इस दुष्काल में मुनिजनों के विशाल समूह समीपवर्ती अन्य देशों की ओर अग्रसर होने लगे थे। इस प्रकार साधु संघ अस्त व्यस्त होगया। आचार्य भद्रबाहु भी नेपाल में साधनारत होगये थे। वहीं उन्होंने महाप्राण ध्यान की साधना की थी। घोर संकट के साथ दुर्भिक्ष के ये १२ वर्ष व्यतीत हुए। पुनः सुकाल आया। अब तक की दुरवस्था के कारण श्रुत लुप्त

प्राय सा होने लगा था और इसी समय श्री स्थूलभद्र ने अद्भुत शक्ति और सामर्थ्य का परिचय दिया। उन्होंने पाटलिपुत्र में पुन साधुसंघ आहूत किया और श्रुत-सेवा आरम्भ हुई। यहीं आगम की प्रथम वाचना सम्पन्न हुई थी। आगमों की रक्षा का संकल्प भी लिया गया और इस दिशा में व्यवस्था आदि का निर्धारण भी किया गया था। इसी प्रकार पूर्व भी विस्मृत स्खलित हो रहे थे। उनके संकलन के लिए मुनि श्री स्थूलभद्र ५०० मुनियों के विशाल संघ के साथ नेपाल गये और वहाँ श्री भद्रबाहु स्वामी से दश पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया। अपनी दीर्घ ध्यान साधना सम्पन्न कर भद्रबाहु स्वामी भी मुनि संघ के साथ ही स्वदेश लौट आये थे।

श्री भद्रबाहु स्वामी ने स्थूलभद्र मुनि को दश पूर्व ही प्रदान किये और शेष चार पूर्व प्रदान नहीं किये थे। इस विषय में भी एक वृत्त प्रचलित है। शकटार के पुत्र श्री स्थूलभद्र के अनुज श्रीयक थे और उनकी ७ बहनें भी थीं। जब स्थूलभद्र मुनि दीर्घ कालीन प्रवास के पश्चात् स्वदेश लौटे तो हर्षोल्लास के साथ उनकी बहनों ने उनका स्वागत किया। अब ये सभी साध्वियाँ हो चुकी थीं। अपनी बहनों को चमत्कार दिखाने के लिए स्थूलभद्र मुनि ने सिंह का रूप धारण किया। इस घटना का श्री भद्रबाहु स्वामी पर जो प्रभाव हुआ वह श्री स्थूलभद्र मुनि के अभियान के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। १० पूर्व का ज्ञान तो श्री भद्रबाहु स्वामी प्रदान कर चुके थे शेष चार पूर्वों का अर्थ सहित ज्ञान इसके पश्चात् उन्होंने स्थूलभद्र मुनि को प्रदान नहीं किया।

आचार्य स्थूलभद्र ने अपने जीवन के आरम्भिक ३० वर्ष गृहस्थ के रूप में व्यतीत किये थे। तदनन्तर २४ वर्ष तक वे सामान्य मुनि के रूप में साधनालीन रहे। इस प्रकार ५४ वर्ष की आयु में वे आचार्य पद पर आसीन हुए और इस पद को अपनी क्षमता और अनुभवसम्पन्नता से उन्होंने ४५ वर्षों की दीर्घावधि तक गौरवान्वित किया था। ९९ वर्ष की आयु में राजगृह के वैभार गिरि पर १५ दिवसीय संथारे सहित आचार्य श्री स्थूलभद्र ने स्वर्गलाभ कर लिया।

आचार्य महागिरि

आचार्य इतना दृढ़ अनिवार्य यशस्वी आचार्य महागिरि भगवान के नौवें पट्टधर थे। आचार्य स्थूलभद्र के शिष्य श्री महागिरि ३० वर्ष की आयु में प्रतिबोध प्राप्त कर संयम मार्ग के सबल पथिक बने थे। इसके पूर्व उनका गृहस्थ जीवन रहा और इसके पश्चात् ४० वर्ष साधना और ज्ञानार्जन का सघन मुनि-जीवन। आपके जीवन का यह द्वितीय सोपान ४० वर्ष तक रहा। इस प्रकार ७० वर्ष की आयु में वे आचार्य पद पर आसीन हुए और ३० वर्ष तक संघ संचालन के दायित्व का कौशलपूर्वक निर्वाह किया। आचार्य पद का कार्यभार अपने जीवन काल में ही आचार्य महागिरि ने अपने लघु और शिष्य गुरुभ्राता श्री सुहस्ति स्वामी को सौंप दिया था। वीर निर्वाण संवत् २४९ में आचार्य महागिरि का स्वर्गवास हो गया।

आचार्य सुहस्ति

आचार्य सुहस्ति भी आचार्य स्थूलभद्र के ही शिष्य थे। आचार्य महागिरि का संरक्षण भी इन्हे प्राप्त रहा। सामान्य मुनि के रूप में आचार्य सुहस्ति ने ३१ वर्ष तक ज्ञानाराधना की और आपको दशपूर्वी का गौरव प्राप्त हुआ। ४६ वर्षों तक आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे और संघ संचालन के रूप में आपकी सेवा अत्यन्त महत्वपूर्ण रही। इतिहासों में वर्णित है कि सम्राट अशोक के पौत्र सम्प्रति को आपने प्रतिबोधित कर जनधर्मानुयायी बनने को प्रेरित किया था। आचार्य सुहस्ति के सद्प्रयत्नों का ही यह परिणाम था कि राजा सम्प्रति स्वयं जैनधर्म के प्रचार प्रसार के लिए एक सबल और सक्रिय अभिकरण हो गया था। कहा जाता है कि राजा सम्प्रति ने अपने पुत्र-पुत्रियों को मुनिवेश में दस दिशा भेजा और जैनधर्म का प्रचार करवाया। अनार्य प्रदेशों में भी धर्मप्रचार के लिए उचित और सुविधापूर्ण वातावरण के निर्माण में राजा सम्प्रति का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

आचार्य सुहस्ति ने १०० वर्ष का आयुष्य पूर्ण किया था। श्मशान भूमि में आचार्य ध्यानलीन बैठे थे कि शृगालिनियों ने उन पर आक्रमण कर दिया। आचार्य सुहस्ति का इस घटना में देहान्त हो गया था और वे नलिनीगुल्म विमान में देव बने।

आचार्य बलिस्सह

आर्य बलिस्सह गणाचार्य थे। आचार्य सुहस्ति के पश्चात् आसीन ये ११वें पट्टधर थे। आपके शासन-काल के आरम्भ में ही व्यवस्था सम्बन्धी कुछ नवीनताएँ समाविष्ट हो गयी थीं—जैसे गणाचार्य, वाचनाचार्य आदि परम्पराएँ। इस काल में यह भी अनुभव किया गया कि दुर्भिक्ष आदि की परिस्थितियों के कारण श्रुतज्ञान की बड़ी हानि हुई है और वह सब भग्न नष्टप्राय ज्ञान की स्थिति के समीप है। अतः उसे पुनर्जीवित करने और सुरक्षित करने के उल्लेखनीय प्रयत्न भी किये गये।

आर्य बलिस्सह के प्रधानत्व में कुमारगिरि पर सम्राट खारवेल द्वारा एक श्रुत सभा निमन्त्रित की गयी जिनमें जिनकल्प मुनि स्थविरकल्प मुनि साध्वियाँ श्रावक-श्राविकाएँ सभी सम्मिलित हुए और श्रुत रक्षण के महत्वपूर्ण प्रयत्न किये गये।

गणाचार्य-परम्परा में आर्य बलिस्सह के उत्तराधिकारी आर्य इन्द्रदिन्न और निर्वाण संवत् ३३९ में पट्टासीन हुए और आपके अनन्तर इस परम्परा में आगामी गणाचार्य आर्यदिन्न हुए। आर्यदिन्न भी गौतम गोत्रीय ब्राह्मण परिवार के थे। उपर्युक्त आर्य इन भगवान के क्रमशः बारहवें एवं तेरहवें पट्टधर थे।

आर्य वज्र स्वामी [वहेर स्वामी]

आर्य वज्र स्वामी का गणाचार्य परम्परा में चौदहवें पट्टधर के रूप में

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। तुम्बवन नगर में और विक्रम संवत् ४६९ में आपका जन्म हुआ था। आपके उज्ज्वल व्यक्तित्व पर पिता धनगिरि और माता सुनन्दा का अतिशय प्रभाव था। आपके जन्म के कुछ समय पूर्व ही पिता ने दीक्षा ग्रहण कर ली थी। तब वज्रस्वामी तो जननी के गर्भ में ही थे। जब बालक कुछ वय प्राप्त और सज्ञान हुए तो अपने पिता का यह धर्म प्रसंग सुनकर उन्हें जाति स्मरणज्ञान हो गया। बालक ने भी अप्रकट रूप से यह निश्चय कर लिया कि मैं भी पिता के मार्ग का ही अनुसरण करूँगा यथासमय मैं भी दीक्षित हो जाऊँगा।

आपके नामकरण के आधारस्वरूप भी एक कथा प्रसंग प्रचलित है जिससे आपके विराट स्वरूप के प्रारम्भिक वातावरण का आभास भी होता है। अल्पायु बालक वज्र प्रायः रोता रहता था—कारण तो वस्तुतः यह था कि वज्र अपनी दीक्षार्थ आधार बनाना चाहता था। अनभिज्ञ माता बालक के सतत रुदन से व्याकुल तथा दुःखी रहा करती थी। कहा जाता है कि धनगिरि मुनि एक दिन सुनन्दा के गृह पर गोचरी हेतु पहुँचे और बालक के रुदन से उत्पीड़िता माता सुनन्दा ने उस समय वज्र को ही बहरा दिया—अपना पुत्र मुनि को दे दिया। इसी कारण आगे चल कर वज्रस्वामी का एक नाम बहेर स्वामी भी हो गया था। पिता मुनि ने यह भेंट स्वीकार भी कर ली और लाकर उन्होंने इस बालक को संघ को भेंट कर दिया। अब बालक वज्र के व्यवहार में बहुत अन्तर आ गया। यह अब बिल्कुल भी न रोता था। बालक के विषय में यह जानकर माता को आन्तरिक सतोष हुआ और उसका ममतामय हृदय पुत्र की पुनर्प्राप्ति हेतु ललकने लगा। उसने तदर्थ संघ से आग्रह भी किया किन्तु संघ विवश था। वह बालक वज्र को लौटा नहीं सकता था। माता सुनन्दा ने इस पर उत्कट कलह किया और प्रसंग न्यायार्थ तत्कालीन नरेश के पास पहुँचा।

राजा बड़ा बुद्धिमान एवं न्यायप्रिय था। उसने एक ओर मुनिजनोचित वस्त्रादि रखवा दिये और दूसरी ओर आकर्षक सुन्दर सांसारिक वस्त्रालंकार। इन दोनों प्रकार की सामग्रियों के मध्य बालक वज्र को खड़ा कर दिया गया। यह बालक की स्वेच्छा ज्ञात करने की विधि थी। बालक वज्र ने तत्काल मुनिजनोचित वस्त्र धारण कर लिये। निर्णय स्वतः ही हो गया और माता की अभिलाषा दुराग्रह सिद्ध हुई।

आयु की इस अत्यन्त आरम्भिक अवस्था में ही बालक की जो धर्म प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती थीं वे समय पाकर विकसित और पुष्ट होती गयीं तथा अन्ततः उनका वर्चस्व इतना प्रबल सिद्ध हुआ कि उचित समय पर वे संघ संचालन हेतु योग्य और सक्षम स्वीकार किये गये। उन्हें वीर निर्वाण संवत ५४८ में भगवान के पट्ट पर आसीन किया गया।

आर्य वज्रस्वामी के जीवन का एक प्रसंग और उल्लेखनीय समझा जाता है। उन दिनों पाटलिपुत्र नगर में एक धनाढ्य धन श्रेष्ठी का निवास था जिसकी एक अत्यन्त रूपवती कन्या थी रुक्मिणी। यह श्रेष्ठि-कन्या आचार्य वज्रस्वामी के गौरव

प्रसंग को लेकर चिन्तित थे कि वंश विस्तार किस प्रकार होगा। जिज्ञासावश शय्यंभव की पत्नी से कुछ लोगों ने प्रश्न भी किया कि क्या इस विषय में कोई आशा है तो उन्हें उत्तर मिला कि कुछ-कुछ है। इस आशय को प्रकट करने के लिए उसने 'मनक' शब्द का प्रयोग किया था। कालान्तर में जब पुत्र उत्पन्न हुआ तो उसी शब्द के आधार पर उसका नामकरण भी होगया। प्रचलन में यह नाम 'मणक' होगया। आचार्य शय्यंभव उसके पिता हैं—मणक को पर्याप्त दीर्घकाल तक यह ज्ञात ही नहीं होने दिया गया किन्तु वयस्क हो जाने पर उसके मन में अपने पिता का परिचय प्राप्त करने की उत्कट जिज्ञासा अंगड़ाई लेने लगी। मणक ने अपनी माता को एक प्रकार से विवश ही कर दिया और पुत्र को उसके पिता का परिचय देते हुए माता ने सब कुछ स्पष्ट कर दिया कि किस प्रकार पिता ने दीक्षा ग्रहण की थी।

पुत्र मणक अपने पिता के दर्शन करने को लालायित हो उठा और वह तदर्थ घर से चल पड़ा। एक वन्य प्रान्त में मणक की भेंट एक जैन मुनि से हुई जिससे उसने सविनय प्रश्न किया कि क्या वे आचार्य शय्यंभव को जानते हैं? उसने यह भी प्रकट कर दिया कि आचार्य उसके पिता हैं और वह अपने पिता के दर्शन करने की तीव्र अभिलाषा से ही आया है। मुनिजी ने बालक को आश्वस्त किया और कहा कि हमारे साथ उपाश्रय चलो। वहाँ तुम्हारी भेंट तुम्हारे पिता से हो जायगी। उत्सुक बालक मुनिजी के साथ हो लिया।

बालक मणक ने आचार्य शय्यंभव के दर्शन किये। उसे असीम आनन्दानुभूति तो हुई ही यह देखकर उसे आश्चर्य भी हुआ कि जो मुनिराज उसे वन से अपने साथ ले आये थे वे ही उसके पिता आचार्य शय्यंभव थे। उच्च हर्ष तरंगों से उसका हृदय आलोड़ित हो उठा। आचार्य शय्यंभव ने मणक को सचेत कर दिया कि वह यहाँ किसी के समक्ष इस रहस्य को उद्घाटित नहीं करे कि उनका पिता-पुत्र का सम्बन्ध है। इसके पीछे उनका एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य था। आचार्य ने मणक को प्रतिबोध प्रदान किया जिससे उसका चित्त उज्ज्वल ज्ञानालोक से जगमगा उठा। मणक ने तत्काल संयम ग्रहण कर लिया और तत्परतापूर्वक इस मार्ग पर गतिशील हो गया।

आचार्य शय्यंभव ने अपने ज्ञान के योग द्वारा यह ज्ञात कर लिया था कि मणक की आयु अत्यन्त अल्प ही शेष है। अतः मणक को विस्तृत ज्ञान दिया जाना संभव नहीं है। आचार्य उसे द्वादशांगी का ज्ञान देना चाहते थे जो पर्याप्त समय-साध्य कार्य था। अतः उन्होंने द्वादशांगी का सारतत्त्व संक्षिप्त रूप में उसे प्रदान किया। इस प्रयत्न में आचार्य शय्यंभव द्वारा दशवैकालिक सूत्र की रचना भी होगयी जो एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है। मणक की आयु के सम्बन्ध में आचार्यश्री का निष्कर्ष सर्वथा सत्य था। संयम ग्रहण करने के पश्चात् ६ माह तक ही वह इस नवीन मार्ग का अनुसरण कर पाया था। मणक ने समाधिपूर्वक कालकर स्वर्गगति प्राप्त की।

मणक के देह याग क अनन्तर आचार्य शय्यभव ने स्वय ही मुनिजन के समक्ष इस रहस्य का उद्घाटन किया कि मणक मेरा पुत्र था। यह ज्ञात होने पर मुनियों को बड़ा विस्मय हुआ कि यह रहस्य जो आज उदघाटित हुआ है इसे अब तक गोपनीय क्यो रखा गया था। आचार्य ने इसका कारण भी स्पष्ट कर दिया और कहा कि यदि सभी को यह पहले ही ज्ञात हो जाता तो मुनिजन उसे मेरी सेवा का लाभ नहीं उठाने देते। यह भी हो सकता था कि अन्य मुनिजन उसकी सेवा भी करने लग जाते। सेवा के लाभ से वंचित रहने पर उसकी आत्मा को निर्जरा का लाभ प्राप्त नहीं हो पाता।

जैसा कि पूर्व म उल्लेख किया गया है आचार्य शय्यभव न २८ वर्ष की आयु म सयम स्वीकार किया था। इसके पश्चात् ११ वर्ष की अवधि तक उन्होंने सामान्य मुनि के रूप म साधनापूर्ण जीवन व्यतीत किया। इस प्रकार ३९ वर्ष की अवस्था में वे पट्टासीन हुए थे और २३ वर्ष तक आचार्य पद पर रहकर पूर्ण निष्ठा दूरदृष्टि और सुयोग्यतापूर्वक उन्होंने सघ-सचालन का कार्य किया। वीर निर्वाण सवत ९८ मे ६२ वर्ष की आयुष्य पूर्ण कर आचार्य शय्यभव ने स्वर्गगति प्राप्त की। इससे पूर्व ही आचार्य ने अपने प्रतिभाशाली शिष्य यशोभद्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था।

आचार्यश्री यशोभद्रस्वामी एव आचार्यश्री सम्भूतिविजय

आचार्य शय्यभव के पश्चात् पाँचवें पट्टधर आचार्य श्री यशोभद्र स्वामी ने सघ-सचालन का सूत्र सँभाला। जन्म से आप याज्ञिक गोत्रीय ब्राह्मण थे और आचार्य श्री शय्यभव के प्रतिबोध स आपने २२ वर्ष की आयु म सयम स्वीकार कर लिया था। आचार्य पद पर आपने ५० वर्ष की सुदीर्घ अवधि तक सुयोग्यतापूर्वक दायित्व सम्पन्न किया और वीर निर्वाण सवत १४८ म श्री सम्भूतिविजय को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर स्वर्गगति प्राप्त कर ली। श्री सम्भूतिविजय ने ४२ वर्ष की आयु में आचार्य श्री यशोभद्र स्वामी से प्रतिबोधित होकर सयम ग्रहण किया था। इसके पश्चात् ४० वर्ष तक आपने सामान्य मुनि के रूप में साधक जीवन-व्यतीत किया और ८२ वर्ष की आयु म आप आचार्य पद पर सुशोभित हुए थे। ८ वर्ष तक आचार्य श्री सम्भूतिविजय आचार्य पद पर रहकर वीर निर्वाण सवत् १५६ म स्वर्गगति को प्राप्त हुए।

आचार्यश्री भद्रबाहु

आचार्य श्री भद्रबाहु का आचार्य परम्परा में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। आप भगवान के सातवें पट्टधर और पूर्वाचार्य श्री यशोभद्र स्वामी के शिष्य थे। श्री भद्रबाहु का जन्म प्रतिष्ठानपुर में वीर निर्वाण सवत १४ में हुआ था। ४५ वर्ष की अवधि गृहस्थाश्रम म व्यतीत करने के पश्चात् आप प्रव्रजित हुए थे। लगभग ६२ वर्ष की आयु में वीर निर्वाण सवत् १५६ म आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए।

आपके कार्यकाल में सामान्यतः सारे देश में और विशेषतः दक्षिणी भारत में धर्म का उल्लेखनीय प्रसार हुआ था। आपका नाम महान आचार्यों की श्रेणी में लिया जाता है। आप अन्तिम श्रुतकेवली एवं षष्ठ श्रुतकेवली माने गए हैं।

आचार्य भद्रबाहु को चार छेदसूत्रों की रचना का श्रेय प्राप्त है। अपने सुयोग्य शिष्य श्री स्थूलभद्र मुनि को आपने दो वस्तु कम दस पूर्व का ज्ञान प्रदान किया था। ये ही महामुनि श्री स्थूलभद्र आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् आगामी पट्टधर बने थे। योग के क्षेत्र में भी आचार्य भद्रबाहु का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। उत्तर काल में आपने १२ वर्ष तक महाप्राण ध्यान की साधना कर परम सिद्धि की आराधना सम्पन्न की थी। इसके अतिरिक्त आचार्यश्री षष्ठ शासन प्रभावक भी थे। शासन प्रभावना के क्षेत्र में आपकी अद्भुत शक्ति की परिचायक एक घटना उल्लेखनीय है।

आचार्य भद्रबाहु का एक अनुज था—वराहमिहिर। दोनों बन्धुओं ने एक ही साथ प्रव्रज्या ग्रहण की थी। जब अग्रज को आचार्य पद की प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी तो ईर्ष्यावश अनुज वराहमिहिर भ्रष्ट हो गया और प्रतिशोधग्रस्त हो गया। निमित्तज्ञान को अपनी आजीविका का आधार बनाकर वह भाँति भाँति के चमत्कार दिखाने लगा। ऐसे ही चमत्कारों से प्रभावित होकर प्रतिष्ठानपुर-नरेश ने उसे अपना राजपुरोहित नियुक्त कर लिया। यह प्रतिष्ठा प्राप्त कर मुनियों के प्रति वैमनस्य का भाव उसके मन में तीव्रतर हो गया था। एक अवसर ऐसा भी आया जब आचार्य भद्रबाहु का आगमन इस राज्य में हुआ और नरेश आचार्य दर्शनार्थ पहुँचा। वराहमिहिर भी उसके साथ था। संयोग की बात है कि उसी समय किसी ने वहाँ आकर एक शुभ समाचार दिया कि राजा को पुत्र की प्राप्ति हुई है। राजपुरोहित ने राजा के पुत्र के भविष्य का उल्लेख करते हुए कहा कि राजन्! आपका पुत्र दीर्घायु होगा—शतायु होगा। आचार्य भद्रबाहु ने जो यह सुना और शासन प्रभावना हेतु निमित्त को प्रकट करते हुए कथन किया कि शिशु बिल्ली द्वारा सातवें दिन ही मारा जायगा। वराहमिहिर आचार्य के कथन को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगा और शिशु रक्षा की कड़ी व्यवस्था कर दी गई। सातवें दिन ऊपर से अर्गला गिर पड़ी और बालक की मृत्यु हो गयी। इस अर्गला पर बिल्ली का चित्र अंकित था। अपना कथन मिथ्या और आचार्य का कथन सत्य सिद्ध हो जाने पर वराहमिहिर और कुपित हो गया। उसने प्रव्रज्या धारण की और घोर तप कर व्यन्तरदेव बना तथा जिनधर्मानुयायियों को उत्पीड़ित करने लगा। आचार्य भद्रबाहु ने 'उवसग्गहर' स्तोत्र की रचना की और व्यापक रूप से इस स्तोत्र की आराधना होने लगी। परिणामतः व्यन्तर की उत्पीड़क गतिविधियों को पराजित होना पड़ा।

७६ वर्ष की आयुष्यपूर्ति पर वीर निर्वाण संवत् १७० में भद्रबाहु का स्वर्गारोहण हुआ।

आचार्य स्थूलभद्र

आचार्य स्थूलभद्र भगवान के आठवें पट्टधर थे। नन्द वंश के नौवें शासक का इतिहास प्रसिद्ध महामात्य था—शकटार। शकटार अपने बुद्धि-वैभव और नीति कौशल के लिए अत्यन्त यशस्वी था। स्थूलभद्र शकटार के पुत्र थे। इनका जन्म गौतम गोत्रीय इस ब्राह्मण परिवार में पाटलिपुत्र नगर में वीर निर्वाण संवत् ११६ में हुआ था। स्थूलभद्र को अनेक कलाचार्यों के संरक्षण में शिक्षित किया गया था। परिणामतः वे विभिन्न कलाओं में निपुण होगये किन्तु अपने पिता के विपरीत व सांसारिक व्यवहार के क्षेत्र में शून्य ही थे। अतः पिता ने उन्हें नगर की गणिका—कोशा के यहाँ रख दिया था कि उनमें व्यवहार कौशल भी आ जाय। पिता के इस प्रयत्न का परिणाम भी विलोम ही रहा। अतीव रूपमती कोशा के आकर्षण में स्थूलभद्र बेतरह ग्रथित हो गये। कहा जाता है कि वह आसक्ति इतनी अधिक तीव्र थी कि लगातार १२ वर्षों तक स्थूलभद्र कोशा के भवन से एक बार भी बाहर नहीं निकले। किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि इस घोर अनुरक्ति के अन्तिम छोर के रूप में ही अनासक्ति की स्थिति बनी थी। इस प्रकार स्थूलभद्र के गौरवपूर्ण व्यक्तित्व निर्माण में इस प्रवृत्ति की भी भूमिका रही। इसी काल में पिता महामात्य शकटार का देहान्त होगया और उनके स्थान पर कार्यरत होने के लिए स्थूलभद्र से प्रस्ताव किया गया। स्थूलभद्र ने राजनीतिक छल छद्मों को पिता के समय भली भाँति देखा था अतः इस पद की स्वीकृति के स्थान पर उनके मन में विरक्ति का भाव उदित हुआ और आचार्य सम्भूतिविजय के चरणाश्रय में उन्होंने संयम स्वीकार कर लिया। गुरु सेवा और ज्ञानार्जन की प्रवृत्तियों के साथ स्थूलभद्र मुनि अपना साधक-जीवन व्यतीत करने लगे। तभी उनके अद्भुत चातुर्मास का अवसर आगया।

स्थूलभद्र मुनि ने देखा कि उनके सहचर मुनियों ने चातुर्मास के लिए विचित्र विचित्र अभिग्रहों का चयन किया। किसी मुनि ने सिंह कन्दरा में चातुर्मास व्यतीत करने का निश्चय किया था तो किसी अन्य मुनि ने इस हेतु नाग की बाँबी का स्थान चुना। प्रेरणा प्राप्त कर स्थूलभद्र ने भी एक अद्भुत निश्चय किया। उन्होंने गणिका कोशा का गृह अपने चातुर्मास के लिए निश्चित कर लिया। जो स्थान कभी स्थूलभद्र के लिए सांसारिक वासनाओं और रागात्मक वृत्तियों की तृप्ति का केन्द्र बना था—अब उसी स्थान पर संयमित और निर्विकार जीवन के ४ माह अचंचल भाव से व्यतीत करने का निश्चय-वस्तुतः विचित्र भी था और मुनि स्थूलभद्र के अडिग आत्मविश्वास का पुरस्कारक भी। वस्तुतः यह चातुर्मास इनके लिए एक कठोर परीक्षा ही थी।

जब से स्थूलभद्र ने संयम स्वीकार कर लिया था सुन्दरी कोशा को उनका अभाव त्रस्त करता रहता था। उनकी स्मृति मात्र से कोशा का हृदय कसमसाने लगता था। लम्बी और असह्य प्रतीक्षा के पश्चात् एक दिन जब स्थूलभद्र मुनि को

विकास बाधित न रहा। स्वयं भगवान को भी धर्म के भविष्य के विषय में इसी प्रकार का विश्वास था। इन्द्रभूति गौतम के एक प्रश्न के उत्तर में भगवान ने अपनी निर्वाण-प्राप्ति के कुछ ही पूर्व यह स्पष्ट किया था कि उनके पश्चात् धर्म का विकास कुछ विशेष नहीं रहेगा। उनकी धारणा थी कि इस पर भस्म ग्रह है और इस प्रभाव को किसी दृष्टि से टाला भी नहीं जा सकता। भगवान महावीर ने यह घोषणा भी की थी कि इस दृष्टि से यह २००० वर्षों की अवधि अवक्रमण काल रहेगी।

वस्तुतः धर्म का यह अवक्रमण भगवान के निर्वाण के अनन्तर ही आरम्भ हो गया था। यह भी सत्य है कि निर्वाणोत्तर काल के आरम्भ में ऐसा स्पष्ट परिलक्षित नहीं होता और इसका कारण यह है कि वह ऐसा समय था जब बाधक परिस्थितियाँ अधिक सशक्त नहीं हो पायी थीं। उस काल में अवक्रमण इतना मन्द था कि उसका सहज ही आभास कठिन लगता है। इसके अतिरिक्त आचार्य सुधर्मा स्वामी, आचार्य जम्बू स्वामी आदि स्थविरों के पुरुषार्थपूर्ण सबल प्रयासों ने अवक्रमण के प्रभाव को दूर रखे रखा। इन प्रारम्भिक आचार्यों की भगवान से दूरी अधिक नहीं थी। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, बाधक तत्त्व सशक्त होते गये और उनसे संघर्ष की शक्ति भी क्षीण होती गयी। परिणामतः अवक्रमण का दुष्प्रभाव कालान्तर में स्पष्ट दिखायी देने लगा। भगवान के कथनानुसार ऐसा होना भी स्वाभाविक ही था। इस अवक्रमण से धर्म को मुक्त रखना सम्भव नहीं था। वीर निर्वाण की छठी शताब्दी में दिगम्बर मत आरम्भ हो गया था—जिसने धर्म की समग्र एकरूपता को विच्छिन्न कर दिया था, उसमें टूटन आरम्भ हो गयी थी। इसी प्रकार वी० नि० आठवीं शती में आरम्भ चैत्यवास की प्रबलता आदि नवनवीन समाकर्षित आचार विचार जब थे उनसे विनाश प्रभाव होना निश्चित ही था। वीर निर्वाण के पश्चात् १ ०० वर्षों का समय तो जैनधर्म के लिए ऐसा काल कहा जा सकता है जब प्रगति धीमी थी और उसके प्रतिरोधी तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक सबल थे। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक यह स्थिति मानी जा सकती है और इसके भी पश्चात् का १० ० वर्षों का काल तो ऐसा रहा जिसमें धर्म का उत्तरोत्तर ह्रास होता रहा।

ह्रासमूलक इस काल में भी धर्मज्योति को प्रखर बनाने के प्रयत्नकर्ता महापुरुषों का आविर्भाव अवश्य हुआ, यथा श्री अभयदेव सूरि, श्री हेमचन्द्राचार्य, श्री हरिभद्र सूरि, श्री सिद्धसेन दिवाकर आदि। इनके अतिरिक्त आचारनिष्ठ और प्रभावपूर्ण श्रमण जन भी इतिहास में विद्यमान हैं तथापि ह्रास से धर्म की रक्षा का ऐसा कोई प्रभावी और सबल प्रयत्न नहीं दिखायी देता जो सुपरिणामदायी रहा हो। *आचार्य हरिभद्र सूरि ने अपने समकालीन धर्माधिकारियों की पतितावस्था का चित्रण सम्बोध प्रकरण में अत्यन्त खिन्नमनस्कता के साथ किया है—*

हैं—ये तथाकथित मुनि ज्योतिष निमित्त मंत्रयोगादि का प्रयोग करते हैं—प्रतिदिन पाप साधना में लगे रहते हैं।

तत्कालीन मुनि जीवन के विषय में यह भी कहा गया कि—

गृहस्थों के आगे केवल प्रदर्शन के लिए स्वाध्याय कर लेते हैं और शिष्यों के लिए प्राय क्लेश किया करते हैं।

साथ ही आचार्य हरिभद्र सूरि ने उपर्युक्त प्रकरण में यहाँ तक वर्णित कर दिया है कि ये मूर्ख साधु केवल मूर्खों का ही सुन्दर लगते हैं अन्यथा विवेकवान व्यक्तियों को तो ये साक्षात विराधक और पाप रूह प्रतीत होते हैं।

यह चित्रण स्पष्ट प्रमाण है कि निरन्तर अधोगति के कारण धर्म किस विकृत और पतित अवस्था में पहुंच गया था। आचार्य श्रीमद हरिभद्र सूरि ने श्रमणवर्गियों की दुरवस्था की ओर संकेत करते हुए यह भी कहा कि मूर्ख कहते हैं कि ये (मुनि) भी तीर्थंकरों का भेष है अत नमनीय है। ऐसे अल्पज्ञ व्यक्तियों का क्या कहें मैं विचारों की यह पसक किस कहू—

बलाग्रमति एव वेसो तित्थयराण एसोवि।
णमणिज्जो छिद्दो अहो सिर सूल कस्स पुक्करियो॥

इस प्रकार इस अवश्रमण युग में श्रमणधर्म की बड़ी हानि हो रही थी और मिथ्याचार आडम्बर तथा प्रदर्शन का बोलबाला था। यथार्थ और शुद्ध आचार भी सर्वथा लुप्त तो नहीं हो गया था किन्तु वह अपनी अल्पसंख्यता में था और स्पष्ट परिलक्षित नहीं हो पा रहा था। धर्मविहित आचार पद्धति के शैथिल्य को दूर करने और मिथ्यात्व को परास्त करने के उन्नायक प्रयत्न इस काल में भी होते अवश्य रहे। सविग्न सम्प्रदाय की स्थापना खरतरगच्छ तपगच्छ आदि ऐसे ही प्रयत्न थे जो धर्म की प्रांजलता के प्रयोजन से प्रारम्भ हुए। किन्तु ये प्रयत्न प्रतिरोधी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में पूर्ण प्रबल सिद्ध नहीं हो पाये और पराजित ही रहे। यह निरा निराशा का ही युग था जब सर्वत्र घनान्धकार का गहन आच्छादन था और आलोक की तीक्ष्ण रश्मियाँ उसे विदीर्ण नहीं कर पा रही थी।

६ उत्क्रांति युग

अनन्त कृष्णपक्ष बीता—शुक्लपक्ष आया। धर्म के चन्द्र में कान्ति का विकास आरम्भ हुआ। एक पर्वत से शिखर के दूसरे पर्वत के शिखर तक की यात्रा के समान धर्म की यह यात्रा रही। पहले शिखर से यात्री को नीचे उतरना पड़ता है वह निरन्तर नीचे से नीचे की ओर चलता चला जाता है जब तक कि वह तलहटी में नहीं पहुंच जाता फिर वह उन्नत होने लगता है पर्वत पर आरोहण आरम्भ होता है। धर्म भी इसी प्रकार जब चरम पतन की अवस्था में पहुंच गया तो तदनन्तर ऊर्ध्व की ओर उन्मुख हुआ। दुष्प्रवृत्तियाँ निर्बल होने लगी और सद्प्रयत्नों का प्रभाव बढ़ने लगा। यह बार निराश की दूसरी सद्गति की समाप्ति का काल था। इस

ाल में परम शक्तिशाली महापुरुषों ने धर्माचार के यथार्थ स्वरूप को पुनप्रतिष्ठित ्या। ऐसे महापुरुषों के सद्प्रयत्नों को निस्सन्देह ऐतिहासिक महत्त्व का कहा जा क्ता है।

श्री लोकाशाह

लोकाशाह का नाम इस युग के उन सर्वप्रमुख धर्म-सुधारक महापुरुषों की ्रपंक्ति में गिना जाता है जिन्होंने विकार एवं क्षीणताग्रस्त जैनधर्म को ऊर्ध्वमुखी ना दिया। श्री लोकाशाह की आन्तरिक प्रेरणा और आत्म चिन्तन ने ही इस पवित्र ात्र में उन्हें सक्रिय किया था और उनकी धर्मप्रवृत्ति दृढ़ता एवं मनोबल ने उन्हें ाफलता प्रदान की थी।

गुजरात प्रान्त के अरहट्टवाडा नगर में लोकाशाह का जन्म विक्रम ावत् १४७२ में हुआ था। इनके माता पिता का नाम क्रमशः गंगाबाई एवं हेमाशाह ा। चौधरी परिवार में जन्मे श्री लोकाशाह बड़ी ही कुशाग्रबुद्धि के थे। बाल्यावस्था ें ही उनमें भावी उत्कर्ष के चिह्न स्पष्ट परिलक्षित होते थे। सामान्य शिक्षा भी ्न्होंने अच्छे स्तर तक प्राप्त की और उचित अवस्था प्राप्त कर लेने पर उनका ेवाह करा दिया गया। गृहस्थ जीवन के प्रति विशेष आकर्षण का भाव उनमें ा ही नहीं। वे तो उदासीन थे—सांसारिकता के प्रति। अभिभावकीय आग्रह का ्ी शिरोधार्य मानकर श्री लोकाशाह ने परिणय सूत्र बंधन स्वीकारा था। कालान्तर में ्न्हें पुत्र प्राप्ति भी हुई। पत्नी का नाम सुनन्दा और पुत्र का नाम पूर्णचन्द्र था। २३ २४ वर्ष की आयु में जब श्री लोकाशाह ने प्रवेश किया तो एक वर्ष के अन्तराल ें ही माता और पिता—दोनों का स्वर्गवास हो गया। खिन्न लोकाशाह अरहट्टवाडा ा परित्याग कर अहमदाबाद आ गये। उनके प्रज्ञा कौशल और कार्य दक्षता के गुणों े इस नये वातावरण में भी उन्हें सुस्थिर कर दिया और उनकी योग्यता की चर्चा ूर-दूर तक व्याप्त हो गयी। इस ख्याति से अहमदाबाद का नरेश मोहम्मदशाह भी ेहद प्रभावित हुआ था और उसने उन्हें अपने राज्य में कोषाधिकारी नियुक्त कर ्या। लोकाशाह की सामाजिक प्रतिष्ठा को और भी चार चाँद लग गये।

इस सक्रिय राजकीय वातावरण ने श्री लोकाशाह के मन में जागृति उत्पन्न कर दी। राजनैतिक प्रयोजनों से चलने वाले छल छद्म और दाँव-पेंच, स्वार्थपरता और पाप-पुण्य की अभेदावस्था को देखकर तो उनके सरल मन में उथल-पुथल ही मच गयी। इस प्रतिक्रिया की चरम पराकाष्ठा तब हुई जब राज्यासन की लोलुपतावश मोहम्मदशाह का उसके पुत्र कुतुबशाह ने विष देकर वध कर दिया। इस अघटनीय प्रसंग ने लोकाशाह के मन को लोभग्रस्त जागतिक जीवन के प्रति वितृष्णा और ग्लानि से भर दिया और उन्होंने राजकीय पद का त्याग कर दिया। समय के साथ-साथ धर्मोन्मुखता का गुण भी उनमें दृढ़ से दृढ़तर होने लगा और त्याग प्रधान जीवन की ओर प्रेरित करने वाला जैनधर्म उनके मन में विशिष्ट आकर्षण जगाने लगा।

ने अनुभव किया कि तत्कालीन जनसामान्य का बौद्धिक स्तर अवनत होता चला जा रहा है और इस कारण श्रुतों के लुप्त हो जाने का खतरा है। समग्र श्रुतों का एक साथ अध्ययन बुद्धि की दुर्बलता के कारण संभव नहीं दिखाई दे रहा था। अतः उन्होंने चारों अनुयोगों को पृथक कर दिया। इससे साधारण ज्ञानवान भी श्रुतों का लाभ उठाने में सफल रहने लगे।

आर्य सुशील अणगार (स्कन्दिल)

आर्य नागस्वामी आचार्य रक्षित के उत्तराधिकारी बने थे जो चौबीसवें पट्टधर थे और इनके पश्चात् २५वें पट्टधर जहलविष्णु थे। आर्य सुशील अणगार इन्हीं के उत्तराधिकारी २६वें पट्टधर थे। आपका आचार्यत्व काल लगभग वीर निर्वाण संवत् ८२३ से ८४० माना जाता है।

वह समय धर्मसंघ के लिए विशृंखलन का युग था। अकाल आदि प्राकृतिक आपदाओं के कारण श्रुत-उपस्थिति में भी कमी आने लगी थी और साधु संगठन भी शिथिल होने लगे थे। ऐसी विषम परिस्थितियों में आचार्य स्कन्दिल ने अपने दायित्व को भली भाँति समझा और अपेक्षित दिशाओं में प्रयत्न किये। आपने इस प्रकार युगानुरूप भूमिका का सुन्दरता के साथ निर्वाह किया था। मथुरा में आचार्य स्कंदिल ने साधु समुदाय एकत्रित किया एवं व्यवस्थित वाचना का महान कार्य सम्पन्न किया। मथुरा में होने के कारण यह माथुरी वाचना कहलाती है।

आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

वीर निर्वाण की १०वीं शताब्दी में आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका मिलती है। गुजरात में वेरावल आपका जन्मस्थान था। काश्यप गोत्र के क्षत्रिय कामर्द्धि के पुत्र देवर्द्धि का यह नाम कैसे रखा गया—इस विषय में कहा जाता है कि गर्भवती माता ने स्वप्न में देवताओं की समृद्धि के दर्शन किये थे और इस कारण बालक का नाम देवर्द्धि रखा गया।

अपने आरम्भिक जीवन में देवर्द्धि दुष्कर्मों में लिप्त रहे। पशु हिंसा की वृत्ति उनमें अत्यधिक प्रचण्ड थी। आखेट में उन्हें आनन्द आता था। किन्तु अपने पूर्वभव में देवर्द्धि का जीव अवश्य ही सत्प्राणी रहा। उसी के परिणामस्वरूप वह जीव हरिणगमेषी देव बना था और वहाँ से च्युत होकर उसी जीव ने देवर्द्धि की देह धारण की थी। इनके स्थान पर जो हरिणगमेषी देव बना उसने देवर्द्धि का यह पतन देखा और दुःखित हुआ। उसने देवर्द्धि को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया। आखेटप्रिय देवर्द्धि वन प्रान्त में शिकार की खोज में विचरण कर रहा था कि सहसा एक दारुण परिस्थिति का शिकार वह स्वयं ही हो गया। ऐसी विकट परिस्थिति का सामना इसके पूर्व उसे कभी नहीं करना पड़ा था। देवर्द्धि को दो दिशाओं से दुर्दान्त शूकरों ने घेर लिया था। एक ओर गहरी खाई थी और दूसरी ओर सामने भयंकर घोर गर्जना कर रहा था। ऐसी स्थिति में उसे अपना ...

तभी आकाश मार्ग से अवतरित वाणी उसे सुनायी दी—अब भी सचेत हो ... पर आ अन्यथा तेरा सर्वनाश सुनिश्चित है। यह सब हरिणगमेषी देव की ही ... थी। और जब देवर्द्धि ने आत्म समर्पण करते हुए कहा कि मैं आज्ञानुसार ... करने को तत्पर हूँ तो देव ने तत्काल ही देवर्द्धि को दुष्यगणी के आश्रय में पहुँ... दिया जहाँ प्रतिबोध पाकर उसने संयम स्वीकार कर लिया। इस प्रकार ... से क्या हो गया था।

आचार्य स्कंदिल ने भी आगम वाचना का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कि... था। जैसा कि वर्णित किया ही जा चुका है कि मथुरा में आचार्य स्कंदिल ने ऐसा ही एक सफल प्रयत्न किया था किन्तु उस माथुरी वाचना को लगभग १६० वर्ष हो ... थे और परिस्थितियों का अब पुनः इसी प्रकार का आग्रह होने लगा था। कहा जाता है कि आचार्य देवर्द्धिगणी के लिए औषधि प्रयोजन से कोई सन्त गृहस्थ के यहाँ से एक सोंठ का टुकड़ा लाया था और उन्होंने उसे कान पर लगा लिया था। सन्ध्यापूर्व सोंठ उस गृहस्थ को लौटानी थी किन्तु आचार्य इसे स्मरण न रख सके। प्रतिक्रमण ... समय वन्दन करने लगे तो सोंठ का वह खण्ड नीचे गिरा और तब उन्हें ध्यान आया कि अब तक वे इस कार्य को भुला बैठे थे। आचार्य को युग की दुर्बलता का आभास हो गया कि अब के लोग स्मरणशक्ति में बहुत पिछड़ गये और बुद्धि की मन्दता भी एक सामान्य लक्षण है। तब आगमों की सुरक्षा का क्या होगा। वे भी कहीं विस्मृत न कर दिये जायँ। इस प्रेरणा से आचार्य देवर्द्धिगणी ने आगम वाचना का कार्यारम्भ किया।

वीर निर्वाण संवत् ९८० में तदर्थ व्यापक स्तर पर एक मुनि सम्मेलन का आयोजन वल्लभी में किया गया। मुनिजनों ने अपने कंठाग्र किये गये शास्त्रों का पाठ किया। पाठों में अन्तर भी सामने आने लगे। सत्यासत्य का निर्णय भी यहाँ विचार विमर्श के साथ किया गया। अब तक की वाचनाओं का आश्रय भी लिया और एक महान कार्य सम्पन्न कर लिया गया। यह पहला ही अवसर था कि अब तक केवल कंठों में निवास करने वाले आगमों का व्यवस्थित और लेखबद्ध रूप में ... लिया गया। आगम अब पुस्तकारूढ़ हो गये और इस उपकारी उपलब्धि का श्रेय ... आचार्य देवर्द्धिगणी को जाता है। विस्मरण के अभिशाप से इस प्रकार बचकर ... की धरोहर को सुरक्षित कर लिया।

वीर निर्वाण संवत् ९९० में आचार्य देवर्द्धिगणी ने स्वर्गवास किया। इसके साथ ही जैनधर्म के इतिहास के पूर्वधर काल की समाप्ति समझी जाती है।

(२) अवकर्षण युग

भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के अनन्तर जैनधर्म के अभ्युदय को कुछ ... विशिष्टता युक्त नहीं कहा जा सकता। धर्म का प्रचार हुआ—यह तो सत्य है किन्तु उसके तेज में अपेक्षित उन्नति नहीं हो पायी। उसका निखार अवरुद्ध और उसका

हैं अपितु वे ही धम के के " रह गये हैं। यह विषमता स्वय म इतनी सबन थी कि धम के प्रचलित रूप को शास्त्रीय और मौलिक स्वरूप से सवथा विपरीत सिद्ध करने के लिए पर्याप्त थी। इस प्रचलित स्वरूप को सकारण अधार्मिक व्यवहार कहा जा सकता था। लोकाशाह ने धर्म का यह ह्रास देखा और वह दुखित हुए। उन्होंने प्रचलित धम-स्वरूप का परिष्कृत करन और उसे उसके मौलिक रूप म पुनप्रतिष्ठित करने का सकल्प धारण कर लिया। इस निमित्त यह भी आवश्यक था कि तत्कालीन प्रचलित धम का विरोध किया जाय और उन्होंने प्रबल विरोध की प्रचण्ड शक्ति का आह्वान किया। उनका मन्तव्य धम म प्रविष्ट विकारो और शथिल्य को दूर करने का ही था। इस प्रयत्न के साफल्य न लोकाशाह को महान धम-सुधारक का यशस्वी स्थान प्रदान कर दिया है।

जनधम म व्याप्त विकृतियो और आडम्बरों को ध्वस्त कर धम को उसकी वास्तविक कान्ति से पुन सम्पन्न करने का उद्यम यथार्थ में अतिमहान था जिसे लोंकाशाह न पूण गरिमा के साथ पूरा किया और इसमे उनका सहायक रहा—उनका शास्त्र ज्ञान। अत्यन्त विनयपूर्ण ढग से और सादगी के साथ इस क्रान्ति का उन्होंने सचालन किया। ज्ञान का दम्भ नही, महान कार्य म प्रवत्ति का दप नहीं अपन विचार प्रसाराथ व्यापक देशाटन भी नहीं। लोकाशाह ने ता अपने क्रान्तिकारी उद्देश्य की पूर्ति हेतु सीधा-सादा माग अपनाया। अपने सम्पक मे आने वाले व्यक्तियो को धम का वास्तविक रूप समझाना प्रचलित आडम्बरो को मिथ्या सिद्ध करना—यही उनका प्रयत्न-स्वरूप रहा करता था। उनके तर्कों म बल था उनकी वाणी म सत्य का ओज था। परिणामत उनके प्रभाव क्षत्र का उत्तरोत्तर विस्तार होता चला गया। उनके विचार शास्त्रोक्तियों से समर्थित हो जाते थे अत सभी के लिए विश्वसनीय थे। लोकाशाह लोकोपकारक समझे जान लगे क्योंकि वे जैनधम के वास्तविक आचार माग को सवसाधारण के लिए स्पष्ट और सुलभ कर रहे थे।

कुछ ही कालक्षप के अनन्तर उनके अनुयायियों की अच्छी खासी सख्या हो गयी। व अपने निवास पर ही धर्मोपदेश दिया करते थे और धमबोध प्राप्ति के अभि लाषी जन विशाल सख्या म उनके निवास स्थान पर एकत्रित हुआ करते थ और धम तत्त्व की चर्चा किया करते। *उनके उपदेशो के आधार बिन्दु मूलत निम्नानुसार रहा करते थे—*

(क) शास्त्रो म तीथकर भगवानो की मूर्ति और उन मूर्तियो की पूजा के लिए कोई स्थान नहीं है। दुर्भाग्य स आज धमपालन मे ये विकार आ गये हैं और य इतन सबल हो गय हैं कि धर्माचार इन्हीं के इद गिद चक्रित हो रहा है। यह मिथ्या चार है और *इसे दूर करके ही धर्म को उसके वास्तविक स्वरूप मे देखा जा सकता है।*

(ख) प्रतिष्ठा आदि कार्यों म होने वाली हिसा धर्म नहीं अधम है।

अपितु ये ही धम के केन्द्र रह गये हैं। यह विषमता स्वय मे इतनी सबल थी कि म के प्रचलित रूप को शास्त्रीय और मौलिक स्वरूप से सवथा विपरीत सिद्ध करने लिए पर्याप्त थी। इस प्रचलित स्वरूप को सकारण अधार्मिक व्यवहार कहा । सकता था। लोकाशाह ने धर्म का यह ह्रास देखा और बड़ दुखित हुए। उन्होने प्रचलित मस्वरूप का परिष्कृत करन और उसे उसके मौलिक रूप म पुनप्रतिष्ठित रन का सकल्प धारण कर लिया। इस निमित्त यह भी आवश्यक था कि त्कालीन प्रचलित धम का विरोध किया जाय और उन्होने प्रबल विरोध की चण्ड शक्ति का आह्वान किया। उनका मन्तव्य धम म प्रविष्ट विकारों और शिथिल्य ो दूर करने का ही था। इस प्रयत्न के साफल्य न लोकाशाह का महान धर्म-सुधारक ा यशस्वी स्थान प्रदान कर दिया है।

जनधम म व्याप्त विकृतियो और आडम्बरो को ध्वस्त कर धम को उसकी ास्तविक कान्ति से पुन सम्पन्न करने का उद्यम यथार्थ मे अतिमहान था जिसे ोकाशाह न पूण गरिमा के साथ पूरा किया और इसमे उनका सहायक रहा—उनका ास्त्र ज्ञान। अत्यन्त विनयपूर्ण ढग से और सादगी के साथ इस क्राति का उन्होने ंचालन किया। ज्ञान का दभ नहीं महान कार्य मे प्रवृत्ति का दप नहीं अपने विचार ्रसाराथ व्यापक देशाटन भी नही। लोकाशाह ने तो अपने क्रान्तिकारी उद्देश्य की ूर्ति हेतु सीधा-सादा माग अपनाया। अपने सम्पक में आने वाले व्यक्तियो को धर्म का ास्तविक रूप समझाना प्रचलित आडम्बरों को मिथ्या सिद्ध करना—यही उनका यत्न-स्वरूप रहा करता था। उनके तर्कों मे बल था उनकी वाणी म सत्य का ओज ा। परिणामत उनके प्रभाव-क्षेत्र का उत्तरोत्तर विस्तार होता चला गया। उनके ेचार शास्त्रोक्तियो से समर्थित हो जाते थे अत सभी के लिए विश्वसनीय थे। ोकाशाह लोकोपकारक समझे जाने लगे क्योकि वे जैनधम के वास्तविक आचार माग ो सवसाधारण के लिए स्पष्ट और सुलभ कर रहे थे।

कछ ही कालक्षप के अनन्तर उनके अनुयायियों की अच्छी खासी सख्या हो ायी। व अपने निवास पर ही धर्मोपदेश दिया करते थे और धमबोध प्राप्ति के अभि ाषी जन विशाल सख्या म उनके निवास स्थान पर एकत्रित हुआ करते थे और धम ात्त्व की चर्चा किया करते। उनके उपदेशो के आधार बिन्दु मूलत निम्नानसार रहा करते थे—

(क) शास्त्रो मे तीथकर भगवानों की मूर्ति और उन मूर्तियो की पूजा के लिए कोई स्थान नहीं है। दुर्भाग्य से आज धमपालन में ये विकार आ गये हैं और य इतने सबल हो गये हैं कि धर्माचार इन्हीं के इद गिद चक्रित हो रहा है। यह मिथ्या चार है और इसे दूर करके ही धर्म को उसके वास्तविक स्वरूप मे देखा जा सकता है।

(ख) प्रतिष्ठा आदि कार्यो मे होने वाली हिंसा धर्म नहीं अधम है।

अपितु ये ही धर्म के केन्द्र रह गये हैं। यह विषमता स्वयं में इतनी सबल थी कि धर्म के प्रचलित रूप को शास्त्रीय और मौलिक स्वरूप से सर्वथा विपरीत सिद्ध करने के लिए पर्याप्त थी। इस प्रचलित स्वरूप को सकारण अधार्मिक व्यवहार कहा जा सकता था। लोकाशाह ने धर्म का यह ह्रास देखा और बड़े दुखित हुए। उन्होंने प्रचलित धर्म-स्वरूप का परिष्कृत करने और उसे उसके मौलिक रूप में पुनर्प्रतिष्ठित करने का संकल्प धारण कर लिया। इस निमित्त यह भी आवश्यक था कि तत्कालीन प्रचलित धर्म का विरोध किया जाय और उन्होंने प्रबल विरोध की प्रचण्ड शक्ति का आह्वान किया। उनका मन्तव्य धर्म में प्रविष्ट विकारों और शैथिल्य को दूर करने का ही था। इस प्रयत्न के साफल्य ने लोकाशाह को महान धर्म-सुधारक का यशस्वी स्थान प्रदान कर दिया है।

जैनधर्म में व्याप्त विकृतियों और आडम्बरों को ध्वस्त कर धर्म को उसकी वास्तविक कान्ति से पुनः सम्पन्न करने का उद्यम यथार्थ में अतिमहान था जिसे लोकाशाह ने पूर्ण गरिमा के साथ पूरा किया और इसमें उनका सहायक रहा—उनका शास्त्र ज्ञान। अत्यन्त विनयपूर्ण ढंग से और सादगी के साथ इस क्रान्ति का उन्होंने संचालन किया। ज्ञान का दंभ नहीं महान कार्य में प्रवृत्ति का दर्प नहीं अपने विचार प्रसारार्थ व्यापक देशाटन भी नहीं। लोकाशाह ने तो अपने क्रान्तिकारी उद्देश्य की पूर्ति हेतु सीधा-सादा मार्ग अपनाया। अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को धर्म का वास्तविक रूप समझाना प्रचलित आडम्बरों को मिथ्या सिद्ध करना—यही उनका प्रयत्न-स्वरूप रहा करता था। उनके तर्कों में बल था उनकी वाणी में सत्य का ओज था। परिणामतः उनके प्रभाव-क्षेत्र का उत्तरोत्तर विस्तार होता चला गया। उनके विचार शास्त्रोक्तियों से समर्थित हो जाते थे अतः सभी के लिए विश्वसनीय थे। लोकाशाह लोकोपकारक समझे जाने लगे क्योंकि वे जैनधर्म के वास्तविक आचार मार्ग को सर्वसाधारण के लिए स्पष्ट और सुलभ कर रहे थे।

कुछ ही कालक्षेप के अनन्तर उनके अनुयायियों की अच्छी खासी संख्या हो गयी। वे अपने निवास पर ही धर्मोपदेश दिया करते थे और धर्मबोध प्राप्ति के अभिलाषी जन विशाल संख्या में उनके निवास स्थान पर एकत्रित हुआ करते थे और धर्म तत्त्व की चर्चा किया करते। उनके उपदेशों के आधार बिन्दु मूलतः निम्नानुसार रहा करते थे—

(क) शास्त्रों में तीर्थंकर भगवानों की मूर्ति और उन मूर्तियों की पूजा के लिए कोई स्थान नहीं है। दुर्भाग्य से आज धर्मपालन में ये विकार आ गये हैं और ये इतने सबल हो गये हैं कि धर्माचार इन्हीं के इर्द गिर्द चक्रित हो रहा है। यह मिथ्याचार है और इसे दूर करके ही धर्म को उसके वास्तविक स्वरूप में देखा जा सकता है।

(ख) प्रतिष्ठा आदि कार्यों में होने वाली हिंसा धर्म नहीं अधर्म है।

तभी आकाश माग स अवतरित वाणी उसे सुनायी दी—अब भी सचत हो
पर आ अन्यथा तेरा सवनाश सुनिश्चित है। यह सब हरिणगमपी देव की
थी। और जब देवर्द्धि ने आत्म-समपण करते हुए कहा कि मैं आज्ञानुसार
करने को तत्पर हू तो देव ने तत्काल ही देवर्द्धि को दुष्यगणी के आश्रय में
दिया जहाँ प्रतिबोध पाकर उसने सयम स्वीकार कर लिया। इस प्रकार देवर्द्धि
से क्या हो गया था।

आचार्य स्कन्दिल ने भी आगम वाचना का महत्त्वपूर्ण काय सम्पन्न
था। जसा कि वर्णित किया ही जा चुका है कि मथुरा म आचाय स्कन्दिल ने ए
एक सफल प्रयत्न किया था किन्तु उस माथुरी वाचना को लगभग १५० वष हो
य और परिस्थितियो का अब पुन इसी प्रकार का आग्रह होने लगा था। कहा
है कि आचार्य देवर्द्धिगणी के लिए औषधि प्रयोजन से कोई सन्त गृहस्थ के यहाँ से
सौंठ का टुकड़ा लाया था और उन्होंने उस कान पर लगा लिया था। सध्यापूव
उस गहस्थ को लौटानी थी किन्तु आचाय इसे स्मरण न रख सके। प्रतिक्रमण
समय व दन करने लगे तो सौंठ का वह खण्ड नीचे गिरा और तब उन्हें ध्यान
कि अब तक व इस काय को भुला बठे थ। आचाय को युग की दुबलता का आभा
हो गया कि अब के लोग स्मरणशक्ति म बहुत पिछड़ गये और बुद्धि की मन्दता
एक सामा य लक्षण है। तब आगमों की सुरक्षा का क्या होगा। वे भी कहीं विलु
न कर दिये जाय। इस प्रेरणा स आचार्य देवर्द्धिगणी ने आगम वाचना का
कार्यारम्भ किया।

वीर निर्वाण सवत् ९८० म तदथ व्यापक स्तर पर एक मुनि सम्मलन का
आयोजन वल्लभी म किया गया। मुनिजनों ने अपन कठाग्र किय गय शास्त्रों का
पाठ किया। पाठों म अन्तर भी सामने आन लगे। सत्यासत्य का निणय भी
विचार विमश क साथ किया गया। अब तक की वाचनाओं का आश्रय भी लि
और एक महान कार्य सम्पन्न कर लिया गया। यह पहला ही अवसर था कि अ
तक कवल कठों म निवास करन वाल आगमों का व्यवस्थित और लेखबद्ध रूप दे
दिया गया। आगम अब पुस्तकारूढ़ हो गय और इस उपकारी उपलब्धि का श्रेय
श्रय आचार्य देवर्द्धिगणी को जाता है। विस्मरण के अभिशाप से इस प्रकार ग्रन्थों
की धरोहर को सुरक्षित कर लिया।

वीर निर्वाण सवत् ९९० म आचार्य देवर्द्धिगणी ने स्वगगमन किया। इसके
साथ ही जैनधर्म क इतिहास क पूवधर काल की समाप्ति समझी जाती है।

(१) अवकनत्म युग

भगवान महावीर स्वामी क निर्वाण क अन तर जनधम क अभ्युदय को पुष्ट
कि घटना पुष्ट न ? कहा जा सकता। धम का प्रचार हुआ—यह तो सत्य है किन्तु
उसक रव म भी अब उन्नति नहीं हो पायी। उसका निखार अवरुद्ध और उसका

अपितु ये ही धर्म के केन्द्र रह गये हैं। यह विषमता स्वयं में इतनी सबल थी कि धर्म के प्रचलित रूप का शास्त्रीय और मौलिक स्वरूप से सर्वथा विपरीत सिद्ध करने के लिए पर्याप्त थी। इस प्रचलित स्वरूप को सकारण अधार्मिक व्यवहार कहा जा सकता था। लोकाशाह ने धर्म का यह ह्रास देखा और बड़े दुखित हुए। उन्होंने प्रचलित धर्म-स्वरूप का परिष्कृत करने और उसे उसके मौलिक रूप में पुनर्प्रतिष्ठित करने का संकल्प धारण कर लिया। इस निमित्त यह भी आवश्यक था कि तत्कालीन प्रचलित धर्म का विरोध किया जाय और उन्होंने प्रबल विरोध की प्रचण्ड शक्ति का आह्वान किया। उनका मन्तव्य धर्म में प्रविष्ट विकारों और शिथिल्य को दूर करने का ही था। इस प्रयत्न के साफल्य ने लोंकाशाह को महान धर्म-सुधारक का यशस्वी स्थान प्रदान कर दिया है।

जनधर्म में व्याप्त विकृतियों और आडम्बरों को ध्वस्त कर धर्म को उसकी वास्तविक कान्ति से पुनः सम्पन्न करने का उद्यम यथार्थ में अतिमहान था जिसे लोंकाशाह ने पूर्ण गरिमा के साथ पूरा किया और इसमें उनका सहायक रहा—उनका शास्त्र ज्ञान। अत्यन्त विनयपूर्ण ढंग से और सादगी के साथ इस क्रान्ति का उन्होंने संचालन किया। ज्ञान का दंभ नहीं महान कार्य में प्रवृत्ति का दर्प नहीं अपने विचार प्रसारार्थ व्यापक देशाटन भी नहीं। लोकाशाह ने तो अपने क्रान्तिकारी उद्देश्य की पूर्ति हेतु सीधा-सादा मार्ग अपनाया। अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को धर्म का वास्तविक रूप समझाना प्रचलित आडम्बरों को मिथ्या सिद्ध करना—यही उनका प्रयत्न-स्वरूप रहा करता था। उनके तर्कों में बल था उनकी वाणी में सत्य का ओज था। परिणामतः उनके प्रभाव क्षेत्र का उत्तरोत्तर विस्तार होता चला गया। उनके विचार शास्त्रोक्तियों से समर्थित हो जाते थे अतः सभी के लिए विश्वसनीय थे। लोंकाशाह लोकोपकारक समझे जाने लगे क्योंकि वे जैनधर्म के वास्तविक आचार मार्ग को सर्वसाधारण के लिए स्पष्ट और सुलभ कर रहे थे।

कुछ ही कालक्षेप के अनन्तर उनके अनुयायियों की अच्छी खासी संख्या हो गयी। वे अपने निवास पर ही धर्मोपदेश दिया करते थे और धर्मबोध प्राप्ति के अभिलाषी जन विशाल संख्या में उनके निवास-स्थान पर एकत्रित हुआ करते थे और धर्म तत्त्व की चर्चा किया करते। उनके उपदेशों के आधार बिन्दु मूलतः निम्नानुसार रहा करते थे—

(क) शास्त्रों में तीर्थंकर भगवानों की मूर्ति और उन मूर्तियों की पूजा के लिए कोई स्थान नहीं है। दुर्भाग्य से आज धर्मपालन में ये विकार आ गये हैं और ये इतने सबल हो गये हैं कि धर्माचार इन्हीं के इर्द गिर्द चक्रित हो रहा है। यह मिथ्याचार है और इसे दूर करके ही धर्म को उसके वास्तविक स्वरूप में देखा जा सकता है।

(ख) प्रतिष्ठा आदि कार्यों में होने वाली हिंसा, धर्म नहीं अधर्म है।

(ग) साधुजनों का आचार अपने वास्तविक रूप से भटक गया है। भगवान महावीर के श्रमणाचार का ही पालन होना चाहिये। इसमें धीरे धीरे जो विकृतियाँ आ गयी हैं उन्हें दूर करना अत्यन्त आवश्यक है।

यथार्थ यह है कि धर्माचरण और साध्वाचार बड़ा दुरूह मार्ग है। इस पर गतिशील रहना कष्टसाध्य ही नहीं अपितु विशेष क्षमता भी इसके लिए अपेक्षित होती है। अतः इसे सुविधाजनक बनाने के लिए इसमें अनेक ऐसे परिवर्तन कर लिए गये कि यह सुगम होगया। ऐसे परिवर्तनकारी जन और ऐसे परिवर्तित (विकृत) आचार का पालन करने वाले व्यक्ति सुविधावादी कहे जाते थे। लोकाशाह जब मिथ्याचार का आवरण हटाकर धर्म के वास्तविक रूप को उद्घाटित करने लगे तो यह सुविधावादी लगे और सुविधावादियों की ओर से लोकाशाह का विरोध होना भी स्वाभाविक ही था। सुविधावादियों की संख्या तो इस समय अपरिमित थी ही। अतः लोकाशाह का कार्य और भी दुरूह होगया था किन्तु मेघाच्छादन सूर्य के प्रचण्डालोक को कब तक बाधित रख सकता है। अन्ततः विजय तो रवि रश्मियों की ही होती है। मिथ्यात्व को पीछे धकेलते हुए धर्म का यथार्थ स्वरूप लोकाशाह के नेतृत्व में आगे बढ़ता ही गया। ज्यों ज्यों यथार्थ रूप सबल होने लगा धर्म के आडम्बर डगमगाने लगे और सुविधावादियों के पैर उखड़ने लगे। लोकाशाह इन लोगों द्वारा की जाने वाली अपनी निन्दा और कटूक्तियों से तनिक प्रभावित न होते थे। वे तो अपने संकल्प की दृढ़ता के साथ अपने अभियान में जुटे रहे। सुविधावादी इन्हें धर्म विरोधी तक कहा करते थे। विकृत धर्मानुयायियों ने लोकाशाह को नियन्त्रण में कर लेने की एक योजना भी बनाई। उन्होंने धर्म के यथास्थिति रहने में ही अपना लाभ समझा था और वे चाहते थे कि किसी प्रकार लोकाशाह अपने कार्य को बन्द कर दें। उनमें से अनेक अल्पज्ञजन तो लोकाशाह के विचारों को ही मिथ्या मानते थे। इन सुविधावादियों ने अपना एक प्रतिनिधि लोकाशाह के पास भेजने का निश्चय किया जो उन्हें उनके मार्ग से हटाकर पुनः भिन्न मार्ग पर ले आने का कार्य कर सके। तत्कालीन प्रसिद्ध संघपति लखमसी भाई को प्रतिनिधि के रूप में चुना गया और उन्हें लोकाशाह के पास इस उद्देश्य से भेजा गया। उन्होंने अपना प्रयत्न भी पूर्ण शक्ति के साथ किया किन्तु पासा पलट कर ही रहा। लखमसी भाई लोकाशाह का रास्ता बदलने गये थे किन्तु वे लोकाशाह के अनुयायी बन गए। लोकाशाह ने अपना दृष्टिकोण सविस्तार प्रस्तुत करते हुए लखमसी भाई को बोध दिया कि शास्त्रानुसार धर्म का जो स्वरूप होना चाहिये वह आज नहीं रहा है और हिंसा तथा मिथ्याचार के दो पाटों के मध्य में पिसकर जैनधर्म का ह्रास होता चला जा रहा है। प्रत्येक विवेकशील धर्मानुयायी का आज की दशा में यह नैतिक कर्तव्य होना चाहिये कि वह इस दुर्दशा से धर्म को मुक्त करे, विकारों और दोषों को दूर कर धर्म को यथार्थ स्वरूप में लाने का प्रयत्न करे। लोकाशाह के तर्कों का लखमसी भाई पर अप्रत्याशित प्रभाव हुआ। उन्हें धर्म के प्रचलित रूप में निहित

का सूत्रपात हुआ और उन्होंने धर्म के उद्धार में महत्त्वपूर्ण कार्य करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

इस प्रकार ने लोंकाशाह की क्रान्ति को प्रत्यक्ष जन्म दी। गुजरात के अनेक बड़ी संख्या में लोंकाशाह के पास आते और उनसे शास्त्र चर्चा करके प्रभावित होकर ही जाते। जब लोंकाशाह अहमदाबाद ही थे [illegible] यहीं 'अरहट्ट-वाड़ा' 'सिरोही', पाटन और सूरत के संघपति अपनी यात्रा के क्रम में अहमदाबाद आये हुए थे और जब उन्होंने ने वहाँ लोंकाशाह की चर्चा सुनी तो सभी के मन में उनके दर्शन करने की उत्कंठा जागी। सारगर्भित उपदेश को सुन कर इन चारों संघों के संघपतियों पर लोंकाशाह की बातों का अमिट प्रभाव हुआ। यात्रियों में से कई ने धर्म की सत्यता का प्रतिपादन करते हुए लोंकाशाह से कहा कि वर्षाऋतु में जीवोत्पत्ति अधिक बढ़ जाती है और इस समय यात्रा करना अहिंसा विरोधी होने के कारण अधार्मिक हुआ है। परिणाम यह हुआ कि चारों संघों ने अपनी यात्रा स्थगित कर दी। चारों संघपतियों ने शुद्ध धर्म के अनुरूप धर्माचरण का स्वीकार करने की तत्परता भी प्रकट की। अनेक संघ सदस्यों में भी वैराग्य ग्रहण करने की बुद्धि जागृत हुई और वे क्रान्तिवीर लोंकाशाह से अत्यधिक प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण करने को उत्सुक हो उठे। यह घटना लोंकाशाह की महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय विजय का उल्लेख थी किन्तु दीक्षा प्रदान करने की पात्रता स्वयं लोंकाशाह में इस कारण न थी कि वे तो गृहस्थ थे। अतः इस प्रयोजन से अन्य मुनि को वहाँ निमन्त्रित किया गया और दीक्षा ग्रहण का क्रम सम्पन्न हुआ। यह घटना संवत् १५[illegible] की बताई जाती है। तदनन्तर संवत् १५३६ में स्वयं लोंकाशाह ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली। अब तक तो उनके अनुयायियों की संख्या लाखों तक पहुँच चुकी थी और अब मुनिपद की प्राप्ति के पश्चात् तो उनका प्रभाव और भी अधिक अभिवर्धित हो गया। बड़ी ही तीव्रता के साथ उनके मत का प्रचार प्रसार होने लगा। उनके ४० शिष्य देश भर में इस महान क्रान्ति को सफल बनाने में जुटे हुए थे।

प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है और तब दो पक्षों का अस्तित्व में आना भी स्वाभाविक ही है। इस स्थिति में दोनों पक्षों के मध्य परस्पर विरोध भी रहता ही है। यही स्थिति लोंकाशाह द्वारा स्थापित चैतन्यवादी विचारधारा और यथास्थितिवादी (अब तक की प्रचलित) विचारधारा की थी। हाँ इस विरोध को व्यक्त करने के ढंग सर्वथा पृथक् पृथक् थे। चैतन्यवादी उदार थे जबकि अन्य विचारधारा वाले उग्र हो जाया करते थे। यथास्थितिवादी धर्म के प्रचलित स्वरूप (जो कि विकृत हो गया था) में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहते थे और लोंकाशाह के अनुयायी चैतन्यवादी विकारशून्य धर्म के स्वरूप को पुनः ले आना चाहते थे। लोंकाशाह ने धर्म में आयी विकृतियों का ही विरोध किया था किसी व्यक्ति विशेष का नहीं। इसके विपरीत यथास्थितिवादी व्यक्तियों को न केवल नई विचारधारा

अपितु इसके अनुयायी भी अप्रिय लगते थे। यही नहीं इस नई विचारधारा के जनक लोंकाशाह तक के साथ कुछ कट्टर पंथियों ने वैमनस्य स्थापित कर लिया। न रहे बाँस न बजे बाँसुरी—के सिद्धान्त को मानने वाले ऐसे व्यक्तियों ने अनेक घृणित एवं जघन्य षड्यन्त्र रचे और उनमें से एक षड्यन्त्र का शिकार मुनि लोंकाशाह को बनना ही पड़ा।

मुनि लोंकाशाह दिल्ली से अलवर आये थे। यहाँ किसी क्रूर षड्यन्त्रकारी ने उन्हें विषाक्त अन्न बहरा दिया। दुष्परिणाम भी अवश्यम्भावी था। विषाक्त अन्न के ग्रहण करने से मुनि लोंकाशाह पर उसका घातक प्रभाव तुरन्त ही होने लगा और उन्हें भी आगामी स्थिति का भी तुरन्त पूर्वाभास होने लगा। उन्होंने तत्काल संलेखना—संथारा स्वीकार कर लिया और विधिपूर्वक अन्तिम क्रिया साधी। इस प्रकार मुनि लोंकाशाह चैत्र शुक्ला एकादशी संवत् १५४६ का स्वर्ग सिधार गये। निश्चय ही जैनधर्म के परिमार्जन के अभियान को मुनि लोंकाशाह के स्वर्गवास से गम्भीर आघात पहुँचा किन्तु उन्होंने अपने अनुयायियों को जितनी दृढ़ता के साथ तैयार किया था—उसके कारण यह अभियान शिथिल नहीं हो पाया। अपने जीवनकाल में ही इस क्रान्ति का जितना आलोक वे प्रसारित कर चुके थे वही इतना पर्याप्त था कि उसका सतत विस्तार असम्भव नहीं रह गया था।

लोंकागच्छ का अभ्युदय

मुनि लोंकाशाह की इस धर्मक्रांति का सत्प्रभाव समग्र भारत देश में व्याप्त हो गया था और धर्म का विकारहीन शुद्ध शास्त्रोक्त स्वरूप निखर आया था। असंख्य जन धर्म के इस नवस्थापित और यथार्थ स्वरूप की आराधना कर लाभान्वित होने लगे थे। अनेक मुनिजन इसका प्रचार प्रसार कर रहे थे और इस प्रकार यथार्थ धर्मानुयायियों और मार्गदर्शकों का विशाल समूह संगठित हो गया जो लोंकागच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लोंकागच्छ के सद्प्रयत्नों के फलस्वरूप ही आगे से आगे धर्मसुधार का कार्य होता रहा और इस प्रकार इस क्रांति का इतिहास ही लोंकागच्छ के इतिहास का पर्याय बन गया था। लोंकागच्छ को धर्मसुधार अभियान का श्रेय जाता है। कालान्तर में लोंकागच्छ सुविधा और सुव्यवस्था की दृष्टि से ३ विभागों में विभक्त हो गया—

(१) गुजराती लोंकागच्छ

(२) नागौरी लोंकागच्छ और

(३) उत्तरार्द्ध लोंकागच्छ।

एक लम्बे समय तक लोंकागच्छ ने धर्म के यथार्थ रूप को प्रकाशित करते उसे विकारहीन रखने और सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु यह तो प्रकृति का नियम ही है कि प्रत्येक शुभ रचना का भी कालान्तर के साथ साथ विघटन होता है। पतन के पश्चात् उत्थान तो स्वाभाविक ही है। लोंकागच्छ भी इस नियम का अपवाद

पूज्य श्री धर्मसिहजी महाराज

क्रियोद्धारक के रूप म आपका नाम विशेष रूप से इतिहास विश्रुत है। जाम नगर के एक दशाश्रीमाली परिवार म आपका जन्म हुआ था। आपके पिता का नाम जिनदास और माता का नाम शिवादेवी था। देवजी ऋषि (लोकागच्छी) के पास आपने सयम ग्रहण किया था। उस समय आपकी आयु मात्र १५ वर्ष की थी। प्रकृति ने जन्म स ही आपका विलक्षण बुद्धि चातुय प्रदान किया था। परिणामत आप शीघ्र ही शास्त्र ज्ञान को हृदयगम करने म सफल रहे। इस ज्ञान ने इन्हे धर्म के वास्तविक रूप से भलीभाँति परिचित कर दिया और तब धम म आ गय आडम्बरो से उनके हृदय मे घोर घृणा उत्पन्न हो गयी। शुद्ध वीतरागधर्म के अनुरूप शुद्ध साधुत्व ग्रहण करने का निश्चय कर अपना मन्तव्य जब उन्होने गुरु के समक्ष प्रस्तुत किया तो गुरुजी ने कहा कि यह मार्ग तलवार की धार के समान कठिन है। माग की दुरूहता एव जटिलता का परिचय देते हुए गुरुजी ने यह भी कहा कि यदि तुम एक रात्रि दरगाह में व्यतीत कर लो तो तुम्हे क्रियोद्धार की अनुमति मिल सकती है।

अहमदाबाद स्थित यह दरिया पीर की दरगाह उस समय रात्रियापन की दष्टि से बडी भयानक मानी जाती थी। इस दरगाह म कोई रात्रि बिताने का साहस नही करता था। यदि कोई ऐसा दुस्साहस करे तो उसका जीवित बचना सभव नहीं है—ऐसी उस समय की जनधारणा थी। श्री धर्मसिहजी महाराज ने भी इस परीक्षा म अवतरित होने का निश्चय कर लिया और वे उक्त दरगाह म पहुच गय। रात्रि भर वे तत्त्वज्ञान का चिन्तन करते रहे। कहा जाता है कि मुनिजी के इस चिन्तन से रात्रिभर तत्त्वज्ञान का लाभ दरिया पीर भी उठाता रहा और वह बेहद खुश हुआ। मुनि धर्मसिहजी पर कोई सकट नही आया। प्रात जब वे दरगाह से बाहर आये तो सभी उन्हें विस्मय-मुग्ध नेत्रो से देखते रह गये। यह एक अनहोनी घटना सी लग रही थी, जिसे पूरा कर दिखाने के कारण मुनि धर्मसिहजी के प्रति जनश्रद्धा उमडने लगी। गुरुजी को भी मुनिजी की असामान्य तेजस्विता का विश्वास हो गया और उनकी धारणा बनी कि इनसे धर्म की विशिष्ट सेवा सम्भव होगी। यह घटना सवत् १६९२ की है।

मुनि धर्मसिहजी ने क्रियोद्धार के सन्देश द्वारा समाज का बोध कराया और असख्य पथभ्रान्त व्यक्तियो को कल्याणाभिमुख बनाया। इनका सम्प्रदाय दरियापुरी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हो गया। गुजरात-सौराष्ट्र म आज भी इनके अनुयायियो की अच्छी सख्या मि आसोजवदी ४ सवत् १७२८ म आपका स्वर्गवास हुआ।

लोकागच्छी यति बजाव
के साथ एक सात वर्षीय

बालक आया। बालक मुखाकृति से भारी भाग्यशालितायुक्त प्रतीत होता था। उसकी हस्तरेखाएँ देखकर बजरंग यतिजी अत्यधिक प्रभावित हुए और यह ज्ञात होने पर तो उन्हें और भी अधिक विस्मय हुआ कि बालक को प्रतिक्रमण भी कंठस्थ है। यतिजी ने इस बालक में एक और भी विशेषता देखी कि वह जिज्ञासु है ज्ञान प्राप्ति की उत्कंठा उसमें बड़ी प्रबल है। फलतः उपयुक्त पात्रता का अनुभव कर बजरंग यतिजी ने इस बालक को अपने आश्रय में शास्त्राभ्यास कराना आरंभ कर दिया। यही बालक कालान्तर में लवजी ऋषिजी के रूप में प्रख्यात हुआ था। लवजी के साथ जो वृद्ध महाशय थे वे उनके नाना वीरजी वोरा थे। बाल्यावस्था में ही लवजी के पिताजी का देहान्त हो गया था, अतः उनका लालन-पालन नाना के घर हुआ था।

बजरंग यतिजी के सान्निध्य में शास्त्र ज्ञान ने लवजी का अन्तर् जागृत कर दिया। यह जगत् उन्हें असार प्रतीत होने लगा और वे विरागी पुरुष हो गये। अन्ततः १६९२ में उन्होंने यतिदीक्षा ग्रहण कर ली। अब तो उनके ज्ञान-लाभ की प्रगति का मार्ग और अधिक प्रशस्त हो गया। वे मर्म तक पहुँचने का गहन और सफल प्रयत्न करने लगे। भगवान महावीर स्वामी के शुद्ध आचारमार्ग का परिचय उन्हें भली भाँति हो गया था और समकालीन व्यवहार क्षेत्र में धर्माचरण में व्याप्त विकारों और आडम्बरों को देखकर उन्हें दुःख होने लगा। उनकी अन्तःप्रेरणा ने उन्हें शुद्धाचार एवं सत्य प्ररूपणा के लिए उत्साहित किया। १६९४ में यति लवजी ने शुद्ध भागवती दीक्षा ग्रहण की और क्रियोद्धार की ज्योति जगायी। अपने पूर्ववर्ती श्री धर्मसिंहजी महाराज इस क्षेत्र में उनके लिए एक आदर्श रहे।

मिथ्यात्व द्वारा सत्य का विरोध प्रत्येक युग में प्रचलित रहा है। यति लवजी के साथ भी यही हुआ। तत्कालीन यति समाज में उस समय उथल-पुथल मच गयी जब लवजी यति ने क्रियोद्धार की घोषणा की। यतिगण लवजी यति को उनके मार्ग से च्युत कर देना चाहते थे और इस प्रयोजन से अनेक षड्यन्त्र रचे जाने लगे। वीरजी वोरा को यति समाज ने अपने विश्वास में ले लिया और छद्मपूर्वक उन्हें यति लवजी के विरुद्ध कर दिया। नाना वीरजी वोरा भी बहकावे में आ गये और क्रोध में भरकर उन्होंने खंभात के तत्कालीन नवाब को सन्देश भेजा। नवाब ने प्रतिक्रिया स्वरूप यति लवजी को बन्दी बना लिया। हीरा तो प्रत्येक परिस्थिति में हीरा ही रहता है। धूल में पड़कर वह भला कहीं अपनी कान्ति खो सकता है! बन्दी बनाने बाद नवाब और उसकी बेगमों ने इस असाधारण यति की अद्भुत धर्मक्रियाएँ देखीं तो, वे लोग बड़े प्रभावित हुए। नवाब को अपनी भूल पर अनुताप का अनुभव होने लगा। उसने यति लवजी को आदरपूर्वक मुक्त भी कर दिया।

लवजी यति के समय में धर्माचरण में कितना पतन आ गया था और यति लवजी का प्रभाव कितना सशक्त था इसका परिचय देने वाली एक घटना भी इति

हस में उपलब्ध होती है। कहा जाता है कि अहमदाबाद में कुछ यतियों ने लवजी यति के दो मुनियों का वध कर दिया और शवों को वहीं उपाश्रय में गाड़ दिया। सन्देह होने पर छानबीन की गयी और अपराध सिद्ध हो गया। यतियों का दुष्कर्म कितना जघन्य था। अपराधी यतियों के लिए शासन की ओर से कठोर दण्ड का निर्णय लिया गया किन्तु दयालु यति लवजी आर्द्र हो उठे। उन्होंने आग्रह करके सम्बन्धित यतियों को दण्ड से मुक्त करवा लिया। धन्य है धर्म का ऐसा उन्नायक! इस घटना से यह भली भाँति विदित हो जाता है कि यति लवजी कैसी उच्चात्मा के स्वामी थे। उनकी महत्ता का पूर्ण परिचय देने में यह घटना सर्वथा पर्याप्त है। तत्कालीन यतिवर्ग के घोर पतन ही नहीं उनके आतंक की तीव्रता का स्वर भी इस प्रसंग में मुखरित होता है और इस तथ्य का आभास कराता है कि सत्य मार्ग के प्रचारक के लिए उसका कार्य कितना दुरूह हो गया था। ये बाधाएँ तो महापुरुषों के लिए परीक्षाएँ होती हैं। सच्चे महापुरुष इनमें अवतरित भी होते हैं और उन्हें पार भी कर जाते हैं। लवजी यति ने भी अपने व्यक्तित्व की इसी विशिष्टता का परिचय दिया और वे धर्म के यथार्थ स्वरूप को उजागर करते रहे। उनका यह महान उद्यम घोर विरोध का कारण बना। सहारनपुर में लवजी ऋषिजी को किसी हलवाई ने विषाक्त मोदक खिला दिया। लवजी ऋषिजी जीवनान्त समीप समझकर सचेत हो गये और उन्होंने समाधिपूर्वक स्वर्गलाभ किया। लवजी ऋषिजी का प्रभाव दीर्घकालिक रहा। परिणामतः आज भी उनके अनेक सम्प्रदाय विद्यमान हैं।

पूज्य श्री अमरसिंहजी महाराज

बात भारतीय राजधानी दिल्ली नगर की है। समय था विक्रम संवत् १७१९ का। तातेड़ गोत्रीय सेठ देवीसिंहजी अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कमलादेवी के संग वहीं निवास करते थे। श्रीमती कमलादेवी ने एक शुभ रात्रि में अमर भवन का सुखद सुन्दर स्वप्न देखा। परिणामतः यथासमय पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। वह शुभ दिवस था रविवार आश्विन शुक्ला चतुर्दशी वि० सं० १७१९ का। शिशु का नामकरण हुआ अमरसिंह। उपयुक्त आयु प्राप्ति पर बालक के लिए कुमार के भविष्य की व्यवस्था की गयी विद्याभ्यास हेतु। अद्भुत प्रतिभा के कारण अल्प समय में ही बालक फारसी, उर्दू, संस्कृत तथा अन्य भाषाओं का अधिकारी विद्वान हो गया। वयस्क और अधिक वय प्राप्त होने पर पूज्य श्री लालचन्दजी म० के सान्निध्य में बालक की मनोवृत्तियाँ एवं व्यक्तित्व स्वरूप में असाधारण परिवर्तन होने लगे। पिता का पुत्र के प्रति पालन में रोष बढ़ने लगा। पुत्र के आध्यात्मिक विचारों की दृढ़ता एवं गम्भीरता ने पिता के मन में संदेह उत्पन्न कर दिया—कहीं यह वैराग्य धारण न कर ले। इस संशय का निर्मूलन करने का उपाय भी किया गया। मात्र १३ वर्ष की अल्पायु में ही बालक का परिणय-सूत्र में बद्ध कर दिया गया। बालक की अन्तरात्मा पर यह बन्धन प्रभाव न डाल सका। सत्संगी

साधना-मार्ग पर ही उत्तरोत्तर अग्रसर होता रहा। २१ वर्ष की आयु में आपने पूज्य लालचन्दजी महाराज साहब के आश्रय में ब्रह्मचर्यव्रतपूर्वक जीवनयापन का सकल्प धारण कर लिया। पुत्र की मानसिक अटलता को दृष्टिगत रखते हुए पिता ने भी दीक्षार्थ अनुमति प्रदान कर दी और २४ वर्ष की आयु में (स० १७४१ में) चैत्र कृष्णा १० को उल्लासपूर्ण समारोह की साक्षी में आपने भागवती दीक्षा ग्रहण की।

जनागमों का गहन अध्ययन कर आपने अपने साधक व्यक्तित्व को प्रखरतर किया। ज्ञान एवं क्रिया में आप दृढ़ थे ही। आपके पूज्य गुरुदेव लालचन्दजी म० ने संघ की साक्षी में संथारा कर लिया और कार्तिक माह के कृष्ण पक्ष में दिव्यात्मा ने नश्वर देह का बंधन त्याग दिया। संवत् १७६१ में आपकी सुविज्ञता के आधार पर आपको आचार्य पद पर नियुक्त किया गया।

सभी दिशाओं से पूज्य अमरसिंहजी म० को आचार्य पद की चादर ओढ़ाने के प्रयोजन से प्रतिनिधि-मण्डल पहुँचने लगे। चैत्र शुक्ला पंचमी को दिल्ली में आचार्य पद महोत्सव का आयोजन निश्चित किया गया। अपार संख्या में साधु-साध्वियाँ समारोह में एकत्रित हुए। पूज्य पदारोहण उत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ। चातुर्मास दिल्ली में ही हुआ जिसके दौरान मानवधर्म अहिंसा अचौर्य ब्रह्मचर्य निरामिष आहार क्षमा आदि मानवोचित व्यवहारों से सम्बद्ध सदुपदेशों द्वारा प्राय प्रतिदिन हजारों की जनता को पूज्य आचार्यश्री लाभान्वित करते रहे।

लगभग इसी समय एक अद्भुत चमत्कारपूर्ण घटना घटित हुई। बादशाह की १६ वर्षीय अविवाहिता कन्या को गर्भ रह गया था। लोकलज्जा से ग्रस्त बादशाह राजकुमारी की हत्या की योजना बना रहा था। इससे पीडित होकर जोधपुर के दीवान खींवसिंहजी भण्डारी पूज्यश्री के चरणों में पहुँचे। पूज्यश्री ने इस प्रसंग में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि पुरुष के संयोग के बिना भी कभी कभी गर्भ स्थिर हो सकता है। स्थानांग सूत्रादि में इसके कारणों का उल्लेख है। पूज्यश्री का यह मत अद्भुत ही नहीं किसी सीमा तक अस्वाभाविक भी प्रतीत हो रहा था किन्तु गर्भ-परीक्षा पर यह धारणा सर्वथा सत्य सिद्ध हुई। बादशाह अतिशय प्रभावित हुआ और हजारों दर्शनार्थियों का साथ लेकर पूज्यश्री के दर्शन की कामना से उपस्थित हुआ। पूज्यश्री के प्रभाव से बादशाह ने दो दिन का नियम लिया कि हिंसा का सर्वथा परित्याग करूँगा।

दीवान खींवसिंहजी बादशाह का अनुरोध लेकर पूज्यश्री की सेवा में उपस्थित हुए कि पूज्यश्री का मारवाड पधारना हो। अत्यधिक आग्रह के कारण पूज्यश्री ने समस्त मुनि समुदाय के साथ मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को मारवाड की ओर प्रस्थान किया। अलवर जयपुर अजमेर होते हुए आप सोजत पधारे। यति लोगों ने आपको कोट के मोहल्ले में अवस्थित मस्जिद में ठहराया। उस मस्जिद में पहले एक मुसलमान मरकर जिन्द (व्यन्तर देव) हुआ था जो रात्रि में वहाँ पर किसी को भी

ठहरने नहीं देता था। रात्रि होने पर वह जिन्द प्रगट हुआ, उपसर्ग दिए, पर ज्यों ही पूज्यश्री ने 'उवसग्गहर स्तोत्र' का पाठ किया कि वह जिन्द पूज्यश्री के चरणों में गिर पड़ा। दूसरे दिन उसने मौलवी के शरीर में प्रवेश कर यह उद्घोषणा कर दी कि आज से यह मस्जिद नहीं, जैन धर्म स्थानक होगा। यद्यपि उस स्थानक का अब कायाकल्प हो चुका है तथापि वह आचार्य प्रवर के तपस्तेज को उजागर कर रहा है।

आचार्य प्रवर पाली पधारे और वहाँ यतियों के साथ शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की। पूज्यश्री के बढ़ते हुए तेज को यतिगण सहन न कर सके। पाली से आपश्री जोधपुर पधारे। दीवान खींवसिहजी राजकार्य हेतु बाहर गये हुए थे। यति भक्तों ने पूज्यश्री को आसोप ठाकुर साहब की हवेली में उतारा जहाँ पर ठाकुर कल्याणसिंहजी जोधपुर नरेश के बदले में जहर का प्याला पीकर मरे थे और व्यन्तर देव हुए थे। रात्रि में उस हवेली में कोई भी व्यक्ति रह नहीं सकता था। पूज्यश्री अपने शिष्य समुदाय सहित वहाँ पर विराजे। व्यन्तर प्रकट हुआ, उसने अनेक उपसर्ग दिये, पर पूज्यश्री के तप तेज से देवी शक्ति परास्त हो गई। प्रातः कुतूहल के साथ लोगों ने देखा कि व्यन्तर देव पूज्यश्री का बाल भी बाँका न कर सका है। विरोधी पूज्यश्री के चरणों में गिर पड़े। यह बात ज्यों ही लोगों ने सुनी त्यों ही आश्चर्यचकित हो गये। वे पूज्यश्री की आध्यात्मिक शक्ति को देखकर नत थे। सर्वत्र स्थानकवासी जैन समाज की विजय वैजयन्ती लहराने लगी। मारवाड़ में सर्वप्रथम स्थानकवासी जैनधर्म का प्रचार करने का श्रेय पूज्य श्री अमरसिंहजी महाराज का है। मारवाड़ के सभी गाँवों में विचरण कर पूज्यश्री ने शुद्ध स्थानकवासी धर्म का प्रचार किया।

पूज्यश्री धर्मदासजी म. जो उस समय धार में विराज रहे थे, उन्होंने सुना कि आचार्य श्री अमरसिंहजी म. ने मारवाड़ में स्थानकवासी धर्म का खूब प्रचार किया है तो वे भी मारवाड़ में पधारे। दोनों आचार्यों का मधुर मिलन नागौर में हुआ। आचार्यश्री ने अजमेर, किशनगढ़, भीलवाड़ा, शाहपुरा, उदयपुर, रतलाम, इन्दौर प्रभृति अनेक शहरों में वर्षावास किये।

आचार्य प्रवर के प्रबल प्रभाव से उत्प्रेरित होकर पचवर ग्राम में सं. १८१० वैशाख शुक्ला पंचमी मंगलवार को पूज्यश्री कनिरामजी महाराज ऋषि सम्प्रदाय के आचार्य ताराचन्दजी म., श्री जोगराजजी म., श्री मिवाजी म., श्री तिलोकचन्दजी म. एवं आर्याजी राधाजी, पूज्यश्री हरदासजी म. के अनुयायी श्री मनूपचन्दजी म. आर्याजी फूलाजी प्रभृति, पूज्यश्री परसरामजी के सम्प्रदाय के मुनि श्री खेतसीजी, श्री खींवसीजी, आर्या केसरजी आदि सन्त सतियों का सम्मेलन हुआ और आध्यात्मिक, सामाजिक आगमिक चर्चाएँ हुई। सभी की एक समाचारी हुई और सभी एक सूत्र में गुम्फित होगए। स्मरण रखना चाहिये कि उस सम्मेलन में पूज्य अमरसिंहजी म. के लघु गुरुभ्राता पूज्यश्री गोवर्धनजी म. एवं परम विदुषी भागाजी आदि भी उपस्थित थीं। इस प्रकार सर्वत्र स्नेह सौजन्यतापूर्ण सद्व्यवहार का संचार हुआ।

पूज्यश्री का अन्तिम वर्षावास अजमेर संघ के अत्याग्रह पर अजमेर में हुआ। उस वर्षावास में खूब ही धर्मोद्योत हुआ और अन्त में संवत १८१२ की आश्विन शुक्ला पूर्णिमा को ५ दिन का संथारा धारण कर आपश्री स्वर्गवासी हुए। पूज्यश्री ने इस प्रकार ८३ वर्ष की आयु पूर्ण कर जीवन लीला का शुभ समापन किया। आपके आशीर्वाद व आश्रय की शीतल छाया में साधनारत १२ शिष्यों का आश्रम कुंज ही जैसे ध्वस्त हो गया था। क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी ने मिलकर कम्पित हृदय लिये कपूर आदि सुगंधित पदार्थों सहित दिवंगत पूज्यश्री का दाह संस्कार सम्पन्न किया।

पूज्य अमरसिंहजी महाराज उस आचार्य परम्परा के पुनीत और सुदृढ प्रारम्भ कर्ता स्वीकार किये जाते हैं जिसकी वर्तमान विकसित अवस्था पूज्य गुरुदेवश्री राजस्थानकेसरी श्री पुष्कर मुनिजी म० के विराट व्यक्तित्व के रूप में विद्यमान है। निश्चित ही संस्कारों के रूप में पूर्वाचार्यों की अनुपम प्रतिभा क्षमता एवं विवेक वैभव जो उत्तराधिकार के रूप में आपश्री को प्राप्त हुआ है वह आपश्री की प्रतिभा का आश्रय पाकर और अधिक सशक्त हुआ है। इस सम्बन्ध में रंचमात्र सन्देह नहीं कि परम्परा के साथ भविष्य में भी यह वैभव विकासमान स्थिति में अग्रसर हो पायगा। पूज्य अमरसिंहजी म० के पश्चात् आचार्य परम्परा का विकास अधोलिखित रूप में चित्रित किया जा सकता है

पूज्य श्री अमरसिंहजी महाराज
पूज्यश्री तुलसीदासजी महाराज
पूज्यश्री सुजानमलजी महाराज
धर्मवीर श्री जीतमलजी महाराज
पूजनीय श्री ज्ञानमलजी महाराज
पूज्यश्री पूनमचन्दजी महाराज
आत्मार्थी मुनिश्री ज्येष्ठमलजी महाराज
महास्थविर पण्डित मुनिश्री ताराचन्दजी महाराज
वर्तमान राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज
साहित्य मनीषी श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज

धर्म को उसके विकारों से मुक्त करने तथा उसे शुद्ध रूप में पुनः स्थापित करने का अभियान जैनधर्म के इतिहास में १६वीं १७वीं शती की असाधारण विशेषता रही है। इस काल में अनेक महिमायुक्त महापुरुषों की अवतारणा भी हुई जिन्होंने क्रियोद्धार के प्रचार के माध्यम से शुद्धाचार की प्रतिष्ठा में उल्लेखनीय योगदान किया। ऐसे महापुरुषों की श्रेणी में श्री धर्मदासजी महाराज का नाम भी विशेष प्रमुखत्व रखता है। अहमदाबाद के समीप एक ग्राम था—सरखेज। यह

मुक्ला ११ वि स १७०१ मे इसी ग्राम मे पूज्यश्री धर्मदासजी महाराज का प्रादुर्भाव हुआ था। उस समय सरखज गाँव मे भावसार परिवारो का अच्छा समुदाय था। एक भावसार परिवार म ही उनका जन्म हुआ था और उनके पिता एव माता का नाम क्रमश रतनीदास और हीराबाई था।

आरम्भ स ही श्री धमदासजी जिज्ञासु प्रवृत्ति क थे और उनम ज्ञान प्राप्ति की तीव्र उत्कठा थी। सौभाग्य स उन्ह इस दिशा म सुयोग्य सबल भी मिल गया। उन दिनो सरखज को लोकागच्छी पूज्यश्री तेजसिहजी महाराज की सुखद उपस्थिति का लाभ मिल रहा था और आपकी सेवा म रहकर ही श्री धमदासजी ने ज्ञानार्जन आरम्भ किया। ज्ञान प्राप्ति के माग पर क्रमश वे अग्रसर होते गये और उनका मानस ज्ञानालोक से उत्तरोत्तर उज्ज्वल होता चला गया। प्राप्त ज्ञान के आधार पर धम क शुद्ध स्वरूप को वे भली भाँति पहचान गये और तब सहजत ही उन्होंने धम के तत्कालीन व्यावहारिक रूप क साथ उस शुद्ध रूप की तुलना करना आरम्भ किया। इस क्रम म उन्होने भी यही अनुभव किया कि उस समय तक धम मे मिथ्याचार और शिथिलाचर की अत्यधिकता आ गई थी यहाँ तक कि उसका शुद्धरूप तो प्रच्छन्न होकर रह गया था। शास्त्रो के गहन अध्ययन से शुद्ध वीतराग धम की परम महत्ता से वे प्रभावित हुए और उनम वीतरागी हो जाने की अन्त प्रेरणा जागृत हो गयी थी। धम के शुद्ध और विकृत स्वरूपो ने उनका भली भाँति परिचय हो ही गया था और वे किसी शिथिलाचारी से दीक्षा ग्रहण करना उपयुक्त नही मानते थ। उन दिनो एक सुयोग उपस्थित हुआ। एकलपात्रिया पन्थ का प्रचार करते हुए श्री कल्याणजी इस क्षत्र म आ निकले थे जो क्रियानुष्ठान के अच्छ ज्ञाता थे। उनके पास श्री धमदासजी ने सयम स्वीकार कर लिया। कालान्तर म धमदासजी को इस पन्थ (एकलपात्रिया पन्थ) म अशुद्धता का आभास होने लगा। फलत उन्होंने श्री कल्याणजी का आश्रय त्याग दिया और स० १७१६ म, अहमदाबाद म स्वय भगवान तथा स्वात्मा की साक्षी म शुद्ध सयम स्वीकार कर लिया।

मिथ्या द्वारा सत्य का विरोध तो स्वाभाविक था ही। श्री धमदासजी महाराज का भी अपमान और विरोध का सामना करना पडा। उनकी प्रथम गोचरी के अवसर पर ही एक घटना घटित होने का उल्लेख मिलना है। कहा जाता है कि इस अवसर पर किसी विरोधी न उन्हे राख बहरा दी। राख सारे पात्र म कण-कण कर फल गयी। पूज्य श्री धर्मसिहजी महाराज न इस प्रसग का फलितार्थ घोषित करते हुए कहा था कि जसे राख सारे पात्र में व्याप्त हो गयी है वसे ही तुम्हारे अनुयायी भी सारे देश म फैलेंगे। भारत के सभी भागो मे तुम्हारी आम्नाय के श्रावक गण मिलेंगे।

पूज्य श्री धमदास जी महाराज उच्चकोटि क क्रियापात्र उग्रविहारी एव सुन्दर वाग्मी थ। शीघ्र ही उनक नेतृत्व म चार तीर्थों की पूणता भी हो गयी और आप

का यह क्रम तीव्रगति से विकसित होने लगा। सं० १७२१ में उज्जैन के श्री संघ ने पूज्य धर्मदासजी महाराज को आचार्य पद से अलंकृत किया था। महाराजश्री के ९९ शिष्य थे। शिष्यों की यह संख्या अब तक के क्रियोद्धारक महात्माओं की शिष्य संख्या में सर्वाधिक थी। इन ९९ शिष्यों में से २२ मुनियों को विभिन्न प्रान्तों में आचार्यपद की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसी आधार पर पूज्यश्री धर्मदासजी महाराज के २२ सम्प्रदाय अस्तित्व में आये।

धर्म को परिष्कृत और परिमार्जित करने शुद्ध धर्मस्वरूप का अधिकाधिक प्रचार करने के महान कार्य के प्रति ही महाराजश्री का समग्र जीवन समर्पित रहा। आपके जीवन के अन्तिम काल में एक घटना ऐसी हो गयी जिसने आपके व्यक्तित्व की गरिमा को स्पष्टतः प्रकट कर दिया।

धार में किन्हीं मुनि ने संथारा कर लिया था किन्तु उसका मन दृढ़ न था। कुछ समय पश्चात् ही वे संथारा से विचलित और प्रतिज्ञा से च्युत होने लगे। इस प्रसंग की सूचना पाकर पूज्य धर्मदासजी महाराज बहुत चिन्तित हुए। ऐसा होना जैनधर्म के लिए अशोभनीय एवं निन्दनीय होता। महाराजश्री ने सोचा कि यदि मुनि ऐसा कर ही देंगे तो मुनि समाज की प्रतीति कुछ भी नहीं रह जायगी उनके दृढ़ प्रतिज्ञता के गुण में सामान्यजन का विश्वास नहीं रहेगा। ऐसा होना धर्म की अप्रतिष्ठा है। महाराजश्री ने इस विकट परिस्थिति को टालने का संकल्प लिया और धार की ओर विहार किया। वहाँ पहुँचकर पूज्यश्री धर्मदासजी महाराज ने सम्बन्धित मुनि को संथारा की मर्यादा का बोध कराया और उपदेश दिया कि इससे च्युत होना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है। यह घोर निन्दनीय कर्म होगा। महाराजश्री के सभी प्रयत्नों के बावजूद भी मुनि पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। वे संथारा में पुनः स्थिर होने को तत्पर नहीं हुए। ऐसी विषम परिस्थिति में पूज्यश्री ने एक अद्भुत निश्चय कर लिया। मुनि के स्थान पर उन्होंने स्वयं को संथारा में स्थिर कर लिया और संथारा की मर्यादा रख ली। इस प्रकार उनका स्वर्गवास सं० १७६८ में हुआ।

पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज का यह प्राणोत्सर्ग एक असामान्य घटना थी। धर्मपथ पर डगमगाते असंख्य चरणों को इससे शक्ति मिलने लगी और वे दृढ़ हो गये। धर्म मर्यादा की रक्षार्थ इस प्रकार प्राणों का उत्सर्ग करने की यह घटना इतिहासों में बड़ी श्रद्धा और सम्मान के साथ स्मरण की जाती है।

स्थानकवासी समाज क्या कोई नया पंथ है ?

नहीं स्थानकवासी समाज कोई नया पंथ नहीं है। भगवान महावीर स्वामी ने जैनधर्म का जिस रूप में उन्नयन किया था—वही शुद्ध रूप स्थानकवासी समाज का प्रतिपाद्य है। जैनधर्म में जो घोर विकारग्रस्तता आ गयी थी और मिथ्याचार एवं शिथिलाचार से यह परिपूर्ण हो गया था इनसे धर्म को मुक्त करने और शुद्धरूप को पुनः स्थापित करने प्रयत्न किये गये थे। इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम स्थानकवासी

कुमार से नहीं करेगा। उसने अपने इस संकल्प का निर्वाह भी भली भांति किया। इससे चेटक के धार्मिक विश्वास की सघनता का ज्ञान तो होता ही है साथ ही उस समय के राजघरानों में जनधर्म के प्रचलन की व्यापकता का भी पता चलता है। राजा की अपनी पुत्रियों के लिए जन राजवंशों का मिल जाना इस बात का सबल प्रमाण है। उदाहरणार्थ सिन्धुदेश का राजा उदायन अवन्तीनरेश प्रद्योत मगधनरेश श्रेणिक (जिसको सामान्य इतिहासों मे राजा बिम्बसार के नाम से जाना जाता है) आदि तत्कालीन विख्यात नृपतिजन चेटक के जामाता थे। ये सभी महावीरोपासक जैन नरेश थे। कहा जाता है कि आरम्भ में राजा उदायन की आस्था तापसधर्म मे थी किन्तु अपनी महारानी (राजा चेटक की राजकुमारी) के जनधर्म के प्रति अटूट विश्वास से प्रभावित होकर उसमे धीरे धीरे परिवर्तन आने लगा और अन्तत वह जिन भगवान का उपासक हो गया था। इनके अतिरिक्त इतिहास में एक विख्यात नाम अजातशत्रु भी आता है। जन साहित्य में अजातशत्रु का उल्लेख 'कूणिक' नाम से मिलता है, जो आगे चलकर मगध का सम्राट बना था। इसी प्रकार वत्सराज उदयन का नाम सुविख्यात है। कूणिक और उदयन—दोनो ही राजा चेटक के दौहित्र थे। वैशाली इस प्रकार जनधर्म का एक सुदृढ केन्द्र बन गयी थी। इतिहासो मे वैशाली के विषय मे यह उल्लेख भी प्राप्त होता है कि बौद्ध इसे पाखण्डियो का मठ कहा करते थे। यह जनधर्म के प्रति बौद्धो के मन की कुण्ठा और वमनस्य की अभिव्यक्ति ही थी किन्तु इससे यह स्पष्ट आभास होता है कि वैशाली जनधर्म के लिए एक सुदृढ संरक्षण स्थली रही।

राजा श्रेणिक (बिम्बसार)

देश के सामान्य इतिहास में मगध-सम्राट बिम्बसार अति विख्यात महापुरुषो की श्रेणी मे परिगणित होता है। जन साहित्य मे इसी सम्राट बिम्बसार को श्रेणिक' नाम से जाना जाता है। श्रेणिक अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में बौद्धमतावलम्बी था। उन्हीं दिनों की चर्चा है कि एक राजकुमारी के चित्र दर्शन से वह मुग्ध हो गया और उसे अपनी रानी के रूप में प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा उसके मन में उभरी। यशस्वी नरेश श्रेणिक वभवशाली भी था और शक्तिसम्पन्न भी। उसके लिए क्या कठिनाई हो सकती थी? किन्तु उसके मार्ग में भी एक बाधा आ गयी। यह राजकुमारी राजा चेटक की पुत्री चेलना थी और चेटक अजन राजा के साथ उसका विवाह करने को तत्पर न था। अन्तत राजकुमार अभयकुमार ने नरेश श्रेणिक की मनोकामना को पूर्ण किया। अभयकुमार राजा चेटक के राजप्रासाद से राजकुमारी चेलना का अपहरण कर लाया और अपने पिता के सुख का कारण बना। चेटक की पुत्रियाँ तो दृढ धर्मव्रती थीं। उनका अजनो से सम्बन्ध कसे निभता! ऐसी विषम परिस्थिति में उसने प्रयत्न किया और चेलना के प्रयत्नो का ही यह सुपरिणाम था कि राजा श्रेणिक का हृदय परिवर्तन हो गया और वह महावीर स्वामी

उपासक बन गया। श्रेणिक की अडिग धर्म प्रवृत्ति का परिचय इस तथ्य से मिल जाता है कि स्वयं भगवान ने श्रेणिक के विषय में यह कहा था कि वह मेरे उपदेशों का मुख्य श्रोता है। राजकुमारी चलना का ही पुत्र अजातशत्रु अथवा कूणिक था।

राजा श्रेणिक धर्ममार्ग का दृढ़ अनुयायी था और वह अन्यों को भी इस मार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करता था। श्रेणिक की मृत्यु की कथा भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। कूणिक स्वभाव से उग्र क्रूर और साहसिक था। उसने अपने वृद्ध पिता श्रेणिक को बन्दी बनाकर राज्यासन हथिया लिया था। कहा जाता है कि पिता के मन में पुत्र के प्रति जो ममता और हितैषणा का भाव रहता है उसका वास्तविक ज्ञान किसी पुत्र को तब होता है जब पुत्र स्वयं पिता बनता है। कूणिक भी एक दिन अपने युवराज को प्यार कर रहा था और उसने अपनी माता (चलना) से पूछा कि संसार भर में क्या कोई अन्य पिता है जो अपने पुत्र को मेरे समान प्यार करता हो। चलना तनिक खेद के साथ मुस्कराई और कहा कि हाँ है और वे तेरे पिता हैं। उसने कहा कि जब तुम बहुत छोटे थे तो तुम्हारी उंगली आहत हो गयी थी और पीड़ा के कारण तुम्हें रात्रि में निद्रा नहीं आती थी। तुम्हारे पिता रात भर तुम्हारी पीवभरी उंगली को अपने मुख में रखकर सोते थे क्योंकि इससे तुम्हें नींद आ जाती थी। है कोई ऐसा अन्य पिता ? अपनी माता के ये वचन सुनकर अपने पिता के प्रति कूणिक कृतज्ञता के भाव से भर गया। उसे आत्मग्लानि एवं अनुताप होने लगा। वह कुठार लेकर दौड़ा कि तुरन्त कारा को तोड़कर अपने पिता श्रेणिक को मुक्त कर दे। पिता ने त्वरा के साथ पुत्र को कुठार लेकर लपकते हुए देखा, तो वे यह समझे कि कूणिक मेरी हत्या के लिए आ रहा है। पितृघात के पाप से अपने पुत्र को बचाने के लिए उन्होंने तालपुट विष खाकर अपनी जीवन लीला स्वयं ही समाप्त कर ली। ऐसी थी महत्ता श्रेणिक के धर्माचरण की। जैनशास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि ८२ हजार वर्षोपरान्त तीर्थंकर-परम्परा का पुनः आरम्भ होगा तब इसी श्रेणिक का जीव आदि तीर्थंकर के रूप में जन्म लेगा।

राजा नन्द

ई॰पू॰ पाँचवीं शताब्दी में मगध पर नन्द वंश का शासन हो गया था। इस वंश के विषय में भी यही कहा जाता है कि यह जैनधर्मावलम्बी था। कलिंगनरेश खारवेल के शिलालेखों में भी ऐसा उल्लेख मिलता है।

राजा नन्द का मन्त्री राक्षस था। नन्द से चाणक्य का वैमनस्य था और इस कारण नन्द से प्रतिशोध लेने के लिए चाणक्य उसके मन्त्री को माध्यम बनाना चाहता था। कहा जाता है कि चाणक्य ने अपने किसी विश्वासपात्र व्यक्ति को क्षपणक के वेश में राक्षस के पास भेजा था। क्षपणक का अर्थ नग्न जैन साधु ही होता है। चाणक्य का उद्देश्य राक्षस के विश्वास के आधार पर उसे अपने वश में करना था और यदि इस हेतु क्षपणक वेश में किसी को भेजा गया तो इसका अर्थ यही है कि

राक्षस अवश्य ही जैन था। मन्त्री के जैन होने के आधार पर यह धारणा भी बल वती होती है कि राजा (नन्द) भी अवश्य ही जैन रहा होगा।

चन्द्रगुप्त मौर्य

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्यवंश का प्रथम शासक था और वह भी जैन धर्मानुयायी था। उसकी यह धर्मप्रवृत्ति उत्तरोत्तर इस वंश में विकसित होती चली गयी थी। चन्द्रगुप्त ने तो जिन-दीक्षा ग्रहण की थी। मुकुटधारी राजाओं में अन्तिम चन्द्रगुप्त मौर्य ने जिन दीक्षा धारण की। इसके पश्चात किसी मुकुटधारी राजा ने जिन दीक्षा नहीं ली।[१] यह तथ्य आरम्भ में सन्देहास्पद समझा जाता था किन्तु श्रवणबेलगोला (मैसूर) नामक स्थान पर प्राप्त चन्द्रगिरि के लेखों ने अब भ्रमों की धूमिलता को विदीर्ण कर दिया है। चन्द्रगिरि वह स्थान है जहाँ चन्द्रगुप्त ने १२ वर्षों की सतत तपस्या के पश्चात् देहत्याग किया था। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त के राज्य मगध में एक दीर्घ समय का अकाल पड़ा था। लगभग उसी समय चन्द्रगुप्त ने अपने युवराज को शासन सौंपकर गृह त्याग कर दिया और आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर चला गया। भद्रबाहु तत्कालीन श्रीवस्थ जैनाचार्यों में माने जाते थे और चन्द्रगुप्त ने उन्हें अपना धर्मगुरु स्वीकार किया था। इस यात्रा के क्रम में वह चन्द्रगिरि पहुँचा था। प्रसिद्ध विद्वान लेविस राइस ने चन्द्रगिरि के लेखों की खोज की थी और उन्होंने अपना दृढ़ मत व्यक्त किया है कि चन्द्रगुप्त असन्दिग्ध रूप से जैन था।

डॉ वी ए स्मिथ ने लेविस राइस की मान्यता का सशक्त समर्थन करते हुए लिखा है—श्रवणबेलगोला के शिलालेखों को अविश्वसनीय मानना जैनों की समस्त परम्परा को अविश्वसनीय मानना होगा। लेविस राइस के साथ यदि हम यह विश्वास करें कि चन्द्रगुप्त व्रतों को धारण करके महान भद्रबाहु के साथ चन्द्रगिरि पर्वत पर चला गया था तो क्या हम गलती करते हैं?[२]

इस प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है कि डॉ स्मिथ ने अपनी पुस्तक के द्वितीय संस्करण में अपने इस मत को परिवर्तित कर दिया था किन्तु तृतीय संस्करण में उन्होंने अपने इस परिवर्तन को अपनी भूल माना है और अन्तिम रूप से उल्लेख कर दिया है— मुझे अब विश्वास हो चला है कि जैनों का यह कथन प्रायः मुख्य-मुख्य बातों में यथार्थ है और चन्द्रगुप्त सचमुच राज्य त्यागकर जैन मुनि हो गये थे।

इस प्रकार सम्राट चन्द्रगुप्त के जैन होने में तनिक भी सन्देह शेष नहीं

---

१ तिलोय पण्णत्ति (जैन ग्रन्थ)

२ भारत का प्राचीन इतिहास (डॉ वी ए स्मिथ)

रह गया है। उपर्युक्त दोनों विद्वानों की धारणाओं का समर्थन श्री के पी जायस वाल ने भी स्पष्टत किया है।

सम्राट अशोक

अशोक इस प्रसग म सर्वाधिक विवादग्रस्त व्यक्तित्व है। सामान्यत यह धारणा प्रचलित है कि अशोक बौद्ध था। इसके विपरीत जैन इतिहास इसे जन घोषित करते हैं। एक पक्ष यह मत भी रखता है कि निम्सन्देह आरम्भ में अशोक अपने पितामह चन्द्रगुप्त की भांति जन ही था किन्तु कालान्तर में उसने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था। उसके शिलालेखो में कुछ ऐसे भी हैं जिनम उसके बौद्ध मतावलम्बी होने के सकेत नहीं मिलते। ऐसे शिलालेखो म सम्राट अशोक के लिए जिस उपनाम का व्यवहार हुआ वह है— देवानांपिय पियदसी। राजा के लिए देवानांपिय शब्द प्रयोग जन परम्परा मे पाया जाता है। इधर कुछ कालोपरान्त के शिलालेखो म देवानांपिय शब्द हट गया है और केवल 'पियदसी' का व्यवहार पाया जाता है। अनुमानत इसी समय के लगभग उसने बौद्धधम स्वीकार कर लिया होगा। यह आभास भी मिलता है कि आरम्भिक शिलालेखों म आचरण के जो निर्देश मिलते हैं—उनकी समीपता बौद्धधर्म की अपेक्षा जनधर्म के साथ अधिक है। जसे—पशु-पक्षियो के आखेट एव वनो के जलाने का निषेध करने वाले निर्देश जन सिद्धान्तो पर ही आधारित हैं। इसी प्रकार मितव्ययितापूर्ण सादे जीवन का आदर्श भी स्पष्टत जन सिद्धान्तो का फल है। प्रसिद्ध बौद्धशास्त्रवेत्ता प्रो कनल भी इसी निष्कर्ष को प्राप्त कर पाये हैं कि अशोक की राजनीति में खोजने पर भी बौद्ध प्रभाव नहीं मिलता।

सम्प्रति

अशोक के पौत्र सम्राट सम्प्रति के विषय म भी इतिहास की साक्षी से कहा जा सकता है कि वह जनधर्मानुयायी था। उसने तो उज्जैन नगर मे आचार्य सुहस्ति से जिन-दीक्षा ग्रहण की थी। जनधर्म के प्रचार प्रसार एव उसके सरक्षण मे सम्प्रति का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अनार्य प्रदेश कहे जाने वाले उत्तर पश्चिमी भारत मे उसने जनधर्म के प्रचारको को भेजा एव जन साधुओ के लिए वहाँ अनेक विहारो की भी स्थापना करवाई।

महावीर स्वामी के पश्चात् का यह चार शताब्दी का समय जनधर्म के प्रसार की दृष्टि से स्वर्णकाल कहा जा सकता है। मौर्यवंश के अन्तिम सम्राट बृहद्रथ का उसी के सेनापति पुष्यमित्र द्वारा वध कर दिया गया था और इतिहास एक नये मोड़ पर पहुच गया। पुष्यमित्र अब शासक हो गया था जो ब्राह्मण था। उसने श्रमणधर्म का खूब दमन किया। यहाँ से बिहार प्रदेश म जनधर्म की छवि म धूमिलता का सूत्रपात दृष्टिगत होने लगता है।

चक्रवर्ती खारवेल

खारवेल कलिंग (उड़ीसा) का अत्यन्त प्रतापी चक्रवर्ती नरेश था। इसके शासन काल में उड़ीसा प्रदेश जैनधर्म के सुदृढ़ केन्द्र के रूप में उभर आया था। खारवेल के शिलालेखों से यह प्रमाणित हो जाता है कि वह जैन नरेश था। यही नहीं समस्त राज्य का ही मुख्य धर्म जैनधर्म हो गया था। ईसापूर्व ४२४ में मगध के राजा नन्द ने कलिंग पर आक्रमण किया था और तब वह वहाँ से ऐसी वस्तुएँ लाया था जो जैन संस्कृति से सम्बन्धित थीं। इससे सिद्ध होता है कि खारवेल से काफी पूर्व ही कलिंग में राजवंशों का अनुराग जैनधर्म को प्राप्त था। श्री के० पी० जायसवाल के मतानुसार तो कलिंग में राजा नन्दवर्धन के शासन काल में ही जैनधर्म का प्रचलन आरम्भ हो गया था। खारवेल के शिलालेखों से उड़ीसा में जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि खारवेल के समय में जैनधर्म कई शताब्दियों तक उड़ीसा का राष्ट्रीय धर्म रह चुका था।[1]

खारवेल शूर-वीर और साहसी राजा था। अनेक राज्यों को युद्ध में पराजित कर वहाँ के राजाओं को अपने अधीन कर वह चक्रवर्ती सम्राट बन गया था। अपनी दिग्विजय के पश्चात् उसने जैनधर्म का विशाल अनुष्ठान भी किया था और जैनधर्म सम्मेलन का आयोजन भी किया। जैनधर्म संघ ने इस अवसर पर खारवेल को धर्मराजा, भिक्षुराजा, क्षेमराजा आदि उपाधियों से विभूषित किया था। कतिपय शिलालेखों में खारवेल ने जिस संवत् का प्रयोग किया है वह चन्द्रगुप्त संवत् है। सामान्यतः एक सम्राट अन्य सम्राट द्वारा प्रवर्तित संवत् का प्रयोग नहीं करता किन्तु क्योंकि चन्द्रगुप्त स्वयं जैन राजा था अतः खारवेल ने कोई हिचक अनुभव नहीं की। इससे भी जैनधर्म के प्रति उसके अनुराग की गहराई का सहज ही अनुमान हो जाता है। कलिंग में खारवेल के पश्चात् कोई ऐसा धर्मप्रिय राजा नहीं हुआ फिर भी उसके वंशज नरेशों ने यथासम्भव धर्म प्रचार और संरक्षण में योगदान ही दिया।

विभिन्न प्रदेशों में धर्म प्रसार

बंगाल प्रदेश का भी हमारे इतिहास में जैनधर्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। मगध और बंगाल को ही जैनधर्म का आदि और पवित्र स्थान समझा जाता है। इस धर्म की बंगाल में लोकप्रियता का अनुमान इस तथ्य से भी भली भाँति लगाया जा सकता है, कि इस प्रदेश के अनेक स्थानों, जैसे—मानभूमि, वीरभूमि, वर्द्धमान आदि के नामकरण के पीछे किसी न किसी रूप में भगवान महावीर स्वामी के विभिन्न नामों का आधार जुड़ा हुआ है। आज भी प० बंगाल में सराक जाति पायी जाती है, इस जाति का सम्बन्ध भी 'श्रावक' शब्द से ही है। बंगाल में आज भी स्थान

---

१ श्री के० पी० जायसवाल

स्थान पर जैन ध्वंसावशेष शिलालेख आदि की प्रचुरता इस बात का संकेत कर है कि इस प्रदेश म कभी जनधर्म अत्यधिक पल्लवित रहा।

गुजरात जनधम के लिए इतिहास म एक विख्यात प्रदेश रहा है। गुजरात भी जैनधर्म का अतिप्राचीन अस्तित्व इतिहास प्रमाणित है। भगवान नेमिनाथ (२२ तीर्थंकर) ने गुजरात म ही गिरनार पर दीक्षा ग्रहण की एवं मुक्तिलाभ किया था वल्लभी नगर में श्वेताम्बर संघ ने अपने आगम ग्रन्थों को लिपिबद्ध और व्यवस्थित क देने का महान कार्य-सम्पन्न किया था। गुजरात के अनेक राजवंश स्वयं जनधर्मा लम्बी रहे और इस धर्म को सशक्त बनाने म योगदान करते रहे। चावण्ड वंश क राजा वनराज गुजरात का ऐसा राजा था, जिसका लालन-पालन एक जन साधु की देख रेख म हुआ था और वनराज ने वयस्क होने पर जनधम स्वीकार कर लिया। तभी से राजवंशो म जनधर्मावलम्बन की एक परम्परा ही आरभ हो गयी। कालान्तर म चावण्ड वंश से गुजरात की सत्ता हटकर जब पुन चालुक्य वंश के पास चली गयी तो वे नये शासक भी जनधर्म को मानने लगे। चालुक्य वंश के प्रथम नरेश मूलराज ने अणहिलवाड़ा म एक विशाल जन सांस्कृतिक स्थल का निर्माण करवाया था। राजा भीम के सेनापति विमल द्वारा भी आबू म कलाप्रियता को अपनाया गया था। यह तत्कालीन गुजरातवासियों की जनधमप्रियता का प्रतीक कहा जा सकता है। गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह पर जनाचार्य हेमचन्द्र का अत्यन्त प्रभाव था। राजा ने यद्यपि जैनधर्म तो स्वीकार नहीं किया किन्तु जनधर्म का उस पर कुछ प्रभाव अवश्य था। जयसिंह के पश्चात् कुमारपाल गुजरात-पति हुआ और इस पर भी आचार्य हेमचन्द्र का प्रभाव था और इस नरेश ने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। जनधर्म के प्रसार म नरेश कुमारपाल का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उसने स्वयं तो मांसाहार मदिरापान आदि का त्याग कर ही दिया था अपने राज्य म भी उसने पशुहिंसा, मांसाहार और मदिरा-पान पर प्रतिबंध लगा दिया। बधिकों को राजा ने उनको ३ वर्ष की आय अपने कोष से अग्रिम देकर अन्य व्यवसाय करने को उत्साहित किया। ब्राह्मणों के लिए भी यह व्यवस्था की गयी कि यज्ञों म पशुबलि के स्थान पर अन्न का हवन किया जाय। चालुक्य वंश के पश्चात गुजरात पर बघेलों का शासन आरम्भ हुआ था। इस समय तेजपाल और वस्तुपाल नामक जन मन्त्री हुए वे भी कलाप्रेमी थे।

मध्य भारत म भी जैनधम के विकास का अच्छा रूप मिलता है। आठवीं-नौवीं शताब्दी म इस प्रदेश म कलचूरी वंश का शासन रहा जो जैनधर्म का प्रबल पोषक था। इसके अतिरिक्त यहाँ का कदम्ब राजवंश भी बड़ा प्रतापी था। इन नरेशों ने तमिल तक के क्षेत्र को अपने साम्राज्य म सम्मिलित कर लिया था। यह वंश तो जैनधम का ही अनुयायी रहा था। जैनधर्म के विकास म इन नरेशों का महत्त्वपूर्ण योगदान यह रहा कि तमिल क्षेत्र तक उसके प्रसार म सुगमता हो गयी। मध्यप्रदेश म ग्वालियर क्षेत्र म कदम्ब के वंशज अब भी विद्यमान हैं जो कछवाहे कहलाते हैं और

इनके विषय में यह कथन प्रचलित है कि ये भी कभी जैनधर्मानुयायी थे। कन्नौज नरेशों के राष्ट्रकूट राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध भी थे और राष्ट्रकूट वंश तो जैनधर्मावलम्बी था ही। इस क्षेत्र में अनेक जैन तीर्थ हैं जो इस भू भाग पर जैनधर्म के महत्व को प्रकाशित करते हैं। उदाहरणार्थ—कुण्डलपुर मुक्तागिरि सिद्धवर क्षेत्र आदि अत्यन्त प्रख्यात और पवित्र जैन तीर्थस्थल मध्य भारत क्षेत्र में ही हैं। तीर्थंकर श्रीधर्मनाथ भगवान की जन्मभूमि रत्नपुर इसी क्षेत्र में स्थित है जिसे वर्तमान में नौहरवर नाम से जाना जाता है।

उत्तर प्रदेश में मथुरा जैनधर्म की दृष्टि से कभी अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षेत्र रहा। अनेक प्राचीन शिलालेख (जो ईसापूर्व दूसरी शती के हैं) यहाँ उपलब्ध हुए हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि उस काल में मथुरा जैनधर्म का सुदृढ़ केन्द्र रहा था। उत्तर प्रदेश में अनेक राजा-महाराजाओं का प्रश्रय इस धर्म को प्राप्त होता रहा। इतिहास-निर्देश में सम्राट हर्षवर्धन ने ५ वर्षों तक प्रयाग में धार्मिक महोत्सव कराये जिनमें जैनाचार्यों और मुनियों का भी सत्कार किया गया। इतना अवश्य है कि इस प्रदेश के अधिकांश नृपतिगण जैनधर्म के अनुयायी न होकर भी इस धर्म के विकास के मार्ग में बाधक कभी नहीं बने। परिणामतः उत्तर प्रदेश में जैनधर्म का पर्याप्त विकास होता रहा। देवरिया के राजा उदयन (आठवीं शती) तो स्वयं जैन ही थे। बलरामपुर के समीप सहेठ-महेठ नामक स्थान पर खुदाई से यह रहस्योद्घाटन हुआ कि यहीं कभी प्राचीन नगर श्रावस्ती बसा हुआ था, जो जैनधर्म का केन्द्र रहा था। इसी प्रकार इटावा के समीप परवा नामक स्थान है जिसके विषय में इतिहासज्ञों की मान्यता है कि इसी स्थान पर कभी जैनियों का प्रसिद्ध नगर— आलभी था। उत्तर प्रदेश में महावीरोत्तर काल में जैनधर्म के प्रचार प्रसार और विकास के अनेक प्रमाण मिलते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि इस क्षेत्र में जैन राजाओं के अभाव में भी जैनधर्म का उल्लेखनीय उत्कर्ष रहा।

दक्षिण भारत में जैनधर्म के पर्याप्त विकास का परिचय तो इतिहास से मिलता है किन्तु वहाँ इसे अत्यन्त प्राचीन नहीं कहा जा सकता। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है, सम्राट चन्द्रगुप्त के शासनकाल में एक व्यापक और दीर्घकालीन दुर्भिक्ष उत्तरी भारत में आया था और उस समय आचार्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्त को साथ लेकर अपने विशाल धर्मसंघ सहित दक्षिण की ओर गये थे। जैन चिन्तकों का मत है कि उस समय के पहले से ही दक्षिण भारत में जैनधर्म का अच्छा प्रचलन था अन्यथा सर्वथा नवीन प्रदेश में धर्मसंघ को ले जाने में आचार्य भद्रबाहु असुविधा का अनुभव अवश्य करते। इस धर्मसंघ ने वहाँ जैनधर्म को सशक्त और सुविकसित कर देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

तमिल प्रदेश में पाण्डय और चोल नरेशों ने जैनधर्म को संरक्षण दिया और धर्म के विकास में उनका उल्लेखनीय योगदान रहा। कहा जाता है कि कलिंग

नरेश खारवेल के राज्याभिषेक के समय पाण्ड्यनरेश ने अनेक जहाज भर कर उपहार सामग्री भिजवायी थी। इस भेंट का प्रधान कारण यही था कि दोनों नरेश जैन थे। पाण्ड्य राजा की राजधानी मदुरा नगर तो दक्षिण भारत का जैनधर्म केन्द्र हो गया था। उत्तरी भारत मे दुर्भिक्ष के समय आये ८ हजार साधुओं का धर्मसंघ जब वहाँ से प्रस्थान करने लगा था तो पाण्ड्य नरेश संघ को वहीं रखने का अभिलाषी था। इस रात्रि में संघ चल पड़ा, किन्तु संघ के प्रत्येक साधु ने एक एक ताड़ पत्र पर एक एक पद लिख कर वहीं छोड़ दिया। इसी साहित्य संकलन से वहाँ का प्रसिद्ध ग्रंथ नालदियार तैयार हुआ। तमिल वेद की सभा से सम्मानित इस प्रदेश के सर्वश्रेष्ठ नीति ग्रंथ कुरल के रचनाकार के विषय में भी यह मान्यता है कि वे कोई जैनाचार्य थे। इतिहास यह भी बताता है कि ये जैनाचार्य कुन्दकुन्द नाम से विख्यात थे और पल्लव वंश के नरेश शिवस्कन्द वर्मा ने इनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था। पल्लवों की राजधानी कांची १०वीं शती तक सभी धर्मों का केन्द्र रही। कांची के विषय में चीनी यात्री हुएनसांग ने (जो ७वीं शताब्दी में भारत आया था) अपने संस्मरणों में लिखा है कि वहाँ उसने जैनधर्मानुयायियों को देखा। कहा जाता है कि कांची में जैन नरेशों का शासन लम्बे समय तक चलता रहा।

दक्षिण भारत की जन संस्कृति पर जैनधर्म का प्रभाव दूर दूर तक अब भी दिखायी देता है। अपनी पुस्तक Coins of Southern India में सर वॉल्टर इलियट ने अपना यह मत व्यक्त किया है कि दक्षिण भारत की वास्तुकला पर जैनों का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है और इसका सर्वाधिक प्रभाव तो तमिल साहित्य पर पड़ा। एक अन्य विद्वान बिशप कोल्डवेल की धारणा से भी सर वाल्टर इलियट के मत की पुष्टि हो जाती है—

दक्षिण भारत में जैनधर्म की उन्नति का युग ही तमिल साहित्य की उन्नति का महान युग था।

जैनधर्म प्रचारक साधुओं का आग्रह सदा ही लोक भाषा और स्थानीय भाषा के प्रयोग की ओर रहता है। यहाँ भी उन्होंने तमिल कन्नड़ आदि लोक भाषाओं को प्रचार का माध्यम बनाया। इससे वे धर्म सिद्धान्तों को घर घर और हृदय-हृदय तक पहुँचाने में सफल रहे। साथ ही इसका एक सुपरिणाम यह भी रहा कि लोक भाषाओं के साहित्य में भी श्रीवृद्धि हुई।

दक्षिण भारत में जैनधर्म को अतिशय उत्कर्ष कर्नाटक प्रान्त में प्राप्त हुआ। आन्ध्र वंश और कदम्ब वंश के अनेक राजाओं ने यहाँ धर्म को संरक्षण प्रदान किया। कदम्बवंश के शासनकाल के शिलालेखों से पता चलता है कि राजाओं ने जैनों को विविध प्रकार के दान किये थे। कदम्ब राजवंश के विषय में निश्चय के साथ कहा जाता है कि वह जैनधर्मानुयायी वंश था। पल्लववंशीय राजाओं के विषय में भी जैन होने का अनुमान लगाया जाता है। इस वंश के एक राजा महेन्द्र वर्मा की एक संस्कृत

प्रहसन रचना मत्तविलास' मिलती है जिसमें तत्कालीन प्रचलित अनेक सम्प्रदायों का उपहास किया गया है किन्तु जनधर्म को उसने इसम सम्मिलित नहीं किया। कदाचित् उसका यही कारण था कि रचनाकार नरेश स्वय जन था। चालुक्यवशी नरेशों ने अनेक जन स्थलों का जीर्णोद्धार करवाया था अत उनका भी जन होना प्रभावित माना जाता है। इस प्रदेश के सम्बन्ध म विशिष्ट उल्लेखनीय प्रसग यह है कि यहाँ महिलाओं ने भी धर्म प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान किया।

दक्षिण भारतीय राजवश गग अपनी जनधर्मप्रियता के लिए इतिहास में विशेष रूप से प्रख्यात है। गग वश की स्थापना का श्रेय ही एक जनाचार्य सिंह नंदि को है। इस वश क राजा मुष्कार के काल में तो जनधर्म राजधर्म के गौरव से भी सम्पन्न हो गया था। इस वश का प्रथम शासक माधव और द्वितीय शासक अवनीत स्वय जन थे। *तृतीय शासक दुर्विनीत भी जनाचार्य पूज्यपाद का शिष्य था।* गग वशीय नरेशों ने जन साधुओं के लिए गुफाओं का निर्माण करवाया तथा दान दिये। इस प्रकार के उल्लेख चौथी से बारहवीं शती के शिलालेखों म उपलब्ध होते हैं। इस वश के एक पराक्रमी राजा मारसिंह ने अनेक दक्षिण भारतीय राज्यों पर विजय प्राप्त की और वह स्वय अपार प्रभुत्वसम्पन्न था। मारसिंह ने अपने गुरु अजित सेन के सान्निध्य में समाधिपूर्वक देह त्याग किया था। गग वश की महिलाओं में भी धर्म के प्रति गहन रुचि के अनेक प्रसग विख्यात हैं। १००४ ई से इस गग वश की अवनति आरभ हुई और तभी से जनधर्म के विकास को इस प्रदेश म प्रोत्साहन में कमी आने लगी। होयसल वश के राजा विट्टिदेव को रामानुजाचार्य ने १११६ ई० में वष्णव बना लिया था। राजा ने अपना नाम भी विष्णुवर्धन रख लिया था। तब से जैनधर्म दक्षिण भारत में क्षीण होने लगा और वष्णव तथा शव मत प्रबल होने लगे तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि जनधर्म का अस्तित्व ही उन्मूलित हो गया हो। क्रमश कभी इस शक्ति प्राप्त होती रही तो कभी परिस्थिति वश इसके तेज में कमी आयी किन्तु अजस्ररूप से जनधर्मधारा का प्रवाह होता अवश्य रहा।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारत में जैनधर्म के प्रचार प्रसार का अभियान भगवान महावीर स्वामी के पश्चात वेग के साथ सचालित होता रहा और उसका प्रभाव भी उत्तरोत्तर अभिवर्धित होता रहा है। उसे राज्याश्रय भी प्राप्त हुए और लोकप्रियता भी। जनधर्म ने देश के लगभग सभी क्षेत्रों म इस दीर्घ अवधि में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया और जनसाधारण के मानस में प्रतिष्ठित होने में भी उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई।

☐

तत्त्वविद्या खण्ड

तत्त्व-परिचय

दर्शन और तत्त्व

प्रत्येक धर्म, व्यवस्था, अनुष्ठान और साधना पद्धति में तत्त्व का आधारभूत और महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन का तत्त्वों से और तत्त्वों का जीवन से परस्पर और प्रगाढ़ सम्बन्ध है। तत्त्व लोक-सापेक्ष भी होते हैं और शास्त्रों का पारलौकिक क्षेत्र में भी महत्त्व है।

तस्य भावः तत्त्वम्

अर्थात् उस (वस्तु) का भाव। तत्त्व शब्द का निर्माण हुआ है—तत्+त्व से। तत् का अर्थ है—उस अथवा वह। ये सर्वनाम शब्द हैं जो अवश्य ही किसी संज्ञा अर्थात्—वस्तु की ओर इंगित करते हैं। उस वस्तु का ही तत्त्व में महत्त्व है। तत् के साथ 'त्व' प्रत्यय जुड़ जाने से तत्त्व का अभिप्राय हो गया है—उस वस्तु का स्वरूप अथवा उस वस्तु का भाव। अर्थात्—किसी वस्तु के गुण, धर्म अथवा क्रिया का परिचय ही तत्त्व है। अन्यत्र भी तत्त्व की समीक्षा करते हुए कहा गया है—

तद्भावस्तत्त्वम्

जो पदार्थ अथवा वस्तु अपने जिस रूप में है उसका उस रूप में होना ही तत्त्व है। भाषावेत्ताओं द्वारा तो इस प्रकार वह प्रत्येक वस्तु जो है—अर्थात्—जिसका अस्तित्व स्वीकार्य है—वह तत्त्व के अन्तर्गत परिगणित हो जाती है किन्तु दर्शन इनमें से कतिपय को ही अपने अर्थ में तत्त्वरूप में स्वीकार करता है। दार्शनिकों की दृष्टि में तत्त्व की व्याख्या और भी सूक्ष्म है—

तत्त्वं सल्लक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्[1]

तत्त्व का लक्षण सत् है अथवा सत् ही तत्त्व है। अतः वे स्वभाव से सिद्ध हैं।

जगत में जो है वह तत्त्व है और जो नहीं है, वह तत्त्व नहीं है—इतना स्वीकार कर लेना प्रत्येक अवस्था में सर्वथा निरापद एवं यथार्थ सन्निकट है। अर्थात् होना ही तत्त्व है, नहीं होना तत्त्व नहीं है। दार्शनिकों का क्षेत्र ही अस्तित्व का विवेचन करना और अस्तित्वधारियों को वर्गीकृत करना है। यही तत्त्वों का अध्ययन

---

१ पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध श्लोक ८

[illegible] स्वीकार किया है।

[illegible] स्वीकार किया है —

(१) वैशेषिक दर्शन
(२) न्याय दर्शन
(३) मीमांसा दर्शन
(४) अद्वैत दर्शन

वैशेषिक दर्शन में ६ तत्त्वों को मान्यता प्राप्त है जो हैं—(१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म (४) सामान्य (५) विशेष (६) समवाय। दीर्घकाल तक वैशेषिक दर्शन में इन ६ तत्त्वों की ही परम्परा रही किन्तु बाद में अभाव को सातवाँ तत्त्व और सम्मिलित हो गया। इस दर्शन में ये ७ पदार्थ कहे गये हैं। न्यायदर्शन में पदार्थों की संख्या १६ स्वीकार की गयी है—(१) प्रमाण (२) प्रमेय (३) संशय (४) प्रयोजन (५) दृष्टान्त (६) सिद्धान्त (७) अवयव (८) तर्क (९) निर्णय (१०) वाद (११) जल्प (१२) वितण्डा (१३) हेत्वाभास (१४) छल (१५) जाति (१६) निग्रहस्थान। मीमांसादर्शन वेदविहित कर्म को ही सत् और तत्त्व स्वीकार करता है। अद्वैत वेदान्त दर्शन मात्र ब्रह्म को ही सत्य और तत्त्वरूप में स्वीकार करता है और इसकी तुलना में सांख्यदर्शन के अन्तर्गत तत्त्वों की संख्या २५ है—प्रकृति महत् अहंकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ मन पंच महाभूत पुरुष और ५ तन्मात्राएँ। इन सबके विवेचन का प्रयोजन मात्र यह स्पष्ट करना है कि प्रत्येक दर्शन ने अपने अपने स्वरूप के अनुसार तत्त्वों को स्वीकृति प्रदान की है यहाँ तक कि निपट भौतिकवादी चार्वाकदर्शन में भी तत्त्वों के महत्त्व को स्वीकारा गया है। पृथ्वी जल, वायु और अग्नि को चार्वाकदर्शन के अन्तर्गत तत्त्वरूपेण स्वीकृति मिली है। बौद्धदर्शन में तत्त्व को

ार्यसत्य के रूप में वर्णित किया गया है। बौद्धदर्शन में ऐसे ४ आर्य सत्यों का
ान प्राप्त हुआ है। कहा जाता है कि गौतम बुद्ध के शिष्यों में से एक का नाम
नु कापुत्र था जिसने बुद्ध का ज्ञान की थाह लेने और जिज्ञासा-तुष्टि के लिए एक बार
न किया कि मरणोपरान्त क्या घटित होता है ? आत्मा का अस्तित्व है अथवा
ी ? और यह जगत सान्त (स+अन्त) है अथवा अनन्त ? गौतम बुद्ध ने इन विषयों
' मोक्षप्राप्ति के मार्ग के लिए अनावश्यक बताया। स्पष्ट है कि बौद्धमत में इस
ार के तत्त्वों का कोई महत्त्व नहीं है किन्तु मालु क्यपुत्र तो अपने तथागत बुद्ध की
ोधा पर ही तुला हुआ था। उसने दुराग्रहपूर्वक कहा कि यदि आप मेरे प्रश्नों के
ार नहीं दे पाएँगे तो मैं बौद्धमत का परित्याग कर अन्य किसी सिद्धान्त का अनु
यी हो जाऊँगा। तब इन साधारण प्रश्न-बिन्दुओं को व्यर्थ घोषित करते हुए तथा
ा बुद्ध ने मूल तत्त्वों की प्रतिष्ठा की और अपने विचारों के समर्थन में उन्होंने एक
ष्टान्त दिया।

गौतम बुद्ध ने प्रसंग प्रस्तुत करते हुए कहा कि एक व्यक्ति बाण से बिद्ध होकर
ाहत हो गया और पीड़ा से कराहने लगा। उसके शरीर में अब भी बाण गड़ा हुआ
ा। उपचारार्थ जब वैद्यजी आये तो उन्होंने बाण को निकालना चाहा किन्तु आहत
ाक्ति बाण निकलवाने के पूर्व अपनी कुछ जिज्ञासाएँ शान्त करना चाहता था। वह
ानना चाहता था कि बाण किसने मारा ? वह किस वर्ग का था एवं उसकी आकार
ाकृति कैसी थी ? उसने बाण क्यों मारा ? आदि आदि।

तथागत बुद्ध ने कहा कि इन प्रश्नों के उत्तर की खोज समय साध्य है। यदि इन
जिज्ञासाओं की तुष्टि की प्रतीक्षा की जाय तो स्पष्ट है कि तब तक बाण न निकलने
कारण आहत व्यक्ति की जीवन लीला ही समाप्त हो जाती। इस समय लक्ष्य तो
ु व्यक्ति को कष्ट और मरण से रक्षित करना होना चाहिये और इसके लिए बाण
ा बाहर निकाल लेना प्राथमिक चरण है। तथागत ने मालुक्यपुत्र को कहा कि
न समस्या पर ही तुम्हारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिये तथा व्यर्थ के प्रसंगों में
ाक्ति का अपव्यय करना हानिकारक ही सिद्ध होगा। तथागत बुद्ध ने तब मूल और
ातव्य प्रश्नों को स्पष्ट करते हुए कहा—

(१) दुःख क्या है ?
(२) दुःख का हेतु क्या है ?
(३) निर्वाण क्या है ?
(४) निर्वाण का हेतु क्या है ?

ये ही मौलिक प्रश्न हैं। व्यक्ति को इसी प्रश्नावली के उत्तर खोजने चाहिये
और इसी में मनुष्य-जीवन की सार्थकता निहित है। रूपान्तर से इन्हीं को बौद्ध
दर्शन के ४ आर्यसत्य रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस उद्धरण से यह
स्पष्ट है कि प्रत्येक दर्शन में तत्त्वों के स्थिरीकरण के पीछे उस दर्शन की विचारधारा

अपनी मौलिक विभूति नहीं है—इसे तो अन्यदर्शन से ग्रहण कर आत्मसात् कर लिया गया है।

उपर्युक्त धारणाओं को यथावत् स्वीकार कर लेना अनुपयुक्त प्रतीत होता है किन्तु अकारण ही इनकी अवमानना करना भी उतना ही अनुपयुक्त होगा। आवश्यकता इस बात की है कि अन्य विद्वानों ने जो मत स्थिर किये हैं उनकी गहनता के साथ परीक्षा की जाय और उस आधार पर निष्कर्ष प्राप्त किये जाय। यह पृथक से एक महत्त्वपूर्ण शोध-विषय हो सकता है। किन्तु यहाँ एक ऐतिहासिक भ्रान्ति को स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि वैशेषिक दर्शन का प्रभाव जैनदर्शन पर इस कारण नहीं हो सकता कि भगवान महावीर स्वामी के पश्चात् ही कणाद ऋषि ने वैशेषिक दर्शन को आकार प्रदान किया था। अतः वैशेषिक छाया में जैनदर्शन ने स्वरूप ग्रहण किया हो—ऐसा कालक्रमानुसार असत्य है। इतिहास यह प्रकट करता है कि सांख्यदर्शन भगवान पार्श्वनाथ के पश्चात् विकसित हुआ और भगवान महावीर के काल के आस-पास ही इस दर्शन ने अपने निश्चित स्वरूप को ग्रहण किया था। यदि तात्त्विक विवेचन करके देखा जाय तो ज्ञात होता है कि ये दोनों दर्शन भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों के वाहक हैं। दोनों के स्वतन्त्र पथ हैं। ऐसी स्थिति में किसी एक दर्शन पर अन्य दर्शन की छाया स्वीकार नहीं की जा सकती। दोनों की मान्यताएँ सर्वथा भिन्न और परस्पर असामञ्जस्यपूर्ण हैं। सांख्यदर्शन सृष्टिवादी है और सृष्टिवाद की कल्पना उसके तात्त्विक वर्गीकरण के साथ जुड़ी हुई है। जैनदर्शन द्रव्य पर्यायवादी है। उसके वर्गीकरण में कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो सांख्यदर्शन के प्रकृति और पुरुष—इन दोनों से सर्वथा भिन्न हैं।[1]

भगवान महावीर स्वामी ने पंच अस्तिकायों का प्रतिपादन किया। ये ही जैन दर्शन के आधारभूत तत्त्व हैं। ये पाँच अस्तिकाय निम्नानुसार हैं—

(१) धर्मास्तिकाय
(२) अधर्मास्तिकाय
(३) आकाशास्तिकाय
(४) जीवास्तिकाय
(५) पुद्गलास्तिकाय

इनमें से एक जीवास्तिकाय जीव और शेष ४ अजीव हैं और इसी प्रकार एक पुद्गलास्तिकाय मूर्त और शेष चार अमूर्त हैं। अस्तिकाय रूप में जैनदर्शन का यह तत्त्व निर्धारण भगवान ने स्वचिन्तन एवं प्रत्यक्षानुभूति के आधार पर मौलिक रूप में किया था। अतः अनेक समकालीन विचारकों अध्येताओं एवं विशेष रूप से अन्य विश्वासों के अनुयायियों द्वारा ये आरम्भ में मान्य नहीं हो पाये। भगवान के चिन्तन

---

१ भगवान महावीर का तत्त्ववाद—मुनि श्री नथमल

क्षमतावान भगवान महावीर स्वामी कालोदायी को उपस्थित दखकर ही सब कुछ जान गये। उन्होंने कालोदायी को सम्बोधित करते हुए घोषणा की कि तुम लोग गोष्ठी कर इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे कि मेरे द्वारा प्रतिपादित पचास्तिकाय हैं अथवा नही? क्या यह सत्य है? कालोदायी परिव्राजक ने भगवान के कथन म सत्य स्वीकारते हुए कहा कि ऐसा ही हुआ है। कालोदायी भगवान की इस प्रथम उक्ति से ही अत्यन्त प्रभावित हो गया और विस्मय करने लगा कि हमारी जिज्ञासा के विषय म ये बिना हमारे बताये कसे ज्ञात कर सक।

भगवान ने ऐसी ही विस्मयपूण अवस्था म कालोदायी को पुन सम्बोधित करते हुए कथन किया कि पचास्तिकाय हैं अथवा नही? यह तुम्हारा मूल प्रश्न है। यह प्रश्न किसका है—चतन का या अचतन का आत्मा का या अनात्मा का? भगवान के इस आधारभूत प्रश्न का जो उत्तर उन्हे प्राप्त हुआ उसका आशय यह था कि यह प्रश्न तो आत्मा का है चतन का है। और इस आधार पर भगवान ने प्रतिपादित किया कि आत्मा का अस्तित्व है। उन्होने कालोदायी से कहा कि जिसे तुम आत्मा कहते हो उसे मैं जीवास्तिकाय कहता हूँ। जीव चतनामय प्रदेशो का अविभक्त काय है अत मैं इसे जीवास्तिकाय मानता हूँ।

भगवान ने आग कहा कि कालोदायी तुम्हारे मन मे एक जिज्ञासा उदित हुई और उसकी तुष्टि के लिए चलकर तुम मेरे पास आये। मछली जल मे तरती है। यह तरने की शक्ति जल में नही मछली म ही निहित है। किन्तु यह भी सत्य है कि जल के अभाव म मछली अपनी तरन की शक्ति का प्रयोग नही कर सकती। वह तर नहीं सकती है। इसी प्रकार जीव और पुद्गल की गतिशीलता के लिए गति तत्त्व की अपेक्षा बनी रहती है। गतिशीलता के लिए अपेक्षित सहयोग करने वाल पदाथ को मैं धर्मास्तिकाय कहता हूँ।

भगवान ने तदनन्तर कालोदायी से प्रश्न किया कि यही मछली जब जल स बाहर आकर स्थल पर आश्रित हो जाती है क्या तब भी वह तर सकती है? उत्तर मिला कि नहीं स्थल पर मछली तर नहीं सकती वह स्थिर और अगतिमान हो जाती है। भगवान ने अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कथन किया कि जसे तरने की शक्ति जल म न होकर स्वय मछली में है वसे ही स्थिर होने [illegible] शक्ति भी स्वय मछली म ही निहित है किन्तु धरातल न हो तो वह [illegible] सकती। शब्दान्तर से यह कहा जा सकता है कि मछली को स्थिर [illegible] न [illegible] है। जीव और पुद्गल म स्थिति की शक्ति है [illegible] म [illegible] करने वाला द्रव्य—स्थिति तत्त्व है और [illegible]

भगवान ने कालोदायी [illegible] दोनो में सहायक तत्त्व [illegible] हैं [illegible] खण्ड में वे तत्त्व हैं [illegible] आकाश

खण्ड को मैं लोक कहता हूँ । अर्थात जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म व काल इन ५ द्र[illegible] को रहने की जो जगह देता है वह लोकाकाश है ? इस लोक के परे का जो आका[illegible] खण्ड है उसमें गति और स्थिति में सहायक तत्त्वों की उपस्थिति नहीं होती—वह अ[illegible] है । लोक का आकाशखण्ड ससीम अथवा सान्त होता है जबकि अलोक का आका[illegible] खण्ड अनन्त होता है असीम होता है ।

भगवान महावीर स्वामी ने कालोदायी को सम्बोधित करते हुए आगे [illegible] कि संसार में जितने भी पदार्थ हैं उनकी अवस्थिति के लिए कोई न कोई [illegible] नितान्त अपेक्षित होता है । यथा—वृक्ष धरती पर खड़ा होता है, भवन धरती [illegible] आधारित होता है, जल कलश में टिका रहता है । इसी प्रकार द्रव्यों के लिए [illegible] आधार की अनिवार्यता बनी रहती है । जिस द्रव्य में शेष ५ द्रव्यों को आधार [illegible] की क्षमता होती है उसे मैंने आकाशास्तिकाय माना है ।

भगवान ने कहा कि तुम वृक्ष को देखते हो—वृक्ष तुम्हें हरित वर्ण का दिखाई [illegible] देता है तुम्हें उसका हरित वर्ण ही नहीं दिखायी देता, उसकी सुरभि का अनुभव [illegible] होता है उसकी सरसता से भी तुम परिचित होते हो उसके कोमल पल्लवों के [illegible] का आनन्द भी तुम्हें अनुभव होता है । इसी तरह जिस पदार्थ में वर्ण गन्ध रस और स्पर्श होता है उसे मैंने पुद्गलास्तिकाय कहा है ।

अन्त में कालोदायी से भगवान ने कहा कि पंचास्तिकाय मेरे स्पष्ट [illegible] ज्ञान में आ रहे हैं और इसी आधार पर मैंने इनका प्रतिपादन किया है । भगवान ने कहा कि यह प्रतिपादन किसी शास्त्र के आधार पर नहीं अपितु अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर किया गया है । यही कारण है कि यह प्रतिपादन नवीन और [illegible] है । इस पर किसी अन्य विचारधारा व धारणा या मत की छाया का [illegible] करना मिथ्या है ।

भगवान ने वस्तु-मीमांसा और मूल्य मीमांसा—दोनों ही दृष्टियों से [illegible] वर्णन किया । वस्तु मीमांसा की दृष्टि से पंचास्तिकाय तथा काल का [illegible] हुआ और मूल्य मीमांसा की दृष्टि से नव तत्त्वों का निरूपण हुआ ।

जैनदर्शन में तत्त्व का स्वरूप

[illegible] दर्शन में [illegible] का आधारभूत महत्त्व होता है— यह स्वीकार [illegible] भी इतना [illegible] में [illegible] कि सभी दर्शनों में तत्त्व का स्वरूप भिन्न-भिन्न [illegible] है । [illegible] सभी दर्शनों में समान महत्ता और सत्ता नहीं [illegible] [illegible] स्वीकार समझी गयी है । [illegible] [illegible] व्याख्या का मूल आधार है—

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥[1]

तदनुसार भाव अथवा सत् अनश्वर होता है। उसका कभी नाश नहीं होता। ो प्रकार किसी असत् की उत्पत्ति भी नहीं होती। सर्वथा काल्पनिक वस्तु—असत् जनदर्शन के अन्तर्गत कभी तत्त्व रूप में स्वीकार नहीं किया गया। भगवती : ८/६ में तत्त्व के स्वरूप की व्याख्या में इसी अर्थ की स्पष्ट झलक दिखायी ो है—

सद् द्रव्यं वा

अर्थात्—सत् (तत्त्व) द्रव्य का अनिवार्य लक्षण है। जो तत्त्व है वह निश्चित ' स सत् भी है। समय परिवर्तनशील अवश्य रहता है जो परिस्थितियाँ भूत काल रहीं वे वर्तमान में नहीं है और जो परिस्थितियाँ वर्तमान में हैं वे भी भविष्य परिवर्तित हो जायेंगी और तदनुसार जीवन और जगत के अनेक पक्ष रूपान्तरित ो रह हैं और होते रहेंगे। किन्तु सत् अपने स्वरूप को यथावत् बनाये रखते है। -काल-परिस्थिति के परिवर्तन से वे अप्रभावित बने रहते हैं। सत् तो स्वयंसिद्ध ो हैं। स्थानांग सूत्र १ में महावीर वाणी इस प्रकार है—

उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा

उत्पन्न होने वाले नष्ट होने वाले और ध्रुव रहने वाले को सत् कहा जाता । अतः सत् अनादि है अनन्त है। सत् का न तो कभी विनाश होता है और न ही की नवोत्पत्ति होती है। भूत भविष्य और वर्तमान मे भी वह सदैव ही यथावत् ा रहता है।

जनदर्शन में तत्त्व के उपर्युक्त स्वरूप के अतिरिक्त उसका एक अन्य स्वरूप ध्यात्मिक क्षेत्र में व्यवहृत है। सांसारिक जनो की आत्मा अज्ञान, राग द्वेष एव ा-बन्ध के कारण कलुषित है और वह स्व स्वरूप को विस्मृत किये हुए हैं। वह -स्वरूप अर्थात् पुद्गलो से सम्बन्ध जोडती है। पर भाव को स्व भाव की ओर उन्मुख ने के लिए आवश्यक है कि आत्मा और पुद्गल अर्थात चेतन और जड के :ज्ञान को स्पष्ट किया जाय। उसके लिए यह बोध आवश्यक है—

जीवोऽन्य पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसग्रह ।

जीव अन्य है और पुद्गल अन्य है। क्योंकि दोनो द्रव्य स्वतन्त्र अस्तित्व ते हैं। यही वास्तव में तत्त्वसग्रह है। जीव और पुद्गल का पार्थक्य और वभिन्न्य ापादित करने वाला भेद विज्ञान भी अत्यावश्यक है। चेतन और जड के सयोग और ोग की समस्त परिस्थितियों का सुस्पष्ट और गहन ज्ञान भी आवश्यक है। और ोग वियोग के हेतुओं को समझना भी आवश्यक है। इस प्रकार आत्मा की शुद्ध

[1] पंचास्तिकाय १५

आगमों तथा तत्संबंधी अन्य ग्रन्थों में भी इसी नव तत्त्व प्रणाली का व्यवहार मिलता है—

नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता तं जहा—जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो णिज्जरा बंधो, मोक्खो। —स्थानांग ९/६६५

विभिन्न दृष्टियों से तत्त्वों के वर्गीकरण

आध्यात्मिक दृष्टि से वर्गीकरण

जैन अध्यात्म की दृष्टि से तत्त्वों को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(१) ज्ञेय—जो ज्ञात करने के योग्य हैं।
(२) हेय—आचरण की दृष्टि से जो त्याज्य हैं।
(३) उपादेय—जो ग्रहण करने के योग्य हैं।

इस वर्गीकरण के अनुसार जीव और अजीव—दोनों ही ज्ञेय हैं। अजीव और जीव तत्त्व का ज्ञान साधकों के लिए अनिवार्य है। यही ज्ञान उनके संयम-पालन का आधार बनता है। इस ज्ञान के अभाव में संयम का स्पष्ट चित्र उभर ही नहीं पाता। सांसारिक बंध हेय होते हैं और मोक्ष उपादेय है। जब बंधरूप संसार हेय है तो स्वतः ही संसार के कारण आस्रव, पुण्य पाप, बंध भी हेय हैं। यहाँ पुण्य के सम्बन्ध में यह उल्लेख अनिवार्य है कि यह तत्त्व सर्वथा और मात्र हेय की ही कोटि में नहीं आता। पृथक्-पृथक अवस्थाओं में पुण्य की गणना ज्ञेय और उपादेय श्रेणियों में भी की जाती है। इसी प्रकार मोक्ष उपादेय श्रेणी में आता है अतः संवर और निर्जरा तत्त्व भी इसी उपादेय श्रेणी में आते हैं।

ज्ञेय—जीव-अजीव हेय—पुण्य-पाप आस्रव बंध उपादेय—संवर निर्जरा मोक्ष। सारांश यह है कि जीव और अजीव ज्ञेय श्रेणी में पुण्य पाप आस्रव, बंध हेय श्रेणी में और संवर, निर्जरा मोक्ष—उपादेय श्रेणी में आते हैं, पाप की अपेक्षा पुण्य तत्त्व का स्थान उपादेय श्रेणी में भी आता है क्योंकि पुण्य धर्म-साधन में निमित्त होता है। धर्म की अपेक्षा पुण्य हेय है।

रूपी-अरूपी आधार पर वर्गीकरण

रूपी तत्त्व वे हैं जिनमें वर्ण गंध रस व स्पर्श हो तथा जो सड़न-गलन विध्वंसन स्वभाव से युक्त हो। इसके विपरीत इन लक्षणों से रहित तत्त्व अरूपी हैं। इस दृष्टि से नव तत्त्वों में से जीव अरूपी है। इसी प्रकार मोक्ष की गणना भी अरूपी तत्त्व के रूप में ही होगी।

अजीव तत्त्व के पाँच भेद किये जाते हैं—

(१) धर्म (२) अधर्म (३) आकाश (४) काल (५) पुद्गल।

इनमें से प्रथम चार तो अरूपी हैं और अन्तिम (पुद्गल) रूपी है। पुद्गल की पर्याय विशेष द्रव्य-कर्मरूप, आस्रव बंध पुण्य, पापकर्म भी रूपी हैं।

जीव अजीव दृष्टि से वर्गीकरण

नव तत्त्वों में से कितने और कौन कौन से जीव हैं और कौन-कौन से अजीव—यह निर्णय इस वर्गीकरण का विषय है। जीव श्रेणी के अन्तर्गत सहज रूप में ही जीव तत्त्व तो आता ही है साथ ही जीव की अवस्थाएँ विशेष—संवर निर्जरा मोक्ष तत्त्व भी जीव श्रेणी के अन्तर्गत हो जाते हैं।

इसी प्रकार अजीव तत्त्व तो सहज अजीव श्रेणी में मान्य होता ही है साथ ही अजीव तत्त्व की अवस्थाविशेष पुण्य पाप आस्रव और बंध अजीव श्रेणी में आ जाते हैं जो पुद्गलस्वरूप हैं। इनके अतिरिक्त धर्म अधर्म आकाश काल की गणना भी अजीव श्रेणी में की जाती है जो अमूर्तस्वरूप है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वों की संख्या सूत्रात्मक रूप से जिस शैली के अन्तर्गत केवल २ मानी गयी है—जीव और अजीव—उसमें कोई अनौचित्य नहीं है।

द्रव्य-दृष्टि से वर्गीकरण

तत्त्वों का वर्गीकरण जैनदर्शन में दो दृष्टियों से किया जाता है—तत्त्वदृष्टि से तथा द्रव्यदृष्टि से। उपर्युक्त वर्गीकरण (आध्यात्मिक दृष्टि से रूपी अरूपी एवं जीव-अजीव) तत्त्व की दृष्टि से किये गये हैं।

द्रव्यदृष्टि से तत्त्वों का वर्गीकरण तनिक भिन्न पद्धति से किया जाता है। इसके अन्तर्गत द्रव्य को प्रमुखत्व प्राप्त होता है और तदनुसार द्रव्य के ६ भेद होते हैं—जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल। इनमें से काल द्रव्य ऐसा है, जो प्रदेशसमूहरूप नहीं होता और शेष पाँच द्रव्य प्रदेशसमूहरूप होते हैं। अतः काल द्रव्य को छोड़ शेष जो ५ द्रव्य हैं वे ही पंचास्तिकाय कहलाते हैं—

(१) जीवास्तिकाय
(२) धर्मास्तिकाय
(३) अधर्मास्तिकाय
(४) आकाशास्तिकाय
(५) पुद्गलास्तिकाय

भगवान महावीर स्वामी ने इसी प्रकार पंचास्तिकाय का प्रतिपादन किया था।

□

अध्याय ७

नवतत्त्व-विवेचन

(१) जीवतत्त्व

नवतत्त्वो मे जीवतत्त्व को ही मुख्यत्व प्राप्त है। यो व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो नवतत्त्व व्यवस्था मे जीव और अजीव तत्त्व आधारभूत हैं। इस आधार पर जीव और अजीव तत्त्वो का धर्मीतत्त्व कहा जा सकता है और शेष तत्त्वो को इनका धर्म-तत्त्व माना जा सकता है। नवतत्त्व व्यवस्था मे जीव तत्त्व को आदि स्थान प्राप्त है।

जीवो उवओगलक्खणो

उत्तराध्ययन के उपयुक्त सूत्र द्वारा जीवतत्त्व के लक्षण को स्पष्ट किया गया है। जिसमे उपयोग है वह जीव है। यहाँ उपयोग का आशय चेतना से है। इस उपयोग (चेतना) के भी दो भेद हैं—साकारोपयोग और निराकारोपयोग। इनमे से प्रथम ज्ञान क्षेत्र का है और द्वितीय दर्शन क्षेत्र का। समग्रत यह कहा जा सकता है कि जिसमे ज्ञान और दर्शन दोनो के उपयोग विद्यमान हो—वह जीव है।

भाव यह है कि जीव में चैतन्य की उपस्थिति अनिवार्यत होती है। उसके चैतन्य का प्रमाण यह है कि जीव सुख दुःखानुभूतियुक्त होता है। अनुभव की क्षमता चैतन्य का ही परिणाम है। उसमे चिन्तनाशक्ति निहित होती है और वह स्व-पर तथा हिताहित का विवेक रखता है। ये क्षमताए जीवेतर तत्त्वो म विद्यमान नहीं होतीं। द्रव्य और भाव प्राणों से जो जीता है वह जीव है जो निम्न प्रकार है—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्व।

पचास्तिकाय की प्रस्तुत उक्ति द्वारा जीव की अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत व्याख्या उपलब्ध होती है। जो चार प्राणो से जीता है जायेगा और पहले भी जीता था—वह जीव है। ये चार प्राण हैं—इन्द्रियाँ बल आयु और श्वासोच्छवास

पाँच हैं—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र। इन स

सूँघकर देखकर त्रिविध प्रकार के

भव त्वचा, जिह्वा कर्ण स

प्रकार बल भी

अध्याय ७

नवतत्त्व-विवेचन

(१) जीवतत्त्व

नवतत्त्वों में जीवतत्त्व को ही मुख्यत्व प्राप्त है। यों व्यापक दृष्टि से देखा य तो नवतत्त्व व्यवस्था मे जीव और अजीव तत्त्व आधारभूत हैं। इस आधार पर व और अजीव तत्त्वों का धर्मीतत्त्व कहा जा सकता है और सब तत्त्वों को इनक ैन्तत्त्व माना जा सकता है। नवतत्त्व व्यवस्था म जीव तत्त्व को आदि स्थान प्त है।

जीवो उवओगलक्खणो

उत्तराध्ययन के उपयुक्त सूत्र द्वारा जीवतत्त्व के लक्षण को स्पष्ट किया गया । जिसमें उपयोग है वह जीव है। यहाँ उपयोग का आशय चेतना से है। इस उप ग (चेतना) के भी दो भेद हैं—साकारोपयोग और निराकारोपयोग। इनमें से प्रथम न क्षेत्र का है और द्वितीय दर्शन क्षेत्र का। समग्रत यह कहा जा सकता है कि समें ज्ञान और दर्शन दोनों के उपयोग विद्यमान हों—वह जीव है।

भाव यह है कि जीव म चेतन्य की उपस्थिति अनिवार्यत होती है। उसक तन्य का प्रमाण यह है कि जीव सुख-दु खानुभूतियुक्त होता है। अनुभव की क्षमता तन्य का ही परिणाम है। उसमें चिन्तनाशक्ति निहित होती है और वह स्व-पर तथा ताहित का विवेक रखता है। ये क्षमताएँ जीवेतर तत्त्वों मे विद्यमान नहीं होतीं। व्य और भाव प्राणों से जो जीता है वह जीव है जो निम्न प्रकार है—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्व ।

पंचास्तिकाय की प्रस्तुत उक्ति द्वारा जीव की अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत व्याख्या पलब्ध होती है। जो चार प्राणों से जीता है जीवेगा और पहले भी जीता था— ह जीव है। ये चार प्राण हैं—इन्द्रियाँ बल आयु और श्वासोच्छ्वास। इन्द्रियाँ ांच हैं—स्पर्शन रसन घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इन इन्द्रियों से छूकर चखकर ूंघकर देखकर और सुनकर विविध प्रकार के अनुभव प्राप्त किये जाते हैं। ये अनु व त्वचा जिह्वा नासिका, नेत्र और कर्ण के माध्यम से प्राप्त किये जाते हैं। इसी कार बल भी ३ कोटियों के होते हैं—मनोबल वचनबल और कायबल। ये ५

कणों के योग से पिंड अथवा स्कंध का रूप भी ले सकता है और पिंड के खण्ड खण्डन की प्रक्रियास्वरूप अणुरूप में भी आ सकता है। परमाणु पुद्गल अवस्था है जहाँ उस छोटे से छोटे कण का और आगे खण्डन संभव नहीं होता अविभाज्य होता है।

परमाणु इतनी सूक्ष्मतम अवस्था में होता है कि इन्द्रियों की अनुभव-परि नहीं रहता। परमाणु स्वयं ही अपना आदि और स्वयं ही अन्त होता है और इस में एक वर्ण एक गंध एक रस और दो स्पर्श अवश्य ही होते हैं। जनदर्शन में प की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या विवेचन और विश्लेषण किया गया है। परमाणु की व्याख्या विश्व में प्राचीनतम तो है ही साथ ही परमाणु विज्ञान की नव-नवीन के लिए वैज्ञानिकों के लिए प्रामाणिक प्रेरणा भी देती है। वैज्ञानिकों के मन में जिज्ञासाएँ उत्पन्न करने में जनदर्शन का यह भाग सर्वथा सक्षम है और इस वैज्ञानिक प्रगति में समर्थ सहायक बना हुआ है।

जनदर्शन का यह पुद्गल विज्ञान यह भी प्रकट करता है कि पु (पदार्थों) में पूरण और गलन की प्रक्रिया निरन्तर चलती ही रहती है। पुद् सगठित होकर स्कन्ध या पिण्ड होते जाते हैं और पिण्ड गलन क्रिया द्वारा ब होते रहते हैं। इस प्रकार पुद्गल विभिन्न अवस्थाएँ धारण करते रहते हैं और अथवा स्थूल प्रत्येक अवस्था में पुद्गल के चारों गुण वर्ण रस स्पर्श और विद्यमान रहते हैं। ऐसा संभव है कि इनमें से कुछ इतने अधिक प्रभावी और हों कि स्पष्टतः इन्द्रिय अनुभव की परिधि में आजायें और कतिपय अन्य इतने हों कि उनका अनुभव सहज नहीं हो पाता हो।

काल अजीव अस्तिकाय नहीं

जीव धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल असंख्य प्रदेशी हैं। प्रदेश का नीकी अर्थ है—अविभागी पुद्गल परमाणु जितने आकाश को घेरे अर्थात् आकाश का यह सूक्ष्मांश प्रदेश कहलाता है। ऐसे असंख्य प्रदेश जीव धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल द्वारा घेरे जाते हैं। अतः वे अस्तिकाय के रूप में स्वीकार किये गये हैं। उनका भौतिक अस्तित्व रहता है। भगवान महावीर स्वामी ने इसी कारण इन जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय के रूप में (पंचास्तिकाय) प्रतिपादन किया। इसके विपरीत काल को अस्तिकाय रूप में स्वीकृति नहीं मिली। इसका कारण यह है कि काल बहुप्रदेशी नहीं है कायवान नहीं है। काल अस्तिकाय न होकर केवल काल द्रव्य कहलाता है।

जैनदर्शन की मान्यतानुसार जीव और अजीव के ५ भेदों को 'द्रव्य' कुल ६ द्रव्य हैं और ६ द्रव्यों का समुच्चय ही लोक है। इन द्रव्यों के अन्तर्गत है

लोक अस्तित्व में आया है अन्यथा किसी ने लोक की रचना नहीं की है। इसी प्रकार लोक का कोई संहार भी नहीं कर सकता। लोक का स्वत विनाश भी संभव नहीं है क्योंकि द्रव्यों का कभी विनाश नहीं होता। लोक के विषय में जनदर्शन की यह मूलभूत दृष्टि है और इसी आधार पर जैन सिद्धान्त और आचारों ने आकार ग्रहण किया है।

(३-४) पुण्य तत्त्व एवं पाप तत्त्व

शुभ पुण्यस्य। अशुभ पापस्य।[1]

अपने सामान्यार्थ में पाप और पुण्य क्रमश अशुभ और शुभ कर्म हैं। आत्मा को शुभ की ओर अग्रसर करे और इष्ट की प्राप्ति करावे वह पुण्य है। इसके विप आत्मा को अशुभ की ओर अग्रसर कर उसे अनिष्ट की प्राप्ति करावे वह पाप है। व्याख्या जीव के भावों, विचारों और उनके परिणामों को दृष्टिगत रखते हुए जाती है। जनदर्शन पुण्य-पाप का विवेचन तनिक भिन्न दृष्टिकोण के साथ करता। यह दर्शन पुण्य और पाप को शुभ और अशुभ कर्म परमाणु के रूप में अजीव मानता और तदनुसार ही इनका विवेचन किया जाता है। जनदर्शन यह प्रकट करता है ये अजीव कर्म परमाणु अपने स्वरूपानुसार शुभाशुभ परिणाम भी देते हैं और तद सार ही शुभाशुभ बन्ध भी बनते हैं। यहाँ यह आधारभूत प्रश्न आ सकता है कि पुण्य और पाप को अजीव रूप में क्यों माना जाता है? वस्तुत योग आस्रव के अन्तर्गत व को प्राप्त होने शुभाशुभ परिणाम रखे जाते हैं। हमारी मान्यता है कि मन वचन और काया की भली-बुरी प्रवृत्तियों द्वारा ही जीव शुभ अथवा अशुभ कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है। तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट किया गया है कि कर्मों के इस प्रकार विपाक दित होते हैं और इस दृष्टि से सातावेदनीय सम्यकत्व मोहनीय हास्य रति पुरुषवेद भ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र की कर्मप्रकृतियाँ पुण्य हैं। इनसे इतर कर्म कृतियाँ पाप हैं। शुभ और अशुभ रूप में आत्मा को प्राप्त होने वाले परिणाम अग णत हैं। तदनुसार पाप-पुण्य के कारण भी असंख्य ही होते हैं तथापि इनमें से प्रमुख कारणों का विवेचन तो किया ही जा सकता है और किया भी गया है। पुण्य के अनेक भेद भी बताये गये हैं।

पुण्य के भेद

विपाक रूप में उदित पुद्गल यदि शुभ हैं तो वे पुण्य हैं और उनके कारण स्वरूप जो प्रवृत्तियाँ रही हैं वे भी पुण्य हैं। पुण्य प्राप्ति के आधारस्वरूप कारण अनेक हैं। उनमें से कतिपय प्रमुख कारणों का उल्लेख योगशास्त्र में इस प्रकार मिलता है —

अर्हंत आदि पंच परमेष्ठियों में भक्ति समस्त जीवों पर करुणा और चरित्रों में प्रीति रखने से पुण्य का बंध होता है।[1]

इनके अतिरिक्त भी अनेक कारणस्वरूप प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं जो मन के शुभ परिणामस्वरूप होती हों। दीन दुखियों की सेवा, गुणीजनों पर प्रमोद भाव परोपकार आदि प्रवृत्तियाँ ऐसे ही कारण बन सकती हैं। सूत्रात्मक रूप में पुण्योपार्जन के ९ कारणों का उल्लेख है[2] और तदनुसार शास्त्रसम्मत रूप में ९ भेद हैं—

(१) अन्नपुण्य	भोजन देना
(२) पानपुण्य	जल पिलाना
(३) लयनपुण्य	योग्यता अनुसार आवास की व्यवस्था करना
(४) शयनपुण्य	शयनादि विश्राम साधन देना
(५) वस्त्रपुण्य	वस्त्रादि देना
(६) मनपुण्य	दान शील आदि शुभ भावनाओं में मन को प्रवृत्त
(७) वचनपुण्य	मधुर और प्रिय वचन बोलना
(८) कायपुण्य	शरीर द्वारा जीवों की सेवा—सहायता करना
(९) नमस्कारपुण्य	गुणी जनों गुरुजनों आदि के प्रति विनय भाव से नमस्कार करना आदि

पाप के भेद

उदित हुए अशुभ कर्मपुद्गलों और उनके कारणस्वरूप अशुभकर्मों को कहा जाता है। पुण्य की भाँति ही पाप की कर्मप्रवृत्तियाँ भी असंख्य हैं तथापि से प्रमुख का शास्त्रों में निम्नानुसार उल्लेख मिलता है—

(१) प्राणातिपात	प्रमाद (असतर्कता) वश प्राणों का घात करना
(२) मृषावाद	असत्य भाषण
(३) अदत्तादान	चोरी करना
(४) अब्रह्मचर्य	कुशील का सेवन करना
(५) परिग्रह	पर-पदार्थ में ममत्व का भाव रखना
(६) क्रोध	क्रोधित होना
(७) मान	अहंकार करना

१ अर्हदादौ परा भक्ति कारुण्यं सर्वजन्तुषु।
पावने चरणे राग पुण्यबन्धनिबन्धनम्॥

योगशास्त्र ४/१७

२ पुण्य ९ प्रकार से बाँधा जाता है और ४२ प्रकार से भोगा जाता है। पाप १८ प्रकार से बाँधा जाता है और ८२ प्रकार से भोगा जाता है।

(८) माया	कपट भाव रखना
(९) लोभ	असंतोष—प्राप्त पदार्थों के संरक्षण की प्रवृत्ति
(१०) राग	माया व लोभ की वृत्ति के साथ आसक्ति
(११) द्वेष	क्रोध और मान के अधीन जीव के परिणाम
(१२) कलह	लड़ाई-झगड़ा करना
(१३) अभ्याख्यान	मिथ्या दोष लगाना
(१४) पशुन्य	परोक्ष में किसी के दोष प्रकट करना (चुगली)
(१५) परनिन्दा	दूसरों की बुराई करना
(१६) रति अरति	सुन्दर वस्तुओं के प्रति राग और असुन्दर के प्रति द्वेष रखना—अथवा पाप में रुचि और पुण्य में अरुचि रखना
(१७) माया-मृषावाद	कपटपूर्वक झूठ बोलना
(१८) मिथ्यादर्शन	जीवादि तत्त्वों और देव गुरु धर्म आदि के प्रति श्रद्धा न रखना अथवा विपरीत श्रद्धा रखना

(५) आस्रव तत्त्व

यह तो स्पष्ट हो चुका है कि आत्मा पाप-पुण्यरूप कर्मों को ग्रहण करती रहती है। आत्मा द्वारा इस ग्रहण का माध्यम ही आस्रव है। शब्दान्तर से यह कहा जा सकता है कि पाप पुण्य कर्मों के आत्मा तक पहुँचने का द्वार या मार्ग ही आस्रव है। आत्मा के जिन परिणामों से पुद्गल द्रव्य कर्म रूप बनकर आत्मा में आता है उसे आस्रव कहते हैं। मनुष्य मन-वचन-काय से प्रतिक्षण कर्मरत रहता है और आत्मा निरन्तर कर्मपुद्गल का आस्रव प्राप्त करती रहती है। यह प्रक्रिया ठीक वैसी ही है जैसे समुद्र नदी से निरन्तर जल प्राप्त करता रहता है। यदि समुद्र को आत्मा और जल को कर्मपुद्गल के रूप में स्वीकार किया जाय तो नदी के रूप में आस्रव को माना जा सकता है।

आस्रव तत्त्व के भेद

आत्मा में कर्म के आगमन के मुख्यतः दो स्वरूप हैं। इस आधार पर आस्रव के दो भेद किये जाते हैं—

(१) द्रव्यास्रव—अपने-अपने निमित्त रूप योग को प्राप्तकर आत्मा में स्थित पुद्गल कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं—यह द्रव्यास्रव है।

(२) भावास्रव—आत्मा के जिन परिणामों से पुद्गल द्रव्य कर्म रूप बनकर आता है—उन आत्म-परिणामों को भावास्रव कहा जाता है।

आत्मा में कर्मों के आगमन हेतु मुख्यतः ५ कारण माने जाते हैं और तदनुसार आस्रव के पाँच भेद हैं—

(१) मिथ्यात्व
(२) अविरति
(३) प्रमाद
(४) कषाय
(५) योग

(१) मिथ्यात्व—जीवादि तत्त्वों में आस्था न रखना अथवा विपरीत श्रद्धा रखना मिथ्यात्व है। मुस्थापित विचार या ज्ञान के विरुद्ध विश्वास करना, जड़ में चैतन्य को स्वीकार करना, जो तत्त्व नहीं हैं उन्हें तत्त्व मानना आदि मिथ्यात्व के प्रतीक हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व की प्रक्रिया दो प्रकार से हो सकती है। एक तो तत्त्व विषयक वास्तविक मान्यता में श्रद्धा के अभाव से और दूसरी यह कि तत्त्वों के विषय में अवास्तविक रूपों में श्रद्धा रखने से। प्रथम प्रकार का यह यथार्थ श्रद्धा के अभाव वाला मिथ्यात्व इस कारण होता है जीव पर अज्ञान की सघनता बनी रहती है और ज्ञानाभाव के कारण तत्त्व के यथार्थ स्वरूप से वह परिचित नहीं होता। एकेन्द्रिय जीवों में यही स्थिति पायी जाती है। दूसरे प्रकार के मिथ्यात्व में मुख्य बात यह रहती है कि जीव कदाग्रह के वशीभूत होकर किसी एकांगी और अयथार्थ विचार पर स्वयं को मुग्ध कर लेता है। पहले प्रकार की अश्रद्धा [illegible] होती है जबकि दूसरे प्रकार की अश्रद्धा स्वारोपित होती है कदाग्रह के कारण होती है।

एक अन्य दृष्टि से विचार करने पर मिथ्यात्व के निम्नलिखित ५ भेद किये जाते हैं—

आभिग्राहिक मिथ्यात्व—तत्त्वों की परीक्षा करके सन्तुष्ट होने [illegible] के स्थान पर किसी पक्ष का दुराग्रहपूर्वक स्वीकार करना एवं अन्य पक्ष का [illegible] या खण्डन करना।

अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व—गुण दोष की परीक्षा किये बिना ही सभी पक्षों को समान समझना।

आभिनिवेशिक मिथ्यात्व—अपने पक्ष को असत्य मानते हुए भी उसके लिए दुराग्रह करना।

सांशयिक मिथ्यात्व—देव गुरु धर्म तत्त्वादि के स्वरूप के विषय में संदेह बने रहना।

अनाभोगिक मिथ्यात्व—यह विवेकशून्यता की दशा होती है। [illegible] जीवों में जो मिथ्यात्व होता है वह इसी प्रकार का होता है।

(२) अविरति—अविरति वह दशा है जहाँ जीव इच्छाओं और [illegible]

से स्वयं को अलग नहीं करता है। इन्द्रियों एवं मन को संयत न रखने के परिणाम स्वरूप ही ऐसा होता है। ऐसा जीव हिंसा (छह काय के जीवों का घात आदि) को त्याग कर प्रत्याख्यान भी नहीं करता है।

(३) प्रमाद—इसका आशय है—शुभ कार्यों के प्रति उत्साह नहीं रखना। शिथिलता इसका प्रमुख कारण है। ऐसा जीव आत्मोत्थान के कार्य में आलस्य करता है।

(४) कषाय—आत्मा के सहज स्वरूप को हानि पहुंचाने वाली दुष्प्रवृत्तियाँ कषाय हैं, जैसे—क्रोध मान माया लोभ आदि।

(५) योग—मानसिक वाचिक और कायिक शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ योग के अन्तर्गत गिनी जाती हैं।

(६) संवर तत्त्व

आस्रव द्वारा आत्मा कर्मपुद्गलों को ग्रहण करती है और आस्रव निरोध संवर है। अर्थात् संवर उन निमित्तों का निरोध करता है जिनसे आत्मा कर्मबन्धित होती है। संवर इस प्रकार कर्मों के आत्मा तक पहुंचने के द्वार को अवरुद्ध करता है। मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग द्वारा आत्मा कर्मों का आस्रव करती है—ये आत्मा में कर्मागमन के कारण बनते हैं—इन कारणों को अप्रभावी और निष्क्रिय बना देना ही संवर है। कर्मों का कुछ जमाव आत्मा पर बन्ध रूप में हो चुका हो, किन्तु आगे से नवीन कर्म प्रवेश पर निषेध लग जाता है। इस प्रकार के निषेध अर्थात् संवर के लिए निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

गुप्ति, समिति धर्मसाधना अनुप्रेक्षा अर्थात् तत्त्वस्वरूप का चिन्तन परीषह सहिष्णुता, सम्यक् चारित्र, तप आदि।

आत्मा को बन्ध भार से मुक्त करने का प्रयत्न प्रत्येक साधक धर्माचरण और साधनाओं द्वारा करता रहता है किन्तु वह संगृहीत बन्ध को उसी अवस्था में हल्का कर सकता है जब कि नवीन कर्मों के आगमन पर प्रतिबन्ध लगाये। इसी प्रकार का प्रतिबन्ध आस्रवण को अवरुद्ध करता है और यही संवर है। यदि किसी जलाशय को खाली करना हो तो जल को बाहर उलीचना भर का प्रयत्न पर्याप्त नहीं होता। हाँ, यह भी आवश्यक है। किन्तु जलाशय खाली तो तभी होगा जब उसके जल पूर्ति के मार्ग (नालों आदि) को पहले बन्द कर दिया जाय। संवर इन नालों को बन्द करने के प्रयत्न के समान ही है। इस प्रकार यह भली भाँति समझा जा सकता है कि संवर का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

संवर तत्त्व के भेद

कर्म के आस्रव को प्रतिबन्धित करना प्रत्येक जागृत आत्मा का स्वभाव हो

जाता है। इस निमित्त जीव के सद्प्रयास सवर के ही रूप होते हैं। सवर के निम्नांकित ५ भेद माने गये हैं—

(१) सम्यक्त्व—जीवादि तत्वो के प्रति यथार्थ श्रद्धा रखना।

(२) व्रत—पाप कर्मों से निर्लिप्त रहना।

(३) अप्रमाद—धर्म के प्रति उत्साह रखना।

(४) अकषाय—क्रोधादि कषायो का क्षय करना।

(५) योगनिग्रह—मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का निरोध करना।

उपर्युक्त पाँचो भेद आस्रव के पाँच भेदो से विपरीत प्रभाव वाले हैं। सवर के इन पाँच भेदो के अतिरिक्त भी अन्य काफी सख्या मे भेद मिलते हैं। कही इसके २० भेद और कही ५७ भेद भी माने गये हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय बिन्दु है कि चाहे भेद २० कर लिये गये हो और चाहे ५७ किन्तु प्रमुखत ये ५ भेद ही हैं और किसी न किसी रूप मे शेष भेदो का इनमे समाहार हो जाता है। यथा—हिंसादि पाप कर्मों से निवृत्ति रखना, पचेन्द्रियो की प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण रखना, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को सयत रखना आदि को भी सवर के भेदो के रूप मे लिया जाता है किन्तु हम पाते हैं कि इन अतिरिक्त भेदो को उक्त ५ भेदो के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है और किया जाता है।

(७) निर्जरा तत्त्व

पाप पुण्य रूप कर्मों के आत्मा तक पहुँचने का द्वार आस्रव है। इन कर्मानुरूप पुद्गलो का आत्मा के साथ मेल होना और दोनो का एकाकार हो जाना बन्ध है। कर्मभार से आत्मा को मुक्त करने के उद्देश्य से नवीन कर्मों का आगमन बन्द करने हेतु आस्रवो को प्रतिबन्धित करना सवर है। और सवर द्वारा नवीन कर्मागमन रोक कर आत्मा पर पूर्वबद्ध कर्मों का क्रमश क्षीण करना निर्जरा है।

जलाशय मे भरे जल को खाली करने के लिए जल स्रोत नाला आदि को अवरुद्ध करना आवश्यक है। यह अवरोध यदि आत्मारूपी जलाशय मे नवीन कर्मों के प्रवेश को रोकने के लिए—सवर के समान है तो नालो के रुक जाने से सूर्य के ताप से क्रमश पहले से भरा जल क्षीण होता जायगा यह कर्मों की क्षीणता के समान है और यह निर्जरा है। वैसे कर्म अपने-अपने शुभाशुभ फल देकर—स्वत ही क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। शुभकर्म शुभफल देकर और अशुभकर्म अशुभफल देकर अपनी अवधि समाप्त कर क्षीण हो जाते हैं किन्तु यह निर्जरा नहीं है। सवर से नवीन कर्मों को आत्मा तक पहुँचने पर रोक लगाकर तब तक के बद्धकर्मों का क्षय करना ही निर्जरा है। कर्मस्थिति के साथ कर्म क्षय होने को सविपाक निर्जरा और बिना प्रयास के कर्मक्षय को अविपाक निर्जरा कहा जाता है।

कर्मक्षय मोक्षप्राप्ति की ओर अग्रसर होना है। सर्वथा कर्मक्षय हो जाने पर मुक्ति-पद सुलभ हो जाता है। इस प्रकार निर्जरा मोक्षलाभ के लिए सोपानों के समान है। निर्जरा उत्तरोत्तर कर्मक्षय का कार्य करती रहती है। यह ठीक उस प्रकार से है जैसे एक के पश्चात् एक सोपान पार करते हुए व्यक्ति उन्नत और लक्ष्य के समीपतर होता जाता है। मुमुक्षु साधक के लिए आवश्यक है कि वह यथासम्भव रूप से अपनी आत्मा को जन्म-जन्म से बँध कर्म समूह से धीरे धीरे मुक्त करता चले। यही प्रक्रिया निर्जरा की संज्ञा से अभिहित होती है।

निर्जरा तत्त्व के भेद

निर्जरा का प्रयोजन कर्मों को क्षीण करना है और तप से कर्मक्षय हो जाता है। अतः तप ही निर्जरा है। जैसे अशुद्धियुक्त स्वर्णपिण्ड को जब अग्नि में तपाया जाता है तो शुद्ध (खरा) स्वर्ण निकल आता है वैसे ही कर्मबन्ध से मुक्त कर तप आत्मा को शुद्ध रूप प्रदान कर देता है। तप के १२ प्रकार हैं। इस आधार पर निर्जरा के भी १२ भेद किये गये हैं—

(१) अनशन—अशन का अर्थ है आहार ग्रहण करना और अनशन का अर्थ है निराहार रहना। अनशन अनेक प्रकार के होते हैं। आहार-त्याग एक दिवस के लिए भी हो सकता है और यह आहार त्याग आमरण भी हो सकता है।

(२) ऊनोदरी—ऊनोदरी का अर्थ है आवश्यकता की अपेक्षा कम मात्रा में आहार ग्रहण करना अर्थात् स्वेच्छा से भोज्य मात्रा को सीमित कर लेना। ऊनोदरी को इसके व्यापक अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है और ऐसी अवस्था में समग्र आवश्यकताओं को इस क्षेत्र में ले लिया जाता है और तब अपेक्षित या आवश्यक साधन सुविधाओं की अपेक्षा कम मात्रा में उन्हें प्रयुक्त करना ऊनोदरी है। इस दृष्टि से ऊनोदरी के अनेक उपभेद हो जाते हैं—जैसे वस्त्र पात्र आदि में कमी करना भी ऊनोदरी के ही प्रकार हो जाते हैं।

(३) भिक्षाचर्या—निर्दोष भिक्षा की गवेषणा करना भिक्षाचर्या है। विविध प्रकार की प्रतिज्ञाएं धारण करके वृत्तियों का संकोच किया जाता है। उदाहरणार्थ इस प्रकार का संकल्प ले लेना कि आज स्वतः ही अमुक खाद्य पदार्थ उपलब्ध होगा तभी मैं भिक्षा ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।

(४) रस-परित्याग—यह स्वादेन्द्रिय अथवा रसना को संयत करने का प्रयास है। स्वादु, सरस, आनन्ददायी और पौष्टिक पदार्थों जैसे घृत नवनीत, मधुर पदार्थादि का परित्याग करना रस-परित्याग है। साधारण और रूखा-सूखा आहार में संतोष कर लेना रस-परित्याग कहलाता है।

(५) कायक्लेश—आत्म शुद्धि के महत् प्रयोजन से काया को कष्ट में रख

कर भी समवत् रहना कायक्लेश है। वीरासन आदि आसनों में काया को स्थिर कर एकाग्र अवस्था में स्वाध्याय ध्यान आदि में प्रवृत्त रहना कायक्लेश का एक रूप है। इस निमित्त यह अनिवार्य शर्त आवश्य है कि ऐसा सर्वथा छल दम्भ या प्रदर्शन की भावना से रहित होकर किया जाना चाहिए और मन की अचपलता बनी रहनी चाहिये। यदि ये विशेषताएँ नहीं रहीं तो कायक्लेश तप रहेगा ही नहीं और शरीर का व्यर्थ ही कष्ट में डाला जायगा सब कुछ फलहीन और मिथ्या रह जायगा।

(६) प्रतिसंलीनता—इसका आशय यह है कि आत्मा को असद्प्रवृत्तियों से विमुख कर सद्प्रवृत्तियों में लीन करना। असद्प्रवृत्तियाँ इन्द्रियाँ, कषाय, मन वचन काया के माध्यम से आती हैं। अतः सावधानीपूर्वक इनको संयत रखना भी अपेक्षित है। आत्मा को सद्प्रवृत्तियों से च्युत न होने देने के लिए यह आवश्यक है कि बाह्य वातावरण से दूर रहा जाय। ऐसे स्थानों से भी सम्पर्क न रखे जो राग द्वेष मोहादि जागृत करते हों।

उपर्युक्त ६ तप बाह्य तप कहलाते हैं। इनमें बाह्य और भौतिक पदार्थों का प्रसंग रहता है और इन तपों को अन्य जन देख-समझ सकते हैं तथा इनके प्रभाव व्यापकता और गहराई का अनुमान भी लगा सकते हैं। आगामी सब ६ तप अन्तरंग तप हैं। प्रकट रूप में ये दृश्यमान नहीं होते न ही इनके विषय में किसी प्रकार का आभास या अनुमान अन्य जनों द्वारा लगाया जा सकता है। यह भी एक तथ्य है कि आत्म शुद्धि के लिए ये अन्तरंग तप अधिक प्रबल और प्रभावी साधन हैं।

(७) प्रायश्चित्त—अज्ञात रूप में हो गये दोषों के प्रतिकार के लिए सयत्नपूर्वक प्रायश्चित्त करने से आत्मशुद्धि होती है। यह पश्चात्ताप है अर्थात् पूर्व में हुए दोष के लिए बाद में होने वाला दुःख है। इससे पाप का परिष्कार होता है। प्रायश्चित्त शब्द के अर्थ विवेचन से भी यही आशय प्राप्त होता है। प्रायश्चित्त शब्द प्राय और चित्त शब्दों के मेल से बना है। प्राय का अर्थ है—पाप और चित्त का अर्थ है—शुद्धि। इस प्रकार इस शब्द का समन्वित अर्थ है—पाप की शुद्धि। निस्सन्देह प्रायश्चित्त आत्मशुद्धि का अमोघ साधन है।

(८) विनय—व्रत विद्या आयु आदि में अपने से बड़ों के प्रति सम्मान का भाव रखना और उनकी उपेक्षा न करना आदि विनय है। ऐसे बड़ों के प्रति विनम्रतापूर्ण व्यवहार रखा जाना चाहिए। साथ ही देव गुरु धर्मादि का सम्मान करना और इनकी अवहेलना न करना भी विनय है।

(९) वैयावृत्य—इसका अर्थ है—सेवा करना। यह सेवा आचार्य उपाध्याय रोगी आदि के प्रति होती है।

(१०) स्वाध्याय—धर्मग्रन्थों शास्त्रों सत्साहित्यादि का मर्यादापूर्वक अध्ययन

करना। स्वाध्याय का एक अर्थ और भी महत्त्वपूर्ण है। स्व अर्थात् आत्मा का अध्ययन करना। इसका अर्थ चिन्तन मनन करने के अधिक समीप है।

(११) ध्यान—ध्यान का अर्थ है मानसिक चंचलता पर विजय प्राप्तकर आत्मनिरीक्षण हेतु एकाग्र हो जाना।

(१२) व्युत्सर्ग—शरीर बाह्य उपाधियों आदि से ममत्व का त्यागकर आत्मस्थ हो जाना व्युत्सर्ग है अर्थात् समस्त बाह्य पदार्थों से विरक्त होकर आत्म साधना में लीन हो जाना।

(८) बन्ध तत्त्व

कषाययुक्त परिणामों से कर्मानुसार पुद्गलों का आत्मा से सम्बन्ध हो जाता है यह सम्बन्ध ही बन्ध है। बन्ध का शाब्दिक अर्थ है—जुड़ना। आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का जुड़ने का क्रम चलता ही रहता है। और आत्मा पर बन्ध भार इस प्रकार अभिवर्धित होता चलता है आत्मा के साथ पुद्गलों का यह मेल (बन्ध) अविच्छिन्न रूप में हो जाता है। जैसे दूध और पानी दो पृथक्-पृथक् पदार्थों को मिलाया जाए तो दोनों घुल मिलकर एकाकार हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा और पुद्गल पृथक् होते हुए भी एक दूसरे में उनका समाहार हो जाता है पुद्गल आत्मा में रच पच जाता है जैसे तप्त लोह खण्ड में अग्नि कण-कण में व्याप्त हो जाती है।

बन्ध तत्त्व के भेदोपभेद

बन्ध तत्त्व के अधोलिखित ४ भेद हैं—

(१) प्रकृतिबन्ध—इस भेद के अन्तर्गत आत्मा के साथ मेल स्थापित करने वाले कर्म पुद्गल भिन्न भिन्न प्रकृति के होते हैं परिणामतः किसी पुद्गल से ज्ञान गुण आवृत हो जाता है तो किसी से आत्मा का दर्शन गुण मन्द हो जाता है। बन्ध के इस स्वभाव सम्बन्धी वभिन्न्य के आधार पर प्रकृतिबन्ध के फिर से ८ भेद माने गये हैं—

१ ज्ञानावरण २ दर्शनावरण ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्तराय।

उपर्युक्त में से १ ज्ञानावरण २ दर्शनावरण ३ मोहनीय और ४ अन्तराय ये चार घातिकबन्ध कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि ये आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आवृत करते हैं शेष बन्ध अघातिक हैं।

(२) स्थितिबन्ध—जीव के साथ जो कर्म पुद्गल जुड़ जाते हैं जीव के साथ उनकी यह सम्बद्धता किसी अमुक अवधि तक ही सीमित रहती है। इस काल मर्यादा को स्थितिबन्ध कहा जाता है। इस अवधि के उपरान्त सम्बन्धित बन्ध के प्रभाव से

हो जाती है और इस अग्रभाग को सिद्धशिला कहा जाता है। इसका आशय यह नहीं है कि मोक्ष कोई लोक भाग या स्थान विशेष है। अपितु इसका तात्पर्य तो मात्र इतना है कि आत्मा मुक्तावस्था में ऊर्ध्वतम स्थिति में आ जाती है और समस्त लोक पीछे छूट जाता है। ज्ञातासूत्र में इस बिन्दु को स्पष्ट करने के प्रयोजन से एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है—

तुम्बा जल में तरने की विशेषता रखता है किन्तु यदि उस पर मिट्टी का भारी लेप चढ़ा दिया जाय तो उस भार से उसकी यह विशेषता दब जायगी और वह पानी में डूबकर पेंदे में स्थित हो जायगा। धीरे-धीरे जब मिट्टी पानी में घुलने लगेगी और तुम्बे पर से जब यह लेप हट जायगा तो वह निर्लिप्त अवस्था को प्राप्त कर लेगा, मुक्त हो जायगा और पानी की सतह पर आकर तरता रहेगा।

यही स्थिति आत्मा की भी रहती है। जब तक वह कषाययुक्त होती है संसार-सागर में निमग्न रहती है किन्तु जब मिट्टी के लेपरूपी कर्मबंध का सर्वथा क्षय हो जाता है तो आत्मा जल की सतह रूपी लोकाग्र भाग में स्थित हो जाती है। वह मुक्त हो जाती है, सिद्ध और बुद्ध हो जाती है।

मोक्ष एक दीर्घ प्रक्रिया की उपलब्धि है। साधक को सर्वप्रथम तत्त्वों को अत्यन्त स्पष्टता के साथ हृदयंगम करना पड़ता है और इस हेतु ज्ञान की परमावश्यकता रहती है। आत्मा पर कर्म का बंध जो निरन्तर प्रगाढ़ होता रहता है, उसे रोकना पड़ता है, कर्मास्रव को रुद्ध करना आवश्यक होता है। कर्मास्रव का यह निरोध चारित्र द्वारा संभव होता है। नवीन कर्मों के आत्मा में आगमन को प्रतिबंधित करने के पश्चात् पूर्व कर्म समूह को क्षीण करने का प्रयत्न करना पड़ता है। तप के द्वारा यह प्रयत्न पूर्ण किया जाता है। बद्ध कर्मभार को क्षीण करने का समर्थ साधन तप ही है। इस प्रक्रिया से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए करणीय चार उपाय हैं—

(१) सम्यक्ज्ञान
(२) सम्यक्दर्शन
(३) सम्यक्चारित्र
(४) सम्यक्तप

उपर्युक्त विवेचन से यह इंगित होता है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए तप और चारित्र दोनों ही चेष्टामूलक उपाय हैं और इसी आधार पर तप को चारित्र के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। जैनाचार्यों ने तप को चारित्र के अधीन ही गर्भित माना भी है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए रत्नत्रय को अपेक्षित माना है। रत्नत्रय के ३ रत्न हैं—

१ प्रश्न आत्मा के अस्तित्व का

आत्मा होती है, आत्मा जसी कोई वस्तु होती ही नहीं—ये दोनो ही विचार भारतीय चिन्तन धाराओ म रहे हैं। प्रश्न है—सत्यासत्य क विवेचन का। दोनो ही पक्ष अपने-अपने समथन म तर्कों का भी अभाव नही रखत किन्तु वास्तविकता तो कोई एक पक्ष ही रख सकता है। अय पक्ष आधारहीन सिद्ध होना ही चाहिये। इन दो पक्षों म से कौन सा वस्तुत सत्य है? भारतीय दर्शन की समस्त शाखा प्रशाखायें आत्म-तत्त्व क इद गिर्द स्थित हैं। आत्मवादी और अनात्मवादी दोनों ही धाराओं में आत्मा का विस्तृत विवेचन है—चाह वह स्वीकारात्मक हो या नकारात्मक स्वरूप का हो। आत्मा किसे कहा जाय—इस विषय म भी मत-वभिन्य है। कहीं इंद्रिय को आत्मा कहा गया है तो कहीं विवेक-बुद्धि को और कहीं मन को। यहाँ तक कि कहीं-कहीं तो शरीर को ही आत्मा कह दिया गया है। इसक विपरीत कहीं इन सबस स्वतन्त्र अस्तित्व म आत्मा क स्वरूप को स्वीकार किया गया है। ये तो वे पक्ष हैं जो आत्मा क अस्तित्व को स्वीकृति दत हैं—चाह आत्मा को किसी भी स्वरूप म मानत हों। किन्तु चिन्तक चार्वाक तो आत्मा क अस्तित्व को ही नहीं मानता।

जब हम उन कारणों पर विचार करते हैं कि आत्मा के अस्तित्व को नकारा क्यों जा रहा है तो हम उनके मूल म आत्मा की इस आधारभूत विशेषता को पाते हैं कि वह भौतिक रूप नहीं रखती—उसका सूक्ष्म और अमूर्त रूप है। वह शब्द स्पश रूप, रस गधादि स अनुभूति का विषय नही। परिणामत उसका प्रत्यक्ष नही होता। उसका कोई रग रूप आकार-आकृति नहीं—अत उसे नकारा जाता है। उसक अस्तित्व म अमान्यता का भाव होता है। प्रमाण द्वारा उसके होने को सिद्ध नहीं किया जा सकता। अन्य प्रत्यक्ष अस्तित्वधारी पदार्थों की भाँति आत्मा अपना उप स्थिति का आभास नहीं कराती। इस आधार पर चार्वाक जस दार्शनिक आत्मा की सत्ता को यदि स्वीकृति नहीं दत तो उस विचार म एक स्वाभाविकता की प्रतीति होती है। अद्वत चिन्तन म भी किसी समय अनात्मवादी दृष्टिकोण रहा। यहाँ ध्यातव्य बिन्दु यही है कि चार्वाकादि चिन्तकों ने जो अस्वीकृति व्यक्त की है वह आत्मा क भौतिक स्वरूप के प्रति ही है। प्रमाण के अभाव म शब्द-स्पर्श-रूप रस-गध की अनुपस्थिति म केवल भौतिक अस्तित्व या मूर्त स्वरूप ही तो असिद्ध होता है। आत्मवादी चिन्तक भी आत्मा के एसे स्वरूप की स्वीकृति का आग्रह नहीं रखते हैं। वे तो उसके अमूर्त रूप को ही स्वीकार करते हैं। प्रमाण-पुष्टता के अभाव म अमूर्त आत्मा के अस्तित्व की अस्वीकृति औचित्यपूर्ण नहीं कही जा सकती। चार्वाक यदि यह कहकर कि—"एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचर" जो प्रत्यक्ष दिखाई दता है, कवल उसी का होना स्वीकार करता है तो वस्तुत आत्मा क अमूर्त स्वरूप के होन म इसम कोई स देह नही उत्पन्न होना चाहिये। क्योंकि आत्मा की स्वीकृति तो अमूर्त अरूप अभौतिक रूप म ही की जाती है।

ज्ञान आत्मा का गुण है शरीर का नहीं। शरीर से यदि ये गतिविधियाँ व्यक्त होती हैं, तो इसका अर्थ है कि ये गुण हममें हैं और गुण है तो गुण का धारक भी अवश्य है, अर्थात् आत्मा है। लाल रंग का वस्त्र पहनने का अर्थ यह है कि लाल रंग से हमारा शरीर आवृत है, किन्तु लाल रंग का आधार वस्त्र भी तो हमारे शरीर पर है। लाल रंग और वस्त्र को पृथक्-पृथक् नहीं देखा जा सकता। उसी प्रकार उपर्युक्त गुणों की विद्यमानता स्वयं ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध कर देती है। यह धारणा सर्वथा मिथ्या होगी कि यह ज्ञान शरीर का गुण है। ज्ञान स्वयं अमूर्त है अतः वह मूर्त देह का भाग या गुण नहीं हो सकता उसका सम्बन्ध तो अमूर्त आत्मा के ही साथ है। इस प्रकार यह मानना ही होगा कि आत्मा का अस्तित्व असंदिग्ध है।

आत्मा का स्वरूप क्या है?

यह प्रश्न क्योंकि अमूर्त आत्मा के लिये है—इसका उत्तर सहज ही नहीं दिया जा सकता। जो अमूर्त है उसके लक्षणादि का परिचय सुगम हो भी नहीं सकता। जैन चिंतन इस दिशा में अत्यन्त सक्रिय रहा है और इस विलोडन के परिणामस्वरूप यह जटिलता कम हो गयी है। जैनदर्शन ने आत्मा की स्वरूपगत व्याख्या का एक वैज्ञानिक और व्यवस्थित रूप प्रदान कर दिया है। जैनदृष्टि से आत्मा का प्रधान गुण चेतना है। इस चैतन्य के कारण बोध या ज्ञान का व्यापार संभव हो पाता है। तत्त्वार्थ-सूत्र में आत्मा की इसी स्वरूपगत विशेषता का परिचय 'उपयोग' शब्द द्वारा दिया गया है—'उपयोगो लक्षणम्'। स्पष्ट है कि सचेतनता के कारण ही आत्मा में उपयोग का लक्षण होता है। अचेतनता के कारण जड़ पदार्थ उपयोग हीन रहते हैं। यहाँ उपयोग शब्द के शास्त्रीय और तकनीकी अर्थ को ही ग्रहण करना होगा—साधारण शब्दार्थ यहाँ अप्रासंगिक होगा। प्रस्तुत प्रसंग में उपयोग का आशय चेतना से ही है। इस चेतना के प्रधान धर्म के साथ आत्मा के कतिपय अन्य साधारण धर्म भी हैं वे हैं—उत्पाद व्यय ध्रौव्य सत्त्व प्रमेयत्व आदि। जहाँ उपयोग का आशय चैतन्य से ग्रहण किया गया है, वहाँ वह उसका एक मोटा अर्थ है। यदि गहराई से देखा जाय तो चैतन्य के अन्तर्गत उपयोग के साथ साथ सुख और वीर्य तत्त्व भी आ जाते हैं। उपयोग स्वयं भी दो भेदों में विभक्त होता है—ज्ञान और दर्शन। इस दृष्टि से आत्मा अनन्त चतुष्टय का स्वरूप रखता है—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः

अनन्त चतुष्टय के अन्तर्गत इस प्रकार अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख और अनन्तवीर्य को स्थान दिया गया है। उपयोगो लक्षणम्—कहकर जहाँ उपयोग को ही आत्मा का स्वरूप बताया गया है वहाँ अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन तो उपयोग के अन्तर्गत आ ही जाते हैं शेष दो—अनन्तवीर्य और अनन्तसुख भी इसी में अन्तर्निहित हो जाते हैं।

अनन्त चतुष्टय के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि यह अपने समग्ररूप में छद्मस्थ आत्मा में नहीं होता, इसे सर्वज्ञ और मुक्त आत्माओं की स्वरूपगत विशेषता ही
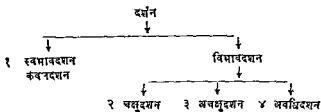
प्रस्तुत तालिका से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञानोपयोग की भांति दर्शनोपयोग भी आरम्भ में दो वर्गों में विभक्त हो जाता है—(i) स्वभावदर्शन तथा (ii) विभावदर्शन। स्वभावदर्शन पूर्ण दर्शन है और इसका कोई उपभेद नहीं है। विभावदर्शन के ३ उपभेद हैं—(i) चक्षुदर्शन (ii) अचक्षुदर्शन और (iii) अवधिदर्शन। इस प्रकार दर्शनोपयोग के कुल ४ भेद हो जाते हैं।

(१) स्वभावदर्शन

जिस प्रकार ज्ञान आत्मा का सहज और स्वाभाविक गुण होता है, उसी प्रकार स्वभावदर्शन भी आत्मा का स्वाभाविक उपयोग है। स्वभावदर्शन पूर्ण और प्रत्यक्ष भी होता है। इस कारण इसे केवलदर्शन भी कहा जाता है।

(२) चक्षुदर्शन

यह नेत्रों के माध्यम से होने वाला ऐसा दर्शन है जो निर्विकल्प भी है और निराकार भी। स्पष्ट है कि इन्द्रिय-सहायता इस दर्शन में विद्यमान रहती है। इसमें नेत्रों की प्रधानता होती है अतः इसे चक्षुदर्शन कहा गया है।

(३) अचक्षुदर्शन

विभावदर्शन के अन्तर्गत इस द्वितीय उपभेद में नेत्रों के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित रहती है। इन इतर इन्द्रियों और मन से यह दर्शन सम्पन्न होता है।

(४) अवधिदर्शन

अवधिदर्शन सीधा आत्मा से होने वाला दर्शन है और यह रूपी पदार्थों का होता है।

आत्मा के उपयोगेतर गुण

आचार्य देवसेन ने आत्मा के स्वरूप को गहनता के साथ विवेचित एवं विश्लेषित किया है। आलाप पद्धति में आचार्य देवसेन ने आत्मा के लक्षणों को निम्नानुसार प्रदर्शित किया है—

ज्ञान	वीर्य
दर्शन	चेतनत्व
सुख	अमूर्तत्व

अध्याय ६

कर्म सिद्धान्त

□

मनुष्य और कर्म

वैचारिक जगत में आरम्भ से ही अनेक वादों और उनसे भी अधिक विवादों का प्रचलन रहा है। बौद्धिक विकास के साथ-साथ वाद सम्पदा में भी अभिवृद्धि होती चली गयी। नव नवीन विचारधाराओं द्वारा इस कोष की श्रीवृद्धि होती रही है। तथापि एक सिद्धान्त विशेष ऐसा है जिसका प्रायः सभी दर्शनों में चिरन्तन महत्व स्वीकृत होता रहा है और वह है—कर्मवाद। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव सर्वानुभूत एवं अकाट्य है। जैनदर्शन के सुविशाल एवं भव्य प्रासाद की तो आधारशिला ही कर्मवाद है। कर्म सिद्धान्त की सुदृढ़ता ही जैनधर्म की अजस्रता के मूल में है।

जिज्ञासा मनुष्य के लिए चिन्तन मनन और शोध-खोज की प्रबल प्रेरणा रही है। इस जगत के प्रायः सभी पदार्थ एकता में भी अनेकता से युक्त हैं। दैहिक दृष्टि से मनुष्य मात्र परस्पर समान हैं। सामान्यतः सभी एक सा शरीर और समान अंगोपांग वाले ही हैं तथापि सभी पृथक पृथक भी तो पहचाने जाते हैं। अर्थात्—इन सबों के रंग रूप आकार-आकृति में अन्तर अवश्य है। इसी प्रकार कोई सुखी है, तो कोई दुःखी कोई धन कुबेर है तो कोई सर्वथा रंक कोई सौभाग्यशाली है, तो कोई निपट अभागा। ऐसे भी व्यक्ति हैं जो न्यूनतम और मूलभूत आवश्यक साधन-सुविधा से भी वंचित रहते हैं और ऐसे भी हैं जिन्हें अपनी अपार सम्पदा का अनुमान भी नहीं है। कोई रोग-कष्ट से सभी पीड़ित नहीं हुआ तो किसी ने पूर्ण स्वस्थता की एक भी सांस नहीं ली। जागतिक जीवन की इन विषमताओं का प्रत्यक्ष दर्शन सार्वकालिक रूप में और सार्वदेशिकता के साथ होता है। पुण्यात्मा का गौरव इसी कारण बना है कि अन्य कोई पापात्मा भी है और बुद्धि वैभव का महत्त्व-स्थापन मौर्ख्य के अस्तित्व के कारण है। ये परस्पर विरोधी अवस्थाएँ ही मानव-समाज में समानता में भिन्नता की परिचायक है। सभी एक से नहीं होते।

प्रश्न यह है कि मनुष्य मनुष्य में इस अन्तर का कारण क्या है? क्या यह जगत् अवस्था वैविध्य का स्थल है? इसी जिज्ञासा ने तत्त्वचिन्तकों एवं विचारकों को सक्रिय किया और जैन परम्परा के अनुसार इस बिन्दु पर चिन्तन का जो नवनीत है वह 'कर्मवाद' के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। मनुष्य ही अपने पूर्वकर्म अर्थात् कर्मानों के फलस्वरूप इस जीवन की विविध अवस्थाओं—सुख अथवा दुःख को भोगता है।

यह निश्चित है कि यह फल या ही सयोग का परिणाम तो नहा है। अग्नि क अभाव म धूम्र और जन के अभाव म अग्नि शमन सभव है ही नही। कारण और काय म पूव और अपर का सम्बन्ध सदा से अविच्छेद्य रहा है। हमारी आज की परिस्थितियाँ भी क्वल क कर्मों की ही फल हैं। जनदशन के इस सिद्धात म तार्किक दृष्टि म भी सन्देह को रचमात्र भी अवकाश नहा है। कमवाद सुविचारित एव प्रमाणित सिद्धान्त है।

इस प्रश्न पर तनिक अन्य दृष्टियो से भी विचार कर लना समीचीन होगा। वदिक दशनो म जीव ईश्वर क ही अधीन माना गया है। ईश्वर ही मनुष्य की सभी परिस्थितियो का जनक माना गया है। वह जस रख वसे ही मनुष्य को रहना पडता है। सुख आये दुख आये—सभी को मनुष्य उस ईश्वर की देन मानकर ही स्वीकार करता चलता है। वशेषिक साख्य योग तथा वदान्तादि न्यूनाधिक रूप से इसी धारणा को विवचित करते हैं। जनदशन इस स सहमत नहीं होता। ईश्वर को सृष्टिकर्ता क रूप म स्वीकृति इस दशन न कभी नही दी। न ही वह इस धारणा म औचित्य मानता है कि ईश्वर ही कमफल का दाता है। जन परम्परा म तो मनुष्य स्वय ही अपना भाग्य निर्माता और भविष्य विधायक है। वही कर्ता और वही भोक्ता भी है। यह अवश्य है कि फल कर्मानुसार और कर्मानुरूप ही हाग किन्तु कम और फल प्राप्ति के मध्य ईश्वर जसा कोई अभिकरण नही है। यह तो स्पष्ट है कि अग्नि का स्पर्श करने वाले को दाह की पीडा होगी। इस पीडा फल का कारण स्वय-कर्म है। स्पश को महत्ता क स्थान पर बीच म ईश्वर को ले आना जनदशन क विपरीत है। रेशम का कीडा अपनी लार क तन्तुओ से स्वय अपने को ही लपटता चला जाता है बँधता चला जाता है। उसके बन्धन का मूल कारण तो वही है, व कम हैं, जिनका वह कर्ता है। इस प्रसग म एक सूक्ति उल्लखनीय है—

स्वय कम करोत्यात्मा, स्वय तत्फलमश्नुते।
स्वय भ्रमति ससार स्वय तस्माद विमुच्यते॥

यह आत्मा स्वय ही कम का कर्त्ता है और स्वय ही फल का भोक्ता है। वह स्वय ही ससार म परिभ्रमण करता है और स्वय ही धम-साधना द्वारा बन्धन स मुक्ति भी प्राप्त करता है। वही अपने लिए बन्धन भी उत्पन्न करता है और वही उन्हें खण्ड-खण्ड भी कर सकता है। विचारणीय यह है कि जिन बन्धनो को वह निर्मित करता है उन्हें काटने की शक्ति कोई अन्य नही है ईश्वर भी नहीं। ईश्वर बन्धनमुक्त कर मनुष्य को सद्गति प्रदान करता है—यह धारणा भ्रान्त और आधारहीन है। पतन और उत्थान दोनो ही परिस्थितियो का जनक मनुष्य स्वय ही है। जन परम्परा म मनुष्य से महान मनुष्य म अधिक उदात्त कोई अन्य नही। उसका उपकारक कोई अन्य नही हो सकता। वह तो अशरफुल मखलुकात —सृष्टि का सव श्रेष्ठ है। मनुष्य क इस गौरव और गरिमा को अकारण ही जनदशन किसी अन्य को द दने के पक्ष म कभी नहीं रहा।

अध्याय ६

कर्म सिद्धान्त

□

मनुष्य और कम

वचारिक जगत म आरम्भ म ही अनक वादा और उनसे भी अधिक
का प्रचलन रहा है। बौद्धिक विकास के साथ साथ वाद सम्पदा म भी अ
होती चली गयी। नव नवीन विचारधाराओ द्वारा इस कोष की श्रीवृद्धि हाज
है। तथापि एक सिद्धान्त विशेष ऐसा है जिसका प्राय सभी दशनो म विरल
स्वीकृत होता रहा है और वह है—कमवाद। इसका प्रत्य र प्रभाव सर्वानुभ
अकाटय है। जनदशन क सुविशाल एव भव्य प्रासाद की तो आधारशिला ही
वाद है। कम सिद्धान्त की सुदृढता ही जनधम की अजस्रता के मूल म है।

जिज्ञासा मनुष्य के लिए चिन्तन मनन और शोध खोज की प्रबल प्रेरणा
है। इस जगत के प्राय सभी पक्ष एकता म भी अनकता स युक्त हैं। दृष्टि
मनुष्य मात्र परस्पर समान हैं। सामान्यत सभी एक सा शरीर और समान अगो
वाल ही हैं तथापि सभी पृथक पृथक् भी तो पहचाने जात हैं। अर्थात्—इन
के रग-रूप आकार-आकृति म अन्तर अवश्य है। इसी प्रकार कोई सुखी है, तो
दु खी कोई धन कुबेर है तो कोई सवथा रक कोई सौभाग्यशाली है, तो कोई
अभागा। एस भी व्यक्ति हैं जो न्यूनतम और मूलभूत आवश्यक साधन-सुविधा से
वचित रहत हैं और एस भी हैं जिन्हें अपनी अपार सम्पदा का अनुमान भी नहीं
कोई रोग-कष्ट स कभी पीडित नही हुआ तो किसी ने पूर्ण स्वस्थता की एक भी
नहीं ली। जागतिक जीवन की इन विषमताओ का प्रत्यक्ष दर्शन सार्वकालिक रूप
और सावदशिकता के साथ होता है। पुण्यात्मा का गौरव इसी कारण बना है
अन्य कोई पापात्मा भी है और बुद्धि वभव का महत्त्व-स्थापन मौढ्य क अस्तित्व
कारण है। य परस्पर विरोधी अवस्थाएँ ही मानव समाज म समानता म भिन्नता की
परिचायक है। सभी एक स नहीं होते।

प्रश्न यह है कि मनुष्य मनुष्य म इस अन्तर का कारण क्या है? क्या यह
जगत् अवस्था वविध्य का स्थल है? इसी जिज्ञासा न तत्त्वचिन्तको एव विचारको को
सक्रिय किया और जन परम्परा क अनुसार इस बिन्दु पर चिन्तन का जो नवनीत
वह 'कर्मवाद' क रूप म प्रतिष्ठित हुआ। मनुष्य ही अपने पूर्वकर्म अर्जित कर्मो
क फलस्वरूप इस जीवन की विविध अवस्थाओ—सुख अथवा दु ख को भोगता है।

यह निश्चित है कि यह फल या हो सयोग का परिणाम तो नहा है। अग्नि क अभाव म धूम्र और जल क अभाव म अग्नि शमन मभव है ही नहा। कारण और काय म पूव और अपर का सम्बन्ध सदा स अविच्छेद्य रहा है। हमारी आज की परिस्थितियाँ भी कल के कर्मों की ही फल हैं। जनदशन क इस सिद्धान्त म तार्किक दृष्टि से भी सन्देह को रचमात्र भी अवकाश नहीं है। कमवाद सुविचारित एव प्रमाणित सिद्धान्त है।

इस प्रश्न पर तनिक अन्य दृष्टियों से भी विचार कर लना समीचीन होगा। वदिक दशनों म जीव ईश्वर क ही अधीन माना गया है। ईश्वर ही मनुष्य की सभी परिस्थितियों का जनक माना गया है। वह जसे रखे वसे ही मनुष्य का रहना पड़ता है। सुख आये दुःख आये—सभी को मनुष्य उस ईश्वर की देन मानकर ही स्वीकार करता चलता है। वशेषिक साख्य योग तथा वदान्तादि न्यूनाधिक रूप स इसी कारण को विवेचित करते हैं। जनदशन इन स सहमत नहीं होता। ईश्वर को सृष्टिकर्ता क रूप म स्वीकृति इस दशन न कभी नहीं दी। न ही वह इस धारणा म औचित्य मानता है कि ईश्वर ही कमफल का दाता है। जन परम्परा म तो मनुष्य स्वय ही अपना भाग्य निर्माता और भविष्य विधायक है। वही कर्त्ता और वही भोक्ता भी है। यह अवश्य है कि फल कर्मानुसार और कर्मानुरूप ही होग किन्तु कम और फल प्राप्ति के मध्य ईश्वर जसा कोई अभिकरण नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि अग्नि का स्पर्श करन वाल को दाह की पीड़ा होगी। इस पीडा फल का कारण स्पश-कम है। स्पश की महत्ता के स्थान पर बीच म ईश्वर को ले आना जनदशन के विपरीत है। रेशम का कीड़ा अपनी लार के तन्तुओं मे स्वय अपने को ही लपटता चला जाता है बँधता चला जाता है। उसक बन्धन का मूल कारण तो वही है, व कम हैं, जिनका वह कर्त्ता है। इस प्रसग म एक सूक्ति उल्लेखनीय है—

स्वय कम करोत्यात्मा, स्वय तत्फलमश्नुते।
स्वय भ्रमति ससारे स्वय तस्माद विमुच्यते॥

यह आत्मा स्वय ही कम का कर्त्ता है और स्वय ही फल का भोक्ता है। वह स्वय ही ससार म परिभ्रमण करता है और स्वय ही धम-साधना द्वारा बन्धन से मुक्ति भी प्राप्त करता है। वही अपने लिए बन्धन भी उत्पन्न करता है और वही उन्हें खण्ड-खण्ड भी कर सकता है। विचारणीय यह है कि जिन बन्धनों को वह निर्मित करता है उन्हें काटने की शक्ति कोई अन्य नहीं है ईश्वर भी नहा। ईश्वर बन्धनमुक्त कर मनुष्य को सद्गति प्रदान करता है—यह धारणा भ्रान्त और आधारहीन है। पतन और उत्थान दोनों ही परिस्थितियों का जनक मनुष्य जन परम्परा म मनुष्य स महान मनुष्य स अधिक उदात्त कोई अन्य उपकारक कोई अन्य नहा हो सकता। वह तो अशरणशरण सवश्रेष्ठ है। मनुष्य क इस गौरव और गरिमा को अकारण ही को दे दन पक्ष म कभी नहीं रहा।

मत है तो उसके खण्डन का भी प्रयत्न अन्य दिशाओं से होना स्वाभाविक ही है। वस्तुस्थिति तो यह है कि खण्डन के प्रयत्न से कोई तथ्य और सिद्धान्त सुप्रमाणित और सुस्थिर हो जाता है। इस जैन कर्म सिद्धान्त की भी इस दृष्टि से विपरीत तर्कों द्वारा खण्डना के प्रयत्न किये अवश्य गये हैं किन्तु अग्नि में तुष ही भस्म होता है, कुन्दन तो और अधिक दमक उठता है। खण्डन में इसका मण्डन ही हुआ है।

जैन मान्यता के अविश्वासीजन कहते हैं कि मनुष्य तो चतुर प्राणी है। वह दुष्कर्मों से भी सुफल ही प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है। उदाहरणार्थ, दस्युजन मुफ्त के धन का आनन्द ही उठाना चाहते हैं। अपराधी सिद्ध होकर दण्ड का भागी होने की कामना उनकी हो ही नहीं सकती। वह धन-अपहरण का दुष्कर्म इसीलिए तो करता है कि उसे विश्वास है कि इसके परिणाम में सुख और आनन्द ही हाथ लगेगा। यदि फलरूप में दण्ड का ही विधान सुनिश्चित हो तो दण्ड उसका काम्य नहीं। फिर वह दस्युकर्म करता क्यों है? इस मत के समर्थकों की भी मान्यता रहती है कि अच्छी या बुरी जैसी भी परिस्थितियाँ रहती हैं उनका पूर्व में कृतकर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं। [illegible] एवं [illegible] करुणा के पात्र हैं। वे तो यह भी कहते हैं कि कर्म का रूप तो सूक्ष्म है स्थूल नहीं और सचेतन तो वे कदापि नहीं होते। फिर [illegible] होकर फल देने की क्रिया उनके द्वारा संभव भी कैसे है? यह तो ईश्वर ही है कि जो सभी को कर्मानुसार फल प्रदान करता है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि जैन परम्परा भी क्या स्वीकार नहीं करती कि अचेतन होकर भी कर्म फल देते रहते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि कर्म जड़ होकर भी सर्वथा अचेतन नहीं रहते हैं। चेतन के निरन्तर सम्पर्क के परिणाम स्वरूप एवं कर्मों में भी ऐसी शक्ति विद्यमान हो जाती है कि वे अपने भावी फलों का निर्धारण स्वयं कर लेते हैं। यही कारण है कि सभी जानते हैं कि शुभकर्मों का फल शुभ और अशुभकर्मों का फल भी अशुभ होता है। फिर मन ही मनुष्य [illegible] न रहता हो। मनुष्य तो स्वाधीन है। वह जैसा चाहे वैसा कर ही सकता है। यह नहीं आवश्यक है कि [illegible] उनके मार्ग में अवरोध उपस्थित करे हो। आत्मा की वाणी का विरोध [illegible] नहीं। [illegible] की अवमानना [illegible] नहीं है। [illegible] मानना उपयुक्त नहीं है। कर्म ही आत्मा [illegible] है। [illegible] है कि [illegible] ही आत्मा [illegible] है और कोई [illegible] धनापहरण के फलस्वरूप धन और [illegible] सुख और [illegible] नहीं [illegible] हैं तो यह [illegible] बिना [illegible] नहीं। [illegible] अशुभ [illegible] है [illegible] किन्तु इस शुभाशुभ के [illegible] है कि [illegible] नहीं [illegible] ही [illegible] है? [illegible] नहीं [illegible]।

इसी प्रकार जैन कर्म सिद्धान्त को अमान्य सिद्ध करने के प्रयत्नकर्तागण यह भी कहते हैं कि कर्म सिद्धान्त के अनुसार तो साधारण मनुष्य भी कर्म-बन्धन से मुक्त होकर ईश्वर हो जाता है—इस तथ्य को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है और यह उपयुक्त नहीं। फिर भला सर्वशक्तिमान ईश्वर और परम दुर्बल मानव में अन्तर ही क्या रह जायगा? चाहे कर्म मुक्त हो सही किन्तु किसी साधारण जीव (मनुष्य) को ईश्वर की श्रेणी में कैसे स्थिर किया जा सकता है?

जीव भी और ईश्वर भी—दोनों चेतन हैं। ऐसी स्थिति में दोनों का समत्व एवं समता सिद्ध होने ही चाहिये। ईश्वर व जीव की इस समानता को स्वीकार करने में किसी प्रकार का संकोच अकारण ही कहा जायगा। जैनदर्शन के अनुसार इन दोनों में जो अन्तर है, वह यही है कि जीव स्वकर्मों से बद्ध है और ईश्वर निर्बंध है। औपाधिक कर्मों पर ही जीव एवं ईश्वर का अन्तर आधारित है। इस अन्तर के तिरोहित होते ही दोनों में एकत्व की स्थापना हो जाती है। कर्म-मल का निवारण जीव के लिए ईश्वरत्व का कारण बन जाता है। मुक्ति का यही चरम मार्ग है और सभी मुक्त जीवों को ईश्वरत्व की प्राप्ति हो जाती है। शुद्धत्व ही ईश्वरत्व है और कर्ममल ही इस गरिमा के अभाव का कारण है। यह ध्रुव सत्य और तथ्य है कि कर्म के क्षेत्र में भी मनुष्य स्वच्छन्द है और एक ही एकाकी रूप में वह फलोपभोक्ता भी रहता है। कोई शक्ति अशुभकर्मों के अशुभ फलों से कर्ता की रक्षा नहीं कर सकती और न ही कोई बाह्य शक्ति शुभ फलों की प्राप्ति के मार्ग में व्यवधान बन सकती है। 'जैसा करेगा वैसा ही भरेगा'—लोकोक्ति जैन मान्यतानुसार सर्वथा सार्थक है। कर्म और फल में कोई अन्तर नहीं हो सकता है। फल सदा कर्मानुसार ही होते हैं—'बोए पेड़ बबूल के तो आम कहाँ से खाय'।

कर्म ही इस प्रकार मनुष्य के जीवन के स्वरूप को निर्धारित एवं नियन्त्रित करता है। यहाँ तक कि मानसिक विकार हर्ष-विषादादि भी कर्म के ही परिणाम हैं। जब किसी के कार्य में बाधा आती है मालिन्य छा जाता है। व्यक्ति में इन परिस्थितियों के कारण खोजने की प्रवृत्ति भी होती है। वह किसी कारण को खोजने में सफल भी हो जाता है और उससे सन्तुष्ट भी। किन्तु वह यथार्थ कारण नहीं होता। वह तो निमित्तमात्र रूप में केवल तात्कालिक कारण होता है। मूलतः तो कर्मानुरूपता ही सुखात्मक एवं दुःखात्मक परिस्थितियों का आधार होती है। आज के कर्म भविष्य के लिए अपनी फल भूमिका रखते हैं और अतीत-कर्म का फल ही वर्तमान होता है। इस दृष्टि से भावी जीवन के संयोजन में सफलता के लिए मनुष्य को वर्तमान कर्मों का परिष्कार करना चाहिये।

समस्त बाह्य सुख तभी प्रभावी होते हैं जब मनुष्य को आन्तरिक शान्ति उपलब्ध हो। इस शान्ति और सफलता के लिए कर्म सिद्धान्त बड़ा सहायक सिद्ध होता है। मनुष्य अतीत के दुष्कर्मों से कभी विचलित नहीं होता। वह भविष्य के

अध्याय १०

अनेकान्त दर्शन

☐

सामान्य-परिचय

भारत अति प्राचीन काल से ही एक प्रबुद्ध देश रहा है। बुद्धि-वैभव इस गौरव और चिन्तन प्रधानता इसकी प्रमुख विशिष्टता रही है। दार्शनिकों का देश विश्व को महान विचारक देने का यश भी रखता है। हमारी सन्त-परम्परा और तीर्थंकर-श्रेणी इस तथ्य को उजागर करती है। विचारशीलता हमारी ऐसी विशेषता है जिसने जीवन और जगत की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में हमारी महत्त्वपूर्ण सहायता की है। अध्यात्म के क्षेत्र में भी इसी विशेषता के कारण अनेक पद्धतियाँ, प्रणालियाँ, पंथ और मत अस्तित्व में आये हैं और अनेक विचार धाराएँ विकसित होती रही हैं। यह देश वैचारिक ताने-बाने के अद्भुत वितान तले शोभित रहा है। यह भी बड़ा स्वाभाविक है कि जहाँ अधिकता के साथ मतों का प्रचलन हो वहाँ मतान्तरों की भी उपस्थिति रहे। सभी चिन्तकों का किसी बिन्दु या विषय विशेष पर एकमत हो जाना आवश्यक भी नहीं होता और स्वाभाविक भी नहीं। ऐसी स्थिति में अपने अपने दृष्टिकोण पर अटल हो जाने की प्रवृत्ति भी सबल हो जाती है। कभी यह प्रवृत्ति स्वस्थ रूप में होती है कभी निरे मोह के कारण—कभी दुराग्रह के कारण और कभी अज्ञानवश होती है।

साराश यह कि हमारा देश जहाँ वैचारिक सम्पन्नता में शिरोमणि रहा है, वहीं अनेकविध वाद विवादों का केन्द्र भी रहा। परस्पर विरोधी अनेक विचारधाराएँ समानान्तर रूप से प्रवाहित भी होती रहीं उनमें टकराव भी होता रहा। भारतवर्ष में अनेकता सस्कृति के पीछे यह भी एक सबल आधार है और भिन्न युगों में इन भिन्न सांस्कृतिक धाराओं सम्प्रदायों और मतों में संघर्ष नहीं रहा। जो संघर्ष रहा तो इनके शमन के प्रयत्न भी होते रहे। समय समय में आविर्भूत लोकनायकों ने इसके सफल प्रयास भी किए हैं। इस प्रकार के महान लोकनायकों में भगवान महावीर स्वामी को प्रचुर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

जैन आगमों की साक्षी से कहा जा सकता है जैनत्व शिरोमणि भगवान महावीर के आविर्भाव के समय हमारे देश में ३६३ दार्शनिक मत प्रचलित थे। यह युग वस्तुतः हमारे इतिहास का ऐसा समय था जब विचार-मंथन और विचार

अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये थे। विचारक अपने मत को इतने दुराग्रह के साथ उचित मानते थे कि शेष मतों में उन्हें रंच मात्र भी औचित्य दृष्टिगत नहीं होता था, अथवा यह कहा जाय कि वे देखने की चेष्टा ही नहीं करते थे। इसके दुष्परिणाम स्वरूप कलह-वृद्धि ही होती रही। यह व्याधि इस काल में बड़ी जटिल हो गयी थी और उसका निदान समय की सबसे बड़ी आवश्यकता हो गयी थी। क्या यह आवश्यक है कि किसी प्रसंग में कोई एक और केवल एक ही मान्यता सत्य हो और शेष सारी मान्यताएँ झुठलाने योग्य ही होती हैं? दुराग्रहमुक्त व्यक्ति इसे सत्य और उचित नहीं मान सकते। यदि क ख का पिता है और ग ख का पुत्र है तो ख को क्या कहा जायगा? ख अवश्य ही पुत्र भी है क उसका पिता है। किन्तु क्या ख के विषय में मात्र यही एक सत्य है कि वह एक पुत्र है। क्या वह पिता नहीं है? क्या केवल ऐसा ही माना जायगा कि नहीं जी पिता तो क है। नहीं ऐसा नहीं है। ख पिता भी है और ख पुत्र भी है। एक ही व्यक्ति के विषय में ये दोनों कथन सत्य हों—इसमें आपत्ति कोई होनी ही नहीं चाहिये। ख क के सापेक्ष्य में पुत्र है तो वह ग के सापेक्ष्य में पिता भी है। यहाँ सापेक्षता के आधार पर दृष्टिकोण की व्यापकता की ही आवश्यकता है। कोई धारणा एकान्त होकर शुद्ध और सर्वथा सत्य नहीं हो सकती। सर्वथा या पूर्ण सत्य के लिए अनेकान्त दृष्टिकोण को अपनाना ही होगा। उपर्युक्त उदाहरण में यदि हम ख को केवल पुत्र ही मानें तो यह एकान्तता है और हमने ख के परिचय में कुछ भाग छिपा लिया है। अतः अपूर्णतायुक्त सत्य ही सामने आया है। अगर वह केवल पुत्र ही है तो ग के साथ उसका क्या नाता है? क्या वह ग का भी पुत्र ही है, नहीं ग के लिए वह पिता है हाँ क के लिए अवश्य ही वह अब भी पुत्र ही है। सर्वाङ्ग सत्य को स्वीकार न करना अनुचित है। कुछ अंधों ने जब हाथी को जानना चाहा कि यह किस प्रकार का प्राणी है, तो वे उसे हाथ से स्पर्श कर अनुभव करने लगे। एक ने उसके पैर पर अच्छी तरह हाथ फिराकर कहा—हाथी तो स्तंभ के समान है। दूसरे ने उसके कान को स्पर्श किया और कहा हाथी सूप के समान है। किसी तीसरे ने उसके पेट पर हाथ फिराकर अनुभव किया कि हाथी तो विशाल ढोल की आकृति का होता है। किन्तु हाथी न स्तंभ के समान है न सूप और न ही विशाल ढोल के समान। किन्तु इन अनुभवों को एकबारगी असत्य भी कैसे कहा जा सकता है। वह स्तंभ जैसा ही तो नहीं है, पर स्तंभ जैसा भी है। वह सूप जैसा तो नहीं है, किन्तु सूप जैसा भी है इसी प्रकार ढोल की आकृति का वह नहीं है, किन्तु इस आकृति का भी है। सर्वाङ्ग सत्य यही होगा कि हाथी स्तंभ जैसा (पैरों के सापेक्ष्य में) भी है सूप जैसा भी है (कानों के सापेक्ष्य से) और वह विशाल ढोल की आकृति का भी है (पेट के सापेक्ष्य से)। हाथी स्तंभ जैसा है भी नहीं भी है वह सूप जैसा है भी और नहीं भी तथा वह ढोल की आकृति का है भी और नहीं भी। यह सत्य है। यह कथन मात्र दुराग्रह और एकांगी होगा कि हाथी जब एक ही प्राणी है, तो वह तीन वस्तुओं के समान कैसे कहा जा सकता है? यह मात्र

सोते हैं उनका तो सोना ही अच्छा है। वे जितने ही अधिक सोयेंगे निश्चेष्ट रहेंगे—अन्य प्राणी उतने ही पीड़ा कष्ट और दुःख से बचेंगे। इस प्रकार सज्जनों को सापेक्षता में जागना अच्छा है और दुर्जनों की सापेक्षता में सोना अच्छा है। तब सम्पूर्ण सत्य यही होगा कि जागना भी अच्छा है और सोना भी अच्छा है। इन दो बातों में विरोध नहीं है। एक बात यदि सत्य है तो दूसरी भी स्वतः ही सत्य हो जाती है। इस प्रकार सत्य सदा किसी अपनी मात्रा में ही सत्य होगा। अन्यथा किसी अन्य अपेक्षा से वह असत्य भी ठहर सकता है। जागना अच्छा भी है और अच्छा नहीं भी है—यह कहा जाय तो भी जागने की व्याख्या में कुछ भी मिथ्या नहीं होगा। सज्जनों का जागना अच्छा है और दुर्जनों का जागना बुरा है। अस्तु 'जागना अच्छा है'—मात्र ऐसा ही मानना सत्य तो हो सकता है किन्तु वह सम्पूर्ण सत्य नहीं हो सकता। दृष्टि-भिन्नता या अपेक्षा भिन्नता के साथ साथ सत्य के रूप में भी अनेकरूपता एवं भिन्नता आ जाती है। परिणामतः वे सभी सत्यांश ही होते हैं और उनका समन्वय पूर्ण सत्य होता है।

गौतम बुद्ध का विभज्यवाद
और महावीर स्वामी का अनेकान्तवाद

सत्य को सकीर्ण और मर्यादित परिधि में ही परिलक्षित करने का अभ्यास गौतम बुद्ध का भी नहीं था। वे भी दृष्टिकोण या अपेक्षा की अनेकता के अनुरूप वस्तु के स्वरूप की अनेकता को स्वीकार एवं प्रतिपादित करते थे। उनका यह दृष्टिकोण विभज्यवाद के नाम से जाना जाता है। भगवान बुद्ध से जब यह प्रश्न किया गया कि गृहस्थ ही आराधक होते हैं, प्रव्रजित नहीं—इस विषय में आपका मन्तव्य क्या है? भगवान ने इस प्रश्न के उत्तर में जो कहा उसका आशय यह है कि गृहस्थ भी आराधक हो सकता है और प्रव्रजित भी हो सकता है। साथ ही यह भी सत्य है कि गृहस्थ आराधक नहीं भी हो सकता है और इसी प्रकार प्रव्रजित (भी) आराधक नहीं भी हो सकता है। अर्थात् दोनों वर्गों के लिए आराधक होने की भी और नहीं होने की भी—दोनों सम्भावनाएँ रहती हैं। उत्तर में उनका कथन था—गृहस्थ भी यदि मिथ्यावादी है तो निर्वाण का आराधक नहीं हो सकता और त्यागी भी यदि मिथ्यावादी है तो वह भी नहीं। यदि प्रतिपत्तिसम्पन्न है तो गृहस्थ भी और प्रव्रजित भी—दोनों ही मोक्षमार्ग की आराधना कर सकते हैं। यह विभज्यवादी दृष्टिकोण है। उन्होंने गृहस्थ और त्यागी को आराधक या अनाराधक होने के विषय में विभाजन करके उत्तर दिया था एकांशतः से नहीं। भगवान बुद्ध ने स्वयं को इसी अर्थ में विभज्यवादी कहा था, एकांशवादी (एकान्तवादी) नहीं।

बौद्धदर्शन का यही विभज्यवाद जैनदर्शन में अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद के नाम से जाना जाता है। जिस दृष्टि से जिस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है,

सान्तता और अनन्तता—यह भी एक जटिल प्रश्न था। एकान्तवादियों में से कुछ जगत को सान्त (स+अन्त) मानते थे और कुछ उसे मात्र अनन्त मानते थे। ये विचारक अपने मत को सर्वथा सत्य और अन्य मत को एकदम असत्य मानकर ठुकराते थे। भगवान महावीर ने अकेले अकेले इन दोनों पक्षों को अपूर्ण मानते हुए दोनों का समन्वय कर सम्पूर्ण सत्य स्थापित किया।

लोक की दृष्टि से सान्तता और अनन्तता के विषय में भगवान का समाधान युक्त विचार इस प्रकार है कि लोक को चार प्रकार से जाना जाता है—द्रव्य से क्षेत्र से काल से और भाव से। द्रव्य की दृष्टि से लोक एक है (असंख्य या अनन्त नहीं) अतः वह सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से भी लोक असंख्य योजनपथ में व्याप्त माना जाता है—अतः लोक सान्त है। काल की दृष्टि से लोक अनन्त है क्योंकि वह प्रति काल में किसी न किसी रूप में रहता अवश्य है। भाव से भी वह सान्त है क्योंकि लोक का कोई रूप विशेष सदा-सदा नहीं रहता रूप का परिवर्तन होता ही रहता है। लोक के अनेक अनन्त वर्णपर्याय होने के कारण भाव की दृष्टि से भी वह अनन्त है। लोक को न केवल सान्त कहा गया है और न ही केवल अनन्त। लोक सान्त भी है और अनन्त भी।

जीव की शाश्वतता और अशाश्वतता के प्रश्न में भी भगवान का उत्तर यही था कि एक दृष्टि से जीव शाश्वत भी है और एक दृष्टि से वह अशाश्वत भी है। द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य या शाश्वत है तो भावदृष्टि से वह अशाश्वत (अनित्य) भी है। जीव में जीव तत्त्व सदा विद्यमान ही रहता है कभी लुप्त नहीं होता कभी अजीव नहीं होता अतः जीव को नित्य मानना होगा। इसके विपरीत जीव किसी न किसी पर्याय में रहता है। पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। एक पर्याय का त्याग कर अन्य पर्याय का ग्रहण करते रहने का क्रम चलता रहता है। इस स्थिति में जीव को अशाश्वत या अनित्य भी मानना होगा। लोक को जिस तर्क के आधार पर नित्य भी और अनित्य भी माना गया है उसी आधार पर जीव को भी दोनों रूप अनित्य और नित्य स्वीकारे गये हैं। तीनों कालों में जीव जीवरूप में ही रहता है अतः वह नित्य है। वह अपने बाह्यरूप का परिवर्तन करता रहता है अतः वह अनित्य भी है।

अस्ति और नास्ति

अस्ति का भाव है—सब सत् है और नास्ति का भाव है—सब असत् है। इन दोनों में से किसी भी एक दृष्टिकोण वाला एकान्तवादी कहलाता है। आस्ति एकान्तवादी मानता है—सर्वमस्ति अर्थात् सब सत् है वह नास्ति को स्वीकार ही नहीं करता। इसी प्रकार एकान्त नास्तिक मानता है—सर्वनास्ति अर्थात् सब असत् है। इन दोनों एकान्तों या एकांग दृष्टिकोणों को भगवान गौतम बुद्ध और भगवान महावीर ने अनौचित्यपूर्ण माना। इस समानता के होते हुए भी इन दोनों महापुरुषों के मार्ग

के व्यवहारों में गहरा अन्तर है। भगवान बुद्ध ने इन दोनों दृष्टिकोणों को मिथ्या मानकर इन्हें त्याग दिया और तटस्थभाव से उन्होंने मध्यम मार्ग को अपनाया। इसके विपरीत भगवान महावीर स्वामी ने दोनों में से किसी का भी पूर्णत निषेध नहीं किया न ही किसी को पूर्णत स्वीकारा। भगवान ने कहा कि सब सत् है—यह एकान्त दृष्टिकोण उचित नहीं है। सब असत है—यह एकान्त दृष्टिकोण भी उचित नहीं है। जो सत् है उसे ही सत मानना चाहिए और जो असत् है उसे ही असत् मानना चाहिए। कतिपय असत के कारण शेष सत् को भी असत् कह देना जहाँ अनुपयुक्त है वहाँ यह भी अनुपयुक्त ही है कि कतिपय सत के आधार पर शेष सभी असत् को भी सत मान लिया जाय।

स्याद्वाद एवं अनेकान्तवाद

एक वस्तु अनेक गुण धर्मों का वहन कर सकता है। इनमें से एक या कुछ को स्वीकार करने एवं शेष का निषेध करने की प्रवृत्ति एकान्तात्मक होती है। जब वस्तु स्वयं अनन्तधर्मात्मक होने के कारण अनेकान्तात्मक है—उसका प्रस्तुतीकरण एकान्तात्मक रूप में करना न केवल अनुपयुक्त अपितु आंशिक एवं अपूर्ण भी है। हाँ यह अवश्य है कि जितने धर्मों की स्वीकृति अपेक्षित होता है—वे सभी वस्तु में निवास करते हैं उनका व्यक्ति अपनी रुचि के अनुरूप आरोप या उनकी कल्पना नहीं कर सकता। जो गुण धर्म नहीं है उसे उस वस्तु के साथ जोड़ना अनुपयुक्त है उसी प्रकार जो गुण धर्म है उसको छोड़ना भी उतना ही अनुपयुक्त है। यह वस्तु ऐसी है और कथंचित् ऐसी भी है —इस शैली के प्रयोग द्वारा वस्तु के प्रासंगिक गुण के साथ-साथ उसके अप्रासंगिक गुणों की उपस्थिति को स्वीकारना अनेकान्तता की अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक होता है। यह अभिव्यक्ति शैली स्याद्वाद है।

प्राय अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को परस्पर पर्यायवाची मान लिया जाता है किन्तु ऐसा मानना समीचीन नहीं है। इन दोनों के मध्य पर्याप्त अन्तर है। अनेकान्त एक विचार पद्धति है एक दृष्टिकोण या मनोवृत्ति है जबकि इस मनोवृत्ति की निर्दोष अभिव्यक्ति स्याद्वाद है। अनेकान्त सिद्धान्त पक्ष है और स्याद्वाद उसका व्यवहार पक्ष है उसका अभ्यास है उसकी क्रियान्विति है। इस सन्दर्भ में निम्नोक्त सूत्र उल्लेखनीय है—

अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वाद

स्याद्वाद शब्द में स्यात् पद का प्रयोग हुआ है। इस स्यात का शाब्दिक अर्थ किसी अर्थ में कदाचित आदि है। इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग स्याद्वादी शैली में होता है—यह भी सत्य है। किन्तु केवल इस आधार पर स्याद्वाद के मूल में संशय की कल्पना करना समाधान नहीं है। स्यात में किसी विकल्प को स्थापना नहीं दिया करता। इसका आशय मात्र यह है कि अन्य सत्यांश को भी सम्मिलित करने का रहा करता है। किसी वस्तु का कोई एक या कुछ गुण धर्म तो स्वीकृत रहते ही हैं। इन स

अविरोध की स्थिति में अन्य गुण धर्म के अस्तित्व को भी मान लिया जाता है। इस अंश की स्वीकृति से पूर्व गुण धर्म की स्वीकृति निरस्त नहीं हो जाती। यही कारण है कि कथन की शैली इस रूप में रहती है—यह है और स्यात् यह भी है। यहाँ भी का प्रयोग विशेषतः ध्यातव्य है। किसी अपेक्षा विशेष से किसी दृष्टिकोण विशेष से किसी अन्य गुण-धर्म को भी पहचाना और मान्य किया जाता है। किसी अन्य अपेक्षा का समर्थन स्याद्वाद करता है। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है—क ख का भाई है किन्तु ग क का भाई नहीं है। क्या यह कथन सत्य नहीं है? ऊपर ऊपर की दृष्टि में यह कथन असंगत प्रतीत होता है। सामान्यतः यह सोचा जा सकता है कि जब क ख का भाई है तो फिर ख भाई क्या नहीं है क का। उसे भी निश्चित रूप से भाई ही होना चाहिए। किन्तु ख यदि भाई नहीं है तो वह बहन हो सकती है। ख का अपना में क भाई है किन्तु क की अपेक्षा में ख भाई नहीं बहन है। ऐसी स्थिति में—क ख का भाई है यह भी सत्य है और ख क के लिये भाई नहीं है यह भी सत्य है। इस कथन में कोई असंगति नहीं है।

सैंधव' शब्द का अर्थ नमक होता है। भोजन करते समय यदि सेवक से कहा जाय कि सैंधव लाओ तो वह नमक ले आयगा। सैंधव का अन्यार्थ अश्व भी है। यदि युद्ध के लिए प्रस्थान को तत्पर योद्धा अपने सेवक को सैंधव लाने का आदेश दे और वह अश्व न लाकर नमक ले आये तो यह नहीं कहा जा सकता कि सेवक ने सैंधव का उचित अर्थ ग्रहण नहीं किया। भोजन की अपेक्षा से सैंधव का अर्थ नमक है तो युद्ध की अपेक्षा में उसका अर्थ अश्व भी है। जिस प्रकार सैंधव शब्द का पूर्ण परिचय इन दोनों अर्थों का ज्ञान बिना सम्भव नहीं है वैसे ही किसी वस्तु या विचार के भी सभी दृष्टिकोणों से सभी अपेक्षाओं से सभी स्वरूपों का समन्वय और स्वीकार किये बिना उसका पूर्ण स्वरूप प्रकट नहीं होता। यह पूर्ण स्वरूप ही किसी वस्तु के विषय में सम्पूर्ण सत्य होगा। अस्तु सम्पूर्ण सत्य को जानने के लिए उसके किसी अंश के बहिष्कार न करने की अनिवार्यता रहती है। उसके अन्यान्य पक्षों सभी पक्षों और सभी अपेक्षाओं से प्रकट होने वाले सभी गुण धर्मों को भी अविरोधभाव से स्वीकार करना होगा। स्वीकृति की यह व्यवस्था और व्यावहारिक प्रक्रिया स्याद्वाद है।

सत्यासत्य के निर्णय के सम्बन्ध में एक और भी महत्त्वपूर्ण बिन्दु मननयोग्य है। कोई कथन किसी दृष्टिकोण विशेष से ही किया जाता है। उस दृष्टिकोण में ही वह कथन सत्य है अन्य दृष्टिकोण से सम्भव है कि वही असत्य सिद्ध हो जाय। साथ ही अन्यान्य दृष्टिकोण भी उस वस्तु के विषय में हों और उनके अनुरूप अन्य अन्य सत्य भी हो। एक मार्ग समतल नहीं है। इस मार्ग के ऊपरी सिरे पर खड़ा है क नामक व्यक्ति यह कह सकता है कि मार्ग में ढलान है। वह भी सत्य कथन कर रहा है किन्तु ख नामक व्यक्ति जो इसी मार्ग के निचले छोर पर खड़ा है जब वह यह कहता है कि मार्ग में विकट चढ़ाई है तो वह भी असत्य भाषण नहीं कर रहा है। क की अपेक्षा से ढलान

का होना भी सत्य है और ग की अपेक्षा से चढ़ाई का होना भी सत्य है। किन्तु क और ग दोनों ही स्याद्वादी हैं तो अपने द्वारा अनुभूत और व्यक्त सत्य के साथ दूसरे के सत्य को भी स्वीकार करेंगे। स्याद्वादी इस परिस्थिति में कहेगा मार्ग में ढलान है मार्ग में कड़ी चढ़ाई भी है। यह अविरोध रूप में पूर्ण सत्य समझने की विधि है। दोनों के अनुभव दृष्टिकोणों की भिन्नता के ही कारण भिन्न हैं। असत्य इनमें से कोई भी नहीं है। इस व्यापक प्रवृत्ति के साथ समग्र की स्वीकृति को व्यक्त करने में ही स्याद्वाद है। कहा जाता है कि जिन वचन अपेक्षारहित नहीं होते। यदि इस अपेक्षा के सन्दर्भ में देखा जाय तो उनके प्रस्तुत तथ्य में सत्य दिखाई देगा। यदि इसी प्रस्तुतीकरण को निरपेक्ष दृष्टि से देखा जाय तो फिर यह सत्य भी असत्य प्रतीत होगा। किसी भवन को अलग अलग कोणों से देखा जाय तो उसकी आकृति भिन्न भिन्न प्रकार की दिखायी देती है। यदि विभिन्न कोणों से चित्र लिये जायें तो चित्र भिन्न भिन्न होंगे—फिर भी वे एक भवन के हैं। उन चित्रों में एक ही भवन चित्रित है। वह भवन एक चित्र जैसा भी है दूसरे चित्र जैसा भी है प्रत्येक चित्र जैसा भी है। इसी प्रकार भिन्न दृष्टिकोणों के साथ एक वस्तु के सम्बन्ध में किये गये कथन भी परस्पर विरोधी नहीं हैं चाहे वे प्रकटतः परस्पर विरोधी ही क्यों न लगें। और वास्तविकता तो यह है कि इन सभी सत्यांशयुक्त कथनों से ही किसी वस्तु का समग्र परिचय दिया जाना सम्भव है। कोई सत्यांश तभी मिथ्या लगता है जब उसे उस दृष्टिकोण से न देखा जाय जिसके साथ उसको सत्य माना गया है। भवन का पूर्व की ओर से लिया गया चित्र निश्चय ही वैसा नहीं होगा जैसा पश्चिम की ओर से वह भवन दिखायी देता है। इसी प्रकार कथन के सत्य का समुचित रूप में पहचानने के लिए उस दृष्टिकोण या अपेक्षा के सन्दर्भ में देखना होगा जिसके साथ कथन किया गया है। एेसे अविरोधयुक्त सत्य की अभिव्यक्ति का आधार स्याद्वाद है।

यह एेसा ही है—जब हम यह कहते हैं तो हम एकान्तवादी हैं हम उस वस्तु के एक ही अंश के प्रति आग्रहशील हैं अन्यान्य अंशों की हम उपेक्षा करते हैं। हम यदि अनेकान्तवादी हैं तो अन्य पक्षों और गुण धर्मों को भी मानेंगे और तब 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करेंगे। हम कहेंगे यह एेसा भी है एेसी भी है और ऐसा भी है। 'भी' के प्रयोग से कथन निरपेक्षता की परिधि से बाहर निकलकर सापेक्ष हो जाता है। 'भी' का प्रयोग करते हुए हम अपने कथन का औचित्य अन्य कथनों मतों व स्वरूपों का विरोध नहीं करते हैं। एेसी अदोष शैली स्याद्वाद है। स्याद्वाद अपनी बात के कथन की एेसी शैली रचने को प्रेरित करता है जिसमें संघर्ष जन्म न ले जिसमें किसी का विरोध न हो जो किसी विवाद को न उभारे। विवादों के समन्वय की विराट चेष्टा ही स्याद्वाद में सम्पन्न होती है। सूत्रात्मक ढंग से कहें तो समन्वयात्मक दृष्टि से अविरोध रूप से अपनी बात कहना स्याद्वाद है।

सप्तभंगी की भूमिका

स्याद्वाद मूलतः निर्दोष अभिव्यक्ति की प्रक्रिया होती है। यह ऐसी शैली का एक प्रभावशाली अभ्यास है, जिसके प्रयोग से विवादों का शमन एवं विपरीत विचार धाराओं का समन्वय संभव हो जाता है। सप्तभंगी स्याद्वाद हेतु अनुकूल भाषा प्रयोग के विकल्पों का विवेचन है। इस प्रकार सप्तभंगी स्याद्वादियों के लिए सफल मार्गदर्शक और सहायक होती है। किसी विषय के सम्बन्ध में हमारे मन्तव्यों का भाषा-माध्यम से दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है— है और नहीं है। इनके अतिरिक्त एक तीसरी परिस्थिति और भी होती है जो उस अवसर पर आती है जब हम 'है' अथवा 'नहीं है' में से किसी को भी व्यक्त करने की स्थिति में नहीं होते। न तो हम किसी के होने की स्पष्टतः सहमति ही व्यक्त कर पाते हैं न और उस नकार ही पाते हैं। यह तीसरा विकल्प अवक्तव्य कहलाता है।

मूलतः इन तीन विकल्पों—है, नहीं है और अवक्तव्य है—के संयोग से कुल ७ विकल्पों की रचना कर दी गयी है जिन्हें सप्तभंगी कहा जाता है। ये सात विकल्प हैं—

(१) किसी अपेक्षा से है (स्यादस्ति)

(२) किसी अपेक्षा से नहीं है (स्यान्नास्ति)

(३) किसी अपेक्षा से है और किसी अपेक्षा से नहीं भी है (स्यादस्ति नास्ति च)

(४) किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है (स्यादवक्तव्य)

(५) किसी अपेक्षा से है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है (स्यादस्ति च अवक्तव्य च)

(६) किसी अपेक्षा से नहीं है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है (स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च)

(७) किसी अपेक्षा से है किसी अपेक्षा से नहीं है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है (स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च)

अनेकान्त की महती भूमिका

विचार-क्षेत्र में गहनता और विस्तीर्णता तो हमारे देश की एक प्रमुख विशिष्टता रही है अनेकान्त के सिद्धान्त ने इस क्षेत्र में एक अद्भुत क्रान्ति ही मचा दी। वैचारिक स्वस्थता एवं सम्पूर्णता अनेकान्त का मूल्यवान देन रही है। विवादशीलता की समाप्ति और वैचारिक वैमनस्य एवं संघर्ष का उन्मूलन करने में यह सिद्धान्त समर्थ रहा है। इसे अपनाकर विचारक आग्रह-व्याधि से मुक्त हुए और उनमें सहिष्णुता का विकास हुआ। साथ ही इस सिद्धान्त ने सत्य के व्यापक स्वरूप को भी उद्घाटित किया और समन्वय की साधना के लिए प्रेरणा भी दी है। इस प्रकार अनेकान्तवाद की जो महती भूमिका है उसके रचनात्मक परिणाम स्पष्टतः दृष्टिगत होते हैं।

साधना का मूल मन्तव्य मनुष्य के राग, आसक्ति, अहं और तृष्णा को समाप्त करना है—यह साधना चाहे किसी भी स्तर पर से सम्बद्ध क्यों न हो। वे आदर्श तो सर्वमान्य हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में एक स्वार्थ किसी साधना को उसका साधक स्वरूप का पालन करके देता होगा। किन्तु बिड़म्बना है कि एक आग्रह किस को पुष्ट करता है और जहाँ आग्रह है वहाँ राग है मोह है, अहं है वहीं तक द्वेष भी है। ये विकार किसी साधना को यथार्थ साधना नहीं रहने देते। ऐसी स्वार्थरत साधना वैमनस्य के कारण हिंसा तक भी हो जाती है। परिणामतः सम्पूर्ण धर्म का स्वरूप ही मलीन हो जाता है। अनेकान्त समन्वय का विराट साधना है। समन्वय विचार, अनेकान्त आदि का समाहार तथा तटस्थ यथार्थिक धर्म स्वयं को जन्म देता है यह तो सामाजिक उत्थान एवं अभ्युदय के लिए भी आधारशिला बनता है। समन्वय विरोधी अनेकान्त अहिंसा की ओर उन्मुख करता है और धर्म को धर्म का वास्तविक रंग रूप मिलता है। अतः ही आग्रह के प्रति राग मोह नहीं होने के कारण साधक के विचार तथा आचरण होने में कोई व्यवधान नहीं आता और अनेकान्त साधना को उसका साधक रूप प्रदान करता है। साधना का लक्ष्य अनेकान्त के माध्यम से पूर्ण हो जाता है कि वह साधक को विराग और अनासक्ति के लिए प्रेरित करे। अनेकान्त के कारण व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य यथार्थिक मतभेद को जो भित्तियाँ होती हैं वे ध्वस्त हो जाती हैं व्यक्ति परस्पर समीप आते हैं और धर्म मनुष्य जाति की शांति और सहयोग प्रवृत्ति में सहायक होता है। इसका श्रेय भी यथार्थ में अनेकान्त की दृष्टि को ही जाता है। वस्तुतः अनेकान्त एक समर्थ रचनात्मक जीवनदृष्टि है।

सर्वधर्म-समभाव भी सम्प्रति संसार की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता रही है। धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों में साम्य एवं ऐक्य होते हुए भी धर्मों के भिन्न-भिन्न स्वरूप ही नहीं इन विभिन्न धर्मों में अत्यन्त प्रतिस्पर्धा भी दिखायी देती है। एक धर्म अपनी श्रेष्ठता को ही प्रतिपादित करता रहता है और इसके साधनस्वरूप अन्य धर्मों के दोष ज्ञापन और निन्दा को भी एक अनिवार्य अस्त्र के रूप में ग्रहण करता है। अनेकान्त इन दोषों को भी दूर करता है। स्वधर्म के प्रति आग्रह को शान्त कर धर्मानुयायी को अनेकान्त परधर्म छिद्रान्वेषण की लत से भी मुक्त करता है। फलतः सर्वधर्म समादर का सौहार्दपूर्ण समन्वित और स्वस्थ वातावरण तैयार हो जाता है। विभिन्न धर्मों द्वारा पारस्परिक खण्डन की परम्परा का ह्रास होता है और सभी धर्मानुयायी सभी धर्मों की अच्छाइयों को देखने और यथासंभव रूप में उन्हें अपनाने के सत्प्रयासी भी होने लगते हैं। अनेकान्त इस प्रकार प्रत्येक युग की धर्मक्षेत्रीय इस जटिल समस्या का समाधान करता रहा है। विभिन्न धर्मों का पारस्परिक विरोध कितने प्रचण्ड दुष्परिणामों का कारण बनता है इतिहास इसके उद्धरणों से भरा पड़ा है। धर्म के नाम पर कितना नरसंहार कितनी अनीतियाँ होती रही हैं। मनुष्य धर्म तो क्या मानवीयता के अतिसामान्य और नितान्त अपेक्षित आदर्शों से भी विमुख हो जाता

है। इस सबके पीछे स्वाग्रह का विकार रहा है और रही है एकमात्र स्वधर्म की श्रेष्ठता की धारणा। अनेकान्त इस व्याधि की अमोघ औषधि सिद्ध हुआ है। इस सन्दर्भ में उपाध्याय यशोविजयजी का उक्ति उद्धरणीय है—

सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता वह समस्त दृष्टिकोणों को सभी दर्शनों को इस प्रकार वात्सल्यदृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्र को। क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है जो स्याद्वाद का अवलंब लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता हो। वास्तव में माध्यस्थभाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है यही धर्मवाद है। माध्यस्थभाव से शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी व्यर्थ है।[1]

इसमें सन्देह का तनिक भी अवकाश नहीं कि स्याद्वादी सच्चा धर्म सहिष्णु होता है। उसके लिए न स्वधर्म सर्वोपरि स्थान रखता है और न ही कोई परधर्म स्वभाव से निम्न होता है। वह राग-द्वेषादि आत्मिक विकारों के पराभव के लिये सतत रूप से प्रयत्नशील बना रहता है। सभी अन्यान्य दर्शनों और सिद्धान्तों को अनेकान्तवादी सदा आदर की दृष्टि से देखता है और माध्यस्थभाव से सम्पूर्ण विरोधों का समन्वय करता है।

सामाजिक क्षेत्र में भी अनेकान्त सभी समस्याओं का एक समर्थ समाधान प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है। सामाजिक ऊँच-नीच अथवा आर्थिक असमानता का मूल कारण हमारे मन का राग द्वेष ही रहता है। हम स्वयं को उच्च ही स्वीकार करना चाहते हैं और अन्य में अपेक्षाकृत हीनता और निम्नता का अनुभव किये बिना हम सन्तोष नहीं होता। कारण यह है कि दूसरों की अच्छाइयों को देखने का हम प्रयास ही नहीं करते। अनेकान्तवादी सोचेगा कि मैं अच्छा हूँ साथ ही यह भी सोचेगा कि अमुक दृष्टि से दूसरे जन भी अच्छे हैं। परिणामतः एक सर्मावत्त एवं शान्तिपूर्ण वातावरण बन सकेगा। उद्योगपति उद्योग-सञ्चालन में अपनी वित्तीय भूमिका को ही अतिमहत्त्वपूर्ण मानता है। उत्पादन के रूप में श्रमिकों की भूमिका को वह महत्त्व नहीं देता। परिणामतः कलह जन्म लेता है उत्पादन रुकता है, आर्थिक विकास बाधित होता है। यही नहीं वह श्रमिक को तुच्छ मानकर अधिक लाभार्जन के पक्ष में नहीं रहता और अशान्ति तथा समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। दोनों परस्पर तीव्र विरोधी हो जाते हैं। यदि दोनों अनेकान्तवादी हो जाएँ तो अपना अपना आग्रह त्यागकर स्वलाभ चिन्तन के साथ एक दूसरे की स्थिति का भी अध्ययन करेंगे। परिणामतः मजदूरों की माँगों में उद्योगपति औचित्य पाने लगेंगे और मजदूर भी उद्योगपतियों की समस्याओं को समझ सकेंगे। दोनों वर्ग समीप आ सकेंगे और समस्याओं का समाधान सम्भव हो जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय क्षेत्र में भी राजनैतिक

---

१ अध्यात्म सार उपाध्याय यशोविजयजी

अनेकान्तवाद विश्वशान्ति और सुखद वातावरण का निर्माता हो सकता है। अस्तित्व और समन्वयशीलता जैसे पुनीत आदर्श राजनैतिक दृष्टि से वरदान सिद्ध सकते हैं।

पारिवारिक क्षेत्र में तो अनेकान्त दृष्टि का होना अत्यन्त आवश्यक है। अ कान्तवादी सदस्यों का परिवार कभी कलह की छाया में भी नहीं आ सकता। परिव में सदा ही दो पीढ़ियों का अस्तित्व रहता है—नई और पुरानी। पुरानी पीढ़ी अप विचारधारा रहन-सहन के तौर तरीके आदर्श और आचरण को ही उचित अ अनुकरणीय मानती है और चाहती है कि परिवार की नयी पीढ़ी इन्हें ही अपनाये पुरानी पीढ़ी को नई पीढ़ी का सब कुछ व्यर्थ तुच्छ और पतनकारी लगता है। इस विपरीत नयी पीढ़ी को अपना सब कुछ आधुनिक उचित और अपेक्षित लगता है और पुरानी पीढ़ी में उसे पिछड़ापन और दकियानूसी की गंध आती है। दोनों अपने अपने पक्ष पर अड़े रहते हैं और पारिवारिक शान्ति का ह्रास हो जाता है। इस अवांछित वातावरण का जनक दोनों पीढ़ियों का एकान्त दृष्टिकोण है। नई और पुरानी पीढ़ियों में स्व विचार के प्रति अटल आग्रह है। कोई भी दूसरे के विचारों को ठीक से समझने का प्रयत्न ही नहीं करता। अगर कुछ करता है तो दूसरे के विचारों में केवल दोषदर्शन ही करता है और अलगाव की खाई प्रशस्त होती जाती है। यदि अनेकान्तवाद को अपनाया जाय तो नयी और पुरानी दोनों पीढ़ियाँ चाहे अपने दृष्टिकोण को कितना ही उपयुक्त मानें वे एक दूसरे के दृष्टिकोण को भी समझने का प्रयास करेंगे। अनेकान्तवाद उन्हें दूसरे के दृष्टिकोण को समझने और उनकी अच्छाइयों को मान्य करने की प्रेरणा भी देगा। दोनों का विरोध समाप्त हो जायगा और वैचारिक वैषम्य के स्थान पर अविरोध विकसित होने लगेगा। अशान्ति ऐसे वातावरण में टिक ही नहीं सकेगी और उसके स्थान पर अटल सुख शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जायेगा। यदि एक एक परिवार अनेकान्त के माध्यम से ऐसा शान्तिपूर्ण और सुखी हो जाय तो सारे देश की ही काया पलट हो जाय। जीवन का कदाचित कोई क्षेत्र ऐसा नहीं हो सकता जो अनेकान्त से लाभान्वित नहीं पाये। अनेकान्त समग्र मानव जीवन के लिए एक महान वरदान है और इसका श्रेय जैनदर्शन को है। अनेकान्त की देन के रूप में जैन परम्परा ने मानव-जीवन एवं संस्कृति का बड़ा उपकार किया है।

□□

अवतार नहीं उत्तारवाद

□

श्रमण संस्कृति में अवतारवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। अवतार ईश्वर का अंश या प्रतिनिधि होता है। अवतार एक प्रकार से ईश्वर स्वयं ही है जो अन्य रूप में धरती पर उतरता है। यह अवतरण नीचे उतरने के अर्थ का द्योतक है। जैन संस्कृति ईश्वर की कल्पना तक नहीं करती और यदि ईश्वर हो भी तो वह सर्वोपरि होगा वह नीचे क्यों उतरेगा ? वह सर्वशक्तिमान है वह तो अपने स्थान से ही सब कुछ नियंत्रण कर सकता है। जहाँ ब्राह्मण संस्कृति में अवतारवाद के नाम पर ईश्वर के नीचे उतर आने की कल्पना है वहाँ उत्तारवाद के नाम पर श्रमण संस्कृति में मानव के लिए ऊर्ध्वगामी होने की प्रेरणा और मार्गदर्शन है। जैन संस्कृति अवतारवाद को अमान्य समझती है।

अवतारवाद को स्वीकारने वाली ब्राह्मण संस्कृति में ईश्वर को सर्वोपरि माना गया है। ईश्वर ने ही इस सृष्टि का निर्माण किया वही इसका पालन और संचालन भी कर रहा है और वही इसका संहार भी करता है। इस आधार पर क्रमशः ब्रह्मा विष्णु और महेश— त्रिदेव ईश्वर के रूप हैं। यही सर्वशक्तिमान ईश्वर धरती पर धर्म की स्थापना और उसका रक्षण करता है। जब जब अधर्म के आधिक्य से धरती पर धर्म का अस्तित्व संकटग्रस्त हो जाता है ईश्वर किसी रूप में अवतार लेता है और धर्म की रक्षा करता है। इस उद्देश्य से समय-समय पर इस धरती पर अवतार होते रहे हैं जिन्होंने ब्राह्मण संस्कृति के अनुसार धरती को पापों के बोझ से मुक्त किया है। राम कृष्ण आदि अनेक महापुरुष धरती पर जन्मे हैं। ब्राह्मण संस्कृति ने ऐसी ऐसी सभी लोकोपकारी महान विभूतियों को अवतारों की श्रेणी में ले लिया है। इससे न केवल एक हीन भावना प्रकट होती अपितु मुहर भी होती है कि राम का अनुसरण भला हम कैसे कर सकते हैं। राम में तो ईश्वरीय शक्ति सक्रिय थी, हम साधारण मनुष्य हैं। मनुष्य की गरिमा इससे घटती है। दूसरी तरफ राम अथवा अन्य किसी तथाकथित अवतार की निजी विशिष्टताएं और क्षमताएं भी बेचारी पूरा आदर नहीं पा सकतीं। उन्होंने जो कुछ किया वह उन्होंने नहीं ईश्वर ने उनके रूप में किया। अवश्य ही ऐसी जन धारणा स्थापित हो जाने पर मानव-जाति की शक्ति और क्षमता सीमित रह जाती हैं। फिर एक दोष और भी आ जाता है कि स्वयं पर घिरे संकटों को दूर करने के लिए मानव स्वयं सचेष्ट नहीं रहता। वह तो विवश पशु की भाँति ईश्वर से ही त्राण करने की प्रार्थनाएँ करता

रहा है। सदियों तक धर्म पर आते गए कोपों के लिए ऐसी
प्रतीक्षा की जाती रही है, वे पीढ़ियाँ कितनी आत्मविश्वासहीन
निश्चेष्ट रही होंगी। अवतारवाद के दुष्परिणाम इस प्रकार मात्र क
सहायक तो रहे ही हैं मानव को मानव को दुर्बल भी करते रहे हैं। अ
अंतर्गत मनुष्य सीमित कर्म शक्ति वाला पशु माना है। मनुष्य कुछ भी
रखता वह तो ईश्वर के हाथ का खिलौना मात्र है। उसके चाहे या
नहीं होता। अन्ततः होता वही है जो ईश्वर की इच्छा होती है। इस
निराश होकर मनुष्य निष्क्रिय हो जाता है। ईश्वर महान शक्तिशाली
दीन हीन है ईश्वर का स्वरूप है और और मनुष्य का यो। है कौन
करता है और और मनुष्य का रोग है कौन। ऐसी-ऐसी धारणाओं स
आत्मागत गौरव भी गिर जाता है। ईश्वरवादियों का ईश्वर भी पुकार पुकार
है कि पापियो चिन्ता न करो मेरी शरण में आ जाओ मैं करूंगा तुम्हारा
फिर मनुष्य भला मुक्ति-मार्ग का पथिक स्वयं ही क्यों बनेगा वह पाप
रहने का प्रयत्न क्या करेगा? मनुष्य की प्रवृत्ति पाप से नहीं पाप के फल
की हो जाती है। फिर एक और अवतारवाद अवतारवाद के कारण मानव जाति
आ जाता है कि अवतारों के आचरण मान चमत्कारपूर्ण अद्भुत और अन
जाते हैं कि वे श्रद्धा मात्र रह जाते हैं अनुकरणीय नहीं। और समाज इस प्रकार
हीन रह जाता है। उसे अपनी आचरण पद्धति के लिए कोई सबक नहीं मिल

अनादि काल से जैन संस्कृति अनीश्वरवादी है। उसमें अवतार
कोई कल्पना नहीं। जैनधर्म और संस्कृति में तो मनुष्य ही जगत का सर्वोप
शक्तिमान है। अपना और जगत का कल्याण स्वयं मनुष्य द्वारा ही इस सं
संभव माना गया है। मनुष्य का कल्याण कोई अन्य कर ही नहीं सकता। जब
धारित जीवन ही वह भोगता है तो कोई उसे सुखी अथवा दुखी कम बना
है। जैनाचार्यों के मतानुसार श्रमण संस्कृति का आदर्श ईश्वर का अवतार न
मनुष्य का उत्तार है। श्रमण संस्कृति के अनुसार ईश्वर मानव नहीं बनता
मनुष्य ही अपनी साधना द्वारा ईश्वर जैसी स्थिति प्राप्त कर लेता है। यह स
मनुष्य की अपार क्षमताओं और अनन्त शक्तियों पर अगाध विश्वास रखती है
इन्हीं के सहारे उसे उच्च से उच्च उपलब्धियों के लिए प्रेरित करती है। मनुष्य
आत्म स्वरूप के साथ जब वास्तविक परिचय स्थापित करता है और पर से ह
अपनी शक्तियों को स्व की ओर केन्द्रित कर लेता है तब क्रमशः आत्मिक उ
होने लगता है। उसकी आत्मा निर्मल होने लग जाती है। निर्मल आत्मा ही परमा
की पर्याय है। मनुष्य का ईश्वर के रूप में परिणत हो जाना श्रमण संस्कृति में स
व्यवहार्य है।

जैनधर्म और श्रमण संस्कृति ही मनुष्य को आत्मा के उत्थान के लिए प्र

देती है उसे इस हेतु मार्ग सुझाती है और अपेक्षित शक्ति के साधन बताती है। यही श्रमण संस्कृति का उत्तारवाद है। उत्तारवाद इस प्रकार मनुष्य में अजेय आत्म विश्वास और आत्म-गौरव भरता है, उसमें यह विश्वास जगाता है कि वह तुच्छ नहीं है। साथ ही उसमें यह सूत्र भी उत्पन्न होती है कि उसका उद्धारक कोई अन्य कभी नहीं हो सकता। उसका कल्याण वह स्वयं ही कर सकता है—इस धारणा से वह निश्चेष्ट नहीं रहता। मनुष्य में यह धारणा भी जमती है कि वह स्वयं अपने प्रयत्नों से आध्यात्मिक क्षेत्र की उच्चतम मंजिल तक पहुँच सकता है और इससे साधना मार्गों के प्रति उसमें आकर्षण तीव्र हो जाता है।

जैन संस्कृति मानवोचित व्यवहार के आदर्श प्रस्तुत करती है और ये आदर्श न तो अद्भुत है और न ही मानवेतर स्तर के। अतः आदर्शों के रूप में वे सफल हैं क्योंकि जन साधारण के लिए वे अनुकरणीय हो गये हैं। तीर्थंकर अरिहन्त आदि का समग्र जीवन आद्योपान्त रूप में बड़ा सामान्य होता है। उसमें कोई आश्चर्यान्वित करने वाला प्रसंग नहीं मिलता। जैन संस्कृति की महान विभूतियों को अपने तप और साधना के बल पर ही यह गौरव प्राप्त हुआ। दैवी या ईश्वरीय अंश जैसी किसी पृष्ठभूमि को इसके लिए नहीं माना जाता। इन महापुरुषों ने तो समाज के साधारण जनों की भाँति ही जीवनारम्भ किया। ये भी न्यूनाधिक रूप में माया मोह से ग्रस्त रहे, विषय-वासनाओं के पुजारी रहे। यही जीवन क्या इसके पूर्व के भी न जाने कितने ही जीवन इसी प्रकार व्यतीत हुए होंगे। स्व प्रयत्नों से ही उन्होंने आत्मोत्थान किया और मानव जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त किया।

जैन परम्परा के साहित्य में ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख मिलता है जो सिद्ध करते हैं कि मनुष्य आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प के साथ जुट जाय तो कोई भी आध्यात्मिक ऊंचाई ऐसी नहीं हो सकती जो उसकी पहुँच से परे हो। निश्चय ही अपने उत्तारवाद के माध्यम से श्रमण संस्कृति ने मनुष्यत्व का गौरव बढ़ाया है। उसे किसी का दास और परावलंबी बनने से बचाया है। अन्य संस्कृतियों को भी उत्तारवाद एक विचारणीय चिन्तन बिन्दु देता है—इसमें सन्देह नहीं। □□

अध्याय १२

लोकवाद

मनुष्य सचेतन प्राणी है। चेतना का एक अभिन्न अंग है—जिज्ञासा। स्वभावतः से ही मनुष्य जिज्ञासु रहा है। जिज्ञासा की तृप्ति के लिए भी मनुष्य सदा सचेष्ट रहा है और इस क्रम में जहाँ जहाँ उसे सफलता मिली—एक सतोष भी उसे मिलता रहा किन्तु जिज्ञासा कभी विराम नहीं लेती। एक की तृप्ति अन्य अनेक और अधिक महत्वपूर्ण जिज्ञासाओं की जननी बन जाती है। यह क्रम सतत रूप से निरन्तरित रहता है और ज्ञान विज्ञान की अनेकानेक शाखा प्रशाखाएं विकसित होती रही है पुष्ट और समृद्ध होती रही है। मानव संस्कृति में ज्ञान विकास की अनादि और अनन्त यात्रा का यही स्वरूप है। मनुष्य की जिज्ञासाओं के आधारभूत और आदि विषय उसके आस-पास के वातावरण से ही सम्बद्ध होते हैं। जो जो उसे दिखाया गया है, उसे अनुभव होता है—उसके विषय में अनेक जटिल सरल प्रश्न उसके मानस में कौंधने लगते हैं। यह क्या क्यों, कहाँ कब से किस लिए आदि-आदि अनेक रूप इन प्रश्नों के हुआ करते हैं। जब तक ये प्रश्न उत्तरित नहीं हो जाते उसे एक उद्विग्नता की स्थिति का अनुभव होता रहता है।

यह लोक, जिसमें मनुष्य अपनी भव-यात्रा को क्रमशः सम्पन्न करता चलता है—मनुष्य के लिए तीव्र जिज्ञासा का प्रधान विषय रहा है। इस लोक अथवा विश्व की रचना कब हुई? कब तक यह विश्व बना रहेगा? इसके संचालन का सूत्र कौन थामे हुए है? दृश्यमान एवं अनुभूत होने वाले इस जगत् के अतिरिक्त भी क्या कोई अन्य जगत् है अथवा नहीं है? ये और इसी प्रकार की अनेकानेक जिज्ञासाएं स्वाभाविक रूप से उठती रही और क्षमतावान महापुरुषों ने इनकी तुष्टि की दिशा में समर्थ प्रयत्न किये हैं। प्रयत्नों का यह क्रम प्रत्येक युग में चलता रहा है और चलता रहेगा। इस लोक को समझने के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों के साथ प्रयत्न किये गये और परिणामस्वरूप विभिन्न दर्शन विकसित हुए हैं। ये सभी दर्शन इस एक ही लोक को समझने-समझाने की प्रक्रिया मात्र है अतः स्वभावतः उनमें एक अन्तरहीनता भी लक्षित होता है और दृष्टिकोणों के वैभिन्न्य के कारण उनमें भिन्नता के दर्शन भी होते हैं।

जैन परम्परा में इस लोक को ही सर्वस्व माना गया है। धर्म का लक्ष्य लोक और लोक-जीवन की पवित्रता पर अधिक केंद्रित रहा है। लोकेतर अवस्थाओं के

लिए जैन परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। सारे प्रयत्न जीवन को आदर्शमय बनाने की दिशा में ही हैं। ऐसी अवस्था में जैन परम्परा में लोक का सर्वोपरि महत्त्व भी स्वयंसिद्ध हो है। अन्ततः लोक है क्या ? इस प्रश्न पर प्रचुर मनोमन्थन जैन दार्शनिकों और चिन्तकों द्वारा हुआ है और उसमें निःसृत नवनीत ने एक सुग्राह्य लोक-व्यवस्था को निरूपित कर दिया है। जनधर्म और जनदर्शन के अध्येताओं के लिए यह लोक-व्यवस्था की मौलिक दृष्टि नितान्त अपरिहार्य है। यही लोक-व्यवस्था जैन दर्शन की उच्च अटारी की सुदृढ़ आधारशिला है।

भगवती सूत्र में लोक का स्वरूप निरूपण किया गया है। भगवान महावीर के काल में इस प्रकार के जिज्ञासायुक्त प्रश्नों पर व्यापक चर्चा विचार विमर्श हुआ करता था। इतिहास के इसी कालखण्ड में गौतम बुद्ध भी हुए हैं। जिज्ञासुओं ने श्रद्धापूर्ण भाव के साथ तथागत से लोक विषयक अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए समाधान हेतु निवेदन किया। कहा जाता है कि जिज्ञासुओं ने इस प्रकार के प्रश्न किये—लोक शाश्वत है ? लोक अशाश्वत है ? लोक सान्त है ? लोक अनन्त है ? जीव और देह एक हैं ? जीव और देह भिन्न हैं ? मरने के पश्चात् तथागत होते हैं ? मरने के पश्चात् तथागत नहीं होते हैं ? मृत्यु के पश्चात् तथागत होते भी हैं और नहीं भी होते ? मृत्यु के पश्चात् न तथागत होते और न नहीं होते ? उल्लेखनीय है कि गौतम बुद्ध ने इन जिज्ञासाओं की तुष्टि का दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर अनुत्तरित ही छोड़ दिया था। इसके विपरीत भगवान महावीर स्वामी द्वारा सदा ही ऐसे प्रश्नों के समाधान किये गये थे।

लोक और अलोक

जहाँ लोक का अस्तित्व है वहाँ अलोक की स्थिति भी साथ-साथ के साथ अवश्यम्भावी है। अलोक की अनुपस्थिति में लोक के अस्तित्व का स्पष्टाधार परिलक्षित ही रहता। अब प्रश्न यहाँ यह भी आ उपस्थित होता है कि अलोक और लोक में से किसका अस्तित्व पूर्व का है और किसकी स्थिति अनन्तर में आयी। भगवान के एक प्रिय शिष्य—आर्य रोह ने इसी आशय की जिज्ञासा प्रस्तुत की थी और तब प्रथम जिनेश्वर भगवान महावीर ने जो उत्तर दिया था उससे सारी स्थिति स्पष्ट हो गयी। भगवती सूत्र में यह प्रसंग वर्णित है, जिसके अनुसार भगवान ने स्पष्ट किया था कि अलोक और लोक दोनों ही पहले भी हैं और पीछे भी रहेंगे। दोनों ही अनादि से हैं और अनन्त काल तक बने रहेंगे। दोनों शाश्वत हैं तथा दोनों में से किसी को पूर्व और किसी को अपर भी कहा नहीं जा सकता है। वस्तुतः लोक और अलोक—दोनों अनानुपूर्वी हैं। न कोई पहले हुआ है और न कोई तदनन्तर।

इसी प्रकार भगवती सूत्र के उल्लेखानुसार भगवान के एक अन्य प्रिय शिष्य गौतम ने किसी अवसर पर यह प्रश्न किया था कि—भगवान, लोक क्या है ?

भगवान ने उत्तर दिया— गौतम ! लोक पंचास्तिकायरूप है। पंचास्तिकाय हैं—धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय जीवास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय।

इन पाँच अस्तिकायों का संगठन ही लोक का निर्माण करता है। अन्यत्र इसके अलावा कालास्तिकाय भी वर्णित मिलता है। वस्तुतः कालास्तिकाय को पृथक अवयव का स्थान इन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती। इसका कारण यह कि काल द्रव्य को जीवद्रव्य एवं अजीव द्रव्य के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लिया गया है क्योंकि ये दोनों द्रव्य स्वभाव से परिवर्तनशील हैं। लोक और अलोक का अन्तर ही इन सब छह द्रव्यों पर आश्रित है। उपर्युक्त छहों द्रव्यों का संयोग लोक है जबकि अलोक में इनका अभाव है। जहाँ इन सब का निवास है वह लोक और आकाश अलोक है। इस अन्तर के होते हुए भी लोक और अलोक का सह अस्तित्व एक अडिग तथ्य है। जहाँ लोक है वहाँ अलोक भी अवश्य है। लोक उपर्युक्त ६ द्रव्यों के सम्मेलन का परिणाम है वहाँ अलोक में इन द्रव्यों का सर्वांश में अभाव है। यही लोक एवं अलोक के मध्य मौलिक अन्तर है। जीव और पुद्गल लोक में उपस्थित रहते हैं। शब्दान्तर से इसी तथ्य का उल्लेख उत्तराध्ययन में भी किया गया है—जहाँ जीव और अजीव की सहस्थिति को ही लोक कहा गया है। अलोक जीव-पुद्गल से रहित होता है।

इस तत्त्वाधारित अन्तर के अतिरिक्त भी कतिपय प्रमुख अन्तर लोक एवं अलोक में पार्थक्य स्थिर कर देते हैं। लोक ससीम है, निश्चित विस्तारयुक्त है। इसके विपरीत अलोक असीम है अमर्यादित रूप में विस्तीर्ण है। इस तथ्य के साथ सुलभ है कि लोकाकाश में असंख्यात प्रदेश हैं तथा लोक १४ रज्जु परिमाणयुक्त है, जबकि अलोक अनन्त प्रदेश युक्त और सर्वथा परिमाणरहित है। भगवान की एक उल्लेखनीय उक्ति से लोक और लोकावयवों का मार्मिक परिचय प्राप्त हो जाता है—

लोक द्रव्य की अपेक्षा से सान्त है क्योंकि वह संख्या में एक है। क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है क्योंकि सकल आकाश में से एक भाग विशेष ही लोक है। काल की दृष्टि से लोक अनन्त है शाश्वत है क्योंकि कोई काल ऐसा नहीं जब लोक का अस्तित्व न हो। भाव अर्थात् पर्यायों की अपेक्षा से लोक अनन्त है, क्योंकि लोक द्रव्य की पर्याय अनन्त हैं।

लोक के आकार आकृति का परिचय भी जैन ग्रन्थों में सुलभ होता है। इसे त्रिशराव संपुट आकार का बताया गया है। लोक नीचे से फैला हुआ है और ऊपर की ओर उत्तरोत्तर सकरा होता गया है, जैसे एक शराव औंधा रख दिया गया हो। इसके ऊपर के भाग की आकृति ऐसी है मानो इस शराव पर कोई सीधा शराव स्थापित कर दिया गया हो और उसके ऊपर का भाग पुनः उलटे शराव जैसा आकृति का है। अलोक की आकृति उस गोले की भाँति है जिसके मध्य में पोल हो। अलोक का तो कोई विभाग नहीं है, किन्तु लोक के ३ विभाग हैं—

(१) ऊर्ध्वलोक

विदेह, रम्यक, हैरण्यवत् और ऐरावत—जम्बूद्वीप के ये ७ प्रमुख क्षेत्र हैं और कुरु तथा उत्तरकुरु नामक दो उपखण्ड भी हैं क्षेत्र के मान जाते हैं।

निवासियों के स्वभाव एवं लोक जीवन के स्वरूप के आधार पर प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है—(i) कर्मभूमि और (ii) अकर्मभूमि। कर्मभूमि से तात्पर्य यह है कि यहाँ के निवासी कर्माधारित जीविका यापन करते हैं। कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, कला, कौशल आदि के द्वारा ही वे जीवन यापन करते हैं। मनुष्य के लिए चेष्टा आवश्यक है और चेष्टा के स्वरूप के आधार पर ही अथवा पुण्य का निरूपण हो जाता है। सत्कर्म का चयन कर कोई मनुष्य श्रेष्ठ को भी अर्जित कर सकता है और अनर्गल कर्मों द्वारा कोई पापों का संचय भी सकता है। ढाई द्वीपों के पन्द्रह क्षेत्र कर्मभूमि के अन्तर्गत आ जाते हैं। यहाँ के अनुसार सुख और दुःख दोनों का विधान भी रहता है। इसके विपरीत अकर्मभूमि में मनुष्य के लिए जीवन के अनिवार्य सुख साधन स्वतः और सहज सुलभ हैं। इनकी प्राप्ति हेतु मनुष्य को चेष्टा या प्रयत्न नहीं करना होता। यह श्रम नहीं केवल सुखोपभोग की भूमि है। इसी आधार पर अकर्मभूमि को भोगभूमि भी कहा जाता है। ढाई द्वीपों में इस अकर्म अथवा भोगभूमि के अन्तर्गत कुल ३० आते हैं। कर्म और अकर्म भूमि के इन दो वर्गों के साथ-साथ अन्य एक वर्ग भी माना जाता है जो अन्तरद्वीप के नाम से जाना जाता है। जम्बूद्वीप लवण समुद्र से घिरा हुआ है। समुद्र के मध्य फैली हुई हिमवान पर्वत की दाढ़ाओं में ये द्वीप हैं। इन द्वीपों की संख्या २८ बतायी जाती है। अन्य शिखरी पर्वतों के २८ द्वीप और हैं और योग द्वीप संख्या ५६ है।

अधोलोक

मध्यलोक से नीचे अधोलोक माना जाता है। अधोलोक की संरचना सात स्तरों से बनी है। इन स्तरों को ही सात पृथ्वियाँ अथवा सात नरक कहा जाता है। ऊपर से नीचे के क्रम में ये पृथ्वियाँ क्षेत्रफल में व्यापकतर होती चली गयी हैं। इन विभिन्न भूमियों के मध्य शून्य का अन्तराल है। इन ७ भूमियों के नाम हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा एवं महातम प्रभा। अधोलोक की ये भूमियाँ भी और उनके मध्य के अन्तराल भी विभिन्न मोटाई के हैं।

अधोलोक में प्रमुखतः नारक जीवों का निवास है। ये जीव इन सातों पृथ्वियों में हैं किन्तु प्रत्येक पृथ्वी के ऊपर और नीचे के एक-एक हजार योजन भाग को छोड़कर शेष बीच के भाग में ही इनका निवास है। ऊपर से नीचे के ही क्रम में इन स्तरों में निवास करने वाले नारक जीवों की कुरूपता एवं भयावहता अधिक से अधिक बढ़ती चली जाती है। पुण्यकर्मापेक्षी होते हुए भी इन जीवों को दुःख की प्राप्ति ही होती है। पारस्परिक वैर प्रतिशोध की भावना इन्हें क्रूर बना देती है। पूर्वभव के

व्यवहार की स्मृति से ये एक दूसरे के प्रति वमनस्य रखते हैं। पर दु खकारी काय इन्हें प्रिय होते है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह लोक अति व्यापक है विस्तीण है। मनुष्य मर्यादित क्षमतावश इस विशाल लोक के एक सीमित अश से साथ ही परिचय स्थापित कर पाता है। भगवती सूत्र म इस लोक को स्थिति के विषय म भी विवेचन मिलता है। भगवान महावीर स्वामी के कथन का उल्लेख इस प्रसग म किया गया है और यह व्यक्त किया गया है कि लोक की स्थिति ८ प्रकार की होती है—

(१) वायु आकाश पर ठहरी हुई है—(२) समुद्र वायु पर ठहरा हुआ है—(३) पृथ्वी समुद्र पर ठहरी हुई है—(४) त्रस स्थावर जीव पृथ्वी पर ठहरे हुए हैं—(५) अजीव जीव के आश्रित हैं—(६) सकम जीव कम क आश्रित हैं—(७) अजीव जीवों द्वारा सग्रहीत हैं—(८) जीव कम सग्रहीत ह।

उपयुक्त स्थापना से यह निष्कर्ष भी प्राप्त होता है कि विश्व क ४ आधार भूत अग हैं—

(i) आकाश (ii) जल (iii) वायु (iv) पृथ्वी।

इन्हीं तत्वो क विभिन्न प्रकार क सगठनो से इस लोक का निर्माण हुआ एव विभिन्न पदार्थों म स्थिति ग्रहण की है। इन अगा म आधार आधेय का सम्बन्ध रहता है। उदाहरणार्थ, जीव आधार है शरीर उसका आश्रय है।

लोक का अस्तित्व कब से कैसे ?

सामान्य दृष्टि से यह प्रश्न बडा अबूझ प्रतीत होता है। कल्पना शक्ति क प्रयोग द्वारा मनुष्य लोक की आदि अवस्था स परिचय स्थापित कर सक यह दु साध्य काय ही है। विश्व का निर्माण किस निश्चित समय की घटना है—यह कहा नहीं जा सकता। चिन्तन धारा तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि यह विश्व अनादि है, साथ ही यह अनन्त भी है। द्रव्य दृष्टि से जहाँ यह तथ्य प्रकाशित होता है वहाँ पर्यायदृष्टि से एक अन्य ही परिणाम प्राप्त होता है कि विश्व सादि है सान्त है।

लोक म दो द्रव्यों की प्रमुखता है—जीव और अजीव। ये दोनों तत्त्व अनश्वर हैं शाश्वत हैं। साथ ही जीव एव अजीव तत्त्वों क मध्य पूर्वापर सम्बन्ध भी स्थिर नहीं किया जा सकता। कौन सा तत्त्व पहले अस्तित्व म आया और कौन सा उसके अनन्तर—इस विषय म कुछ भी निश्चित रूप स कहा नहीं जा सकता है। कारण यह है कि ये दोनो ही अनादि हैं। इनम स कोई किसी का कारण और कोई काय अथवा परिणाम नहीं हैं। भारत की अन्यान्य चिन्तनधाराओं म भी इस लोक को चेतन और जड का सयोग स्वीकार किया गया है। चेतन और जड को क्रमश पर्याय रूप म जीव एव अजीव का ही रूप माना जा सकता है। इस विचारधारा म भी

जड को चेतन्य की उत्पत्ति का कारण नहीं माना जाता है। सांख्यदर्शन एवं दर्शन में भी त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही विश्व के निर्माण का मूल माना गया सतोगुण रजोगुण और तमोगुण का उस समय विकास होता है जब प्रकृति क्षुब्ध उठती है और परिणामत सृष्टि का निर्माण हो जाता है। सांख्यदर्शन के अन्तर्गत मत स्वीकार्य रहता है कि परिणाम प्रकृति का स्वभाव है।

इस प्रकार सांख्यदर्शन परिणामवादी है, किन्तु इसके विपरीत जैनदर्शन परिवर्तनवादी है। जीव और पुद्गल के संयोग से परिवर्तन आकार ग्रहण करते चलते हैं और लोकावस्था उत्तरोत्तर नवीन रूप प्राप्त करती रहती है। जैन मतानुसार इन परिवर्तनों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। वे हैं—(i) स्वाभाविक और (ii) प्रायोगिक। स्वाभाविक परिवर्तन अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। अपनी विरलता के कारण साधारणतः वे दृष्टिगत नहीं होते। इसके विपरीत प्रायोगिक स्थूल होते हैं, स्पष्टतः दृश्यमान होते हैं और साधारणतः परिलक्षित हो जाते हैं। इन्हीं परिवर्तनों के स्थान ग्रहण करते रहने के क्रम में लोक गतिशील रहता है—प्रवाहशील बना रहता है। जैनदर्शन की यह मान्य धारणा इस सारे प्रसंग में अति महत्वपूर्ण है कि चेतन से अचेतन और अचेतन से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती। ये दोनों—जीव एवं पुद्गल अनादि हैं अनन्त हैं। इन्हीं के संयोग से विविध परिवर्तन संभव होते रहते हैं। परिवर्तन ही लोक के निर्माण और अस्तित्व के आधार हैं। जैनधर्म लोक के निर्माण में सृष्टिवाद को स्वीकार नहीं करता। इस मान्यता में लोक निर्माण में ईश्वर की सत्ता की कोई भूमिका नहीं है। कतिपय चिंतकों का मत भी इसी प्रकार का होता है और प्रायः जन साधारण की धारणा भी इसी प्रकार की होती है कि अवश्य ही कोई न कोई इस विश्व का निर्माता है और उसी के निर्देशानुसार इस सृष्टि के विभिन्न कार्यों एवं गतिविधियों का सम्पादन संचालन हो रहा है। जैन परम्परा ऐसे किसी मत में औचित्य स्वीकार नहीं करती है। तथापि इस विषय में प्रचलित विभिन्न धारणाओं के अध्ययन से भी हमारा दृष्टिकोण स्पष्टतर हो सकता है।

सृष्टि की उत्पत्ति एवं उसके संचालन के विषय में प्रचलित अनेकानेक धारणाओं को ३ कोटियों में रखकर उनका अध्ययन सुविधा के साथ किया जा सकता है। एक कोटि की धारणा इस प्रकार है कि ईश्वर ही शाश्वत है वह अनादि और अनन्त है। वही एक मात्र सत्य है और उस ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इस धारणा के अनुसार यह दृश्यमान सारा जगत् मात्र छलावा है अवास्तविक और स्वप्नवत् है। इसी धारणा के अन्तर्गत कुछ चिंतकों की यह मान्यता भी है कि ईश्वर ने ही वस्तुतः इस जगत् की समस्त वस्तुएँ निर्मित कर दी हैं। इसके पूर्व यह जगत् था ही नहीं और अकेला वह ईश्वर ही था। इसी प्रकार जब उसकी इच्छा होगी जगत् को वह तिरोहित कर देगा तथा मात्र वही अकेला शेष रह जायगा। नास्ति

से अस्ति रूप प्रदान करने के क्रम में परमात्मा (ब्रह्म) द्वारा जगत के निर्माण में इन
चिन्तकों का विश्वास है। दूसरी कोटि की धारणा में यह स्वीकार नहीं किया जाता कि
आरम्भ में अकेला ब्रह्म ही था और कोई वस्तु था ही नहीं। अवस्तु से वस्तु के निर्माण
को वे स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म के साथ-साथ वस्तु भी थी और वह भी ब्रह्म की
ही भाँति अनादि और अनन्त है। जीव-अजीव वस्तुएँ सदा से रही हैं और ये शाश्वत
भी हैं। हाँ, इतना अवश्य इस चिन्तनधारा के दार्शनिक भी मानते हैं कि ईश्वर ही
स्वेच्छा से इन वस्तुओं के रूपादि में परिवर्तन करता है। तीसरी कोटि के चिन्तक
तनिक भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। उनके मतानुसार वस्तुएँ अनादि और अनन्त हैं,
शाश्वत हैं वस्तुएँ अपने स्वरूप को परिवर्तित भी करती हैं किन्तु इस परिवर्तन की
नियामक ईश्वर जैसी कोई सत्ता नहीं है। इस कोटि के चिन्तक यह मानते हैं कि
विभिन्न वस्तुएं पारस्परिक संयोग से ही नवीन वस्तुओं का आकार ग्रहण करती हैं
नवीन गुण धर्मों की रचना होती रहती है। यह परिवर्तन स्वतः ही होता रहता है,
ईश्वर जैसी किसी सत्ता की इच्छा पर यह परिवर्तन निर्भर नहीं रहता अपितु इसका
तो एक सतत क्रम चलता रहता है। जैन परम्परा में इस तीसरी कोटि को ही मान्य
समझा गया है। ईश्वर को जगत् कर्ता के रूप में जैनदर्शन स्वीकार नहीं करता।
इस दर्शन की स्वीकारोक्ति तो केवल परिवर्तनवाद के प्रति ही रही है।

जैनमतानुसार पदार्थ नित्य स्वरूप रखता है, वह अनादि है, अनन्त है।
इसी प्रकार वस्तु का गुण या स्वभाव भी अनादि और अनन्त है। देश-काल की बाधा
इस शाश्वतता को प्रभावित नहीं करती है। हम कोई ऐसी वस्तु निर्धारित ही नहीं
कर सकते कि जो किसी अन्य वस्तु से नहीं बनी हो अर्थात् पूर्व वस्तु का परिवर्तित रूप ही
वर्तमान वस्तु है और यह परिवर्तन का क्रम अजस्रता के साथ आगे बढ़ता रह सकता
है। इसकी यात्रा अनन्त होती है, किन्तु वस्तु कभी नष्ट नहीं होती। कभी-कभी हमें उसके
नष्ट हो जाने का भ्रम अवश्य होता है किन्तु वास्तव में वस्तु ने अपने स्वरूप को ही
परिवर्तित किया। अब वस्तु का वह स्वरूप नहीं रहा कुछ अन्य हो गया है—बस।
अन्यथा वस्तु तो अब भी है। काष्ठ के जलने पर वह वस्तु नष्ट नहीं हुई भस्म में
परिवर्तित हो गयी है। बिना किसी वस्तु के आधार के कोई सर्वथा नवीन वस्तु
अस्तित्व में भी नहीं आती और न ही कोई वस्तु नष्ट होती है। बर्फ बनता है, तो जल
उसके मूल में होता है। बर्फ कोई एकदम नयी वस्तु के रूप में इस जगत में प्रविष्ट
नहीं हुआ। इसी प्रकार बर्फ के पिघलने से वह नष्ट नहीं हो गया केवल जल के
रूप में वह परिवर्तित हो गया है। इस प्रकार जीव और अजीव वस्तुओं के परिवर्तन
के विराट उपक्रम को ही जगत् का संचालन कहा जाता है। यह संचालन स्वचालित
है कोई इसका संचालक नहीं है। इसी प्रकार ये वस्तुएँ किसी के द्वारा निर्मित भी
नहीं हैं। ये अज हैं, अजर और अमर हैं।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि ये शाश्वत जीव-अजीव पदार्थ सब-सदा रूप

में कैसे आ जाते हैं ? परिवर्तन की प्रक्रिया क्या है ? इस सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक तथ्य तो यह है कि जीव समरूपी जीव का प्रजनन करता है। मनुष्य से ही मनुष्य उत्पन्न होता है और वह भी फिर किसी मनुष्य को उत्पन्न करता है। पशु योनियों में भी यह जीवन चक्र देखा जाता है। इसी प्रकार आम की गुठली से ही आम्र वृक्ष और फलों की उत्पत्ति होती है। अन्यान्य वनस्पतियों के साथ भी यही सत्य है। यह सत्य त्रिकालिक है अर्थात्—यही सत्य था, रहा है और रहेगा भी। इसी प्रकार दो वस्तुओं के योग से अन्य वस्तु के निर्माण के नियम भी सुनिश्चित हैं। ये परिणाम भी अनादि और अनन्त हैं। यह परिवर्तन भूतकाल में भी होता रहा है, वर्तमान में हो रहा है और भविष्य में भी होता ही रहेगा। परिवर्तन के ये विविध चक्र चलते ही जा रहे हैं। मुर्गी से अण्डा और अण्डे से मुर्गी की उत्पत्ति का अजस्र चक्र चलता रहा है, चलता रहेगा। इस चक्र का पता क्या तो आदि और क्या अन्त हो सकता है ? यदि इन्हीं परिवर्तन चक्रों का समुच्चय यह जगत है तो फिर लोक के अनादि और अनन्त होने में भी कोई सन्देह नहीं होना चाहिये। जो अनादि है, उसका कोई कर्ता कल्पित करना तर्कसंगत नहीं। यही तो जैन दृष्टि द्वारा स्पष्ट होता है। कोई सर्वशक्तिशाली परमात्मा इस जगत का संचालन नहीं करता है। जगत् तो स्वचालित परिवर्तनों के आधार पर स्वयं ही संचालित हो रहा है। यह ध्रुव वास्तविकता है कि वस्तु के गुण और स्वभाव पर ही लोक का समस्त स्वरूप आधारित है और जैसे वस्तु अनश्वर है, वैसे ही उसके स्वभाव और गुण भी नित्य स्वरूप रखते हैं। अग्नि का गुण उष्णता है, यह सदा उसके साथ बना ही रहता है। इस स्थायित्व के कारण ही जगत निश्चित अवस्था से चलता जा रहा है। अग्नि का स्पर्श दाहक होता है—यह सार्वकालिक और सार्वदेशिक तथ्य होकर दृढ़ नियम हो गया है। अग्नि का स्पर्श भूल से हो जाय, बालक द्वारा अबोधता से हो जाय, जानबूझकर कर किया जाय, प्रत्येक अवस्था में फल एक ही होगा—जलना। अबोध बालक पर दया कर अग्नि उसे जलाती न हो या भूल को क्षमा कर देती हो—ऐसा नहीं होता। वस्तु का स्वभाव तो बड़ी ही अटलता के साथ यथावत बना रहता है। यही कारण है कि लोक विभिन्न क्रिया प्रक्रियाओं और परिवर्तनों के माध्यम से चलता जा रहा है और स्वयं ही चल रहा है। जो जैसा करेगा उसके अनुरूप फल भी उसे अवश्य मिलेगा। यह प्रतिदान सर्वथा अटल रहता है। जैन-परम्परा इस आशय की आस्था को जाग्रत और विकसित करने का ध्येय रखती है। सुपरिणामत सुख कामी मनुष्य को सत्कर्मों की प्रेरणा मिलती है, दुष्कर्मों से बचने का प्रयत्न उसका स्वभाव हो जाता है। यह भी एक मूल्यवान उपलब्धि है। जैन मान्यता में ऐसा कोई उपाय नहीं कि दुष्कर्म करके भी कर्ता उसके दुष्फल से बच सके। पापी पापकर्म करके भी यदि ईश्वर की खुशामद करके उसे प्रसन्न करके पाप के फलों से मुक्त हो जाता हो तो संसार में कष्टसाध्य पुण्यों की ओर उन्मुख ही कौन होगा। सत्य तो यह है कि जैन परम्परा इस प्रकार के ईश्वर की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करती।

न तो कोई ईश्वर है, न उसने लोक का निर्माण किया और न ही वह इस लोक का संचालन कर रहा है। हमारी इस दृष्टि से मनुष्य का मूल्य भी बहुत बढ़ गया है। सृष्टि में मनुष्य स्वयं ही सर्वोपरि स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया है। किसी ईश्वर के समक्ष वह तुच्छ अथवा हीन नहीं है। वह स्वयं ही अपने जीवन का नियामक है और अपने भविष्य का निर्माता है। मनुष्य अपने कल्याण का कर्ता स्वयं ही है। वह गौरवपूर्ण है, वह स्वयं ही सत्कर्मों के माध्यम से महान बन जाता है, उससे महान और उच्च और कोई शक्ति हो—जनधर्म इसे स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार जनधर्म के 'लोकवाद' के दृष्टिकोण ने मनुष्य को उसके अपरिमित सम्मान से अलंकृत भी कर दिया है। □□

निक्षेपवाद

□

चिन्तन—विचारशीलता मानव मन का एक सहज स्वाभाविक धर्म होता है। इस सन्दर्भ में मन को दर्पण के सदृश माना जाता है। दर्पण में प्रतिपल किसी न किसी छवि का प्रतिबिम्ब अंकित रहता है। दर्पण कभी प्रतिबिम्ब से शून्य नहीं होता और मन भी अपनी सहज प्रवृत्ति—विचार से शून्य कभी भी नहीं रहता। मनुष्य की एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति यह भी होती है कि वह अपने विचारों को व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता। अपनी अनुभूति अपने विचारों को व्यक्त कर चुकने पर ही मन को एक भारहीनता का सन्तोष का अनुभव होता है। यह भी एक सुख है। विचाराभिव्यक्ति के लिये समुचित भाषा का ही एक मात्र सशक्त और समर्थ माध्यम होता है। भाषा प्रयोग की क्षमता के अभाव में बेचारे पशु-पक्षी कुछ भी व्यक्त नहीं कर पाते अन्यथा अनुभूति से शून्य तो वे भी नहीं होते। हाँ कतिपय ध्वनि आदि संकेतों से वे भी यदा-कदा कुछ प्रकट अवश्य कर देते हैं किन्तु उनकी अभिव्यक्ति निश्चयार्थक और सुस्पष्ट नहीं होती। भाषा माध्यम के कारण मनुष्य की अभिव्यक्ति में यह अभाव नहीं रह पाता।

शब्द और अर्थ के संयोग से ही भाषा का स्वरूप गठित होता है। किसी अर्थ को व्यक्त करने के लिये हम निश्चित शब्दों का प्रयोग करते हैं और उनका वाचन श्रवण कर अन्य जन हमारे इच्छित अर्थ को ग्रहण कर लेते हैं। भाषा प्रयोग का साफल्य तभी माना जा सकता है जब वाछित अर्थ के लिये हम उपयुक्त और निर्धारित शब्द का चयन कर सकें। इसी प्रकार शब्द के इच्छित अर्थ का बोध न हो पाये तो वाचक और श्रोता दोनों में से किसी न किसी अभाव का ही कारण इसके पीछे रहता है। भाव यह है कि शब्द के नियत अर्थ को जब तक ग्रहण न किया जाय, भाषा माध्यम की भूमिका ही व्यर्थ हो जाती है। कभी-कभी सामान्य अर्थ से भिन्न किसी विशिष्ट अर्थ या लक्ष्यार्थ को प्रकट करने के उद्देश्य से अमुक शब्द का प्रयोग किया जाता है। श्रोता उस अर्थ को ग्रहण कर ले—इस बात की उससे अपेक्षा की जाती है। तभी समग्र भाव संवेदनीय बन पाता है। प्रयुक्त शब्द के वाछित और अपेक्षित अर्थ को समझ लेना ही जैनदर्शन में निक्षेपवाद कहलाता है। निक्षेपवाद का ही एक अंग यह भी है कि प्रयोगकर्त्ता भी ऐसे समीचीन शब्द का प्रयोग करे कि श्रोता वाछित अर्थ तक ही पहुँचे। इस प्रकार उचित रूप में शब्दों का अर्थों में और अर्थों का शब्दों में

जाता है, तो वह नाम उस व्यक्ति की विशेषताओं का प्रकट नहीं करता। बलवन्त नाम असाधारण दुर्बल व्यक्ति का भी हो सकता है और छगनीलाल के पास अपार वैभव भी हो सकता है। केवल नाम के आधार पर सम्बन्धित व्यक्ति का यथार्थ परिचय प्राप्त नहीं होता। नाम तो एक संकेत मात्र है और इस संकेत निर्धारण में व्यक्ति अथवा वस्तु की जाति द्रव्य गुण क्रिया आदि का ध्यान अपेक्षित नहीं रहा करता है। यही नामनिक्षेप है।

यही कारण है कि किसी नाम के स्थान पर उसके समानार्थक अन्य शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। ऐसे पर्यायवाची शब्द के प्रयोग से पूर्व शब्द के अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। फिर भी पर्यायवाची शब्द का प्रयोग निषिद्ध समझा जाता है क्योंकि उस व्यक्ति अथवा वस्तु के गुणादि में उसके नाम का सम्बन्ध ही नहीं है। जिसका नाम राजकुमार है उसे राज-पुत्र के नाम से नहीं पुकारा जा सकता—राजकुमार ही कहा जाता है क्योंकि वास्तव में वह किसी राजा का पुत्र है ही नहीं।

नाम के साथ एक और भी वास्तविकता रहती है। काल के प्रवाह के साथ कुछ नाम बदल जाते हैं जबकि कुछ नाम अपरिवर्तित ही रहते हैं यथावत् बने रहते हैं। जो नाम परिवर्तित हो सकते हैं वे अशाश्वत नाम हैं जैसे बाल्यावस्था में मुन्ना नाम से पुकारा जाने वाला बालक बड़ा होकर इस नाम से नहीं पुकारा जाता। उसे चन्द्रकुमार अथवा किसी अन्य नाम से ही पहचाना जाने लगता है। किन्तु सूर्य चन्द्र आदि के नाम समय की गति के साथ परिवर्तित नहीं होते। उनके ये नाम ज्यों के त्यों ही बने रहते हैं इस प्रकार के नाम शाश्वत नाम कहलाते हैं।

स्थापनानिक्षेप

नामनिक्षेप में अर्थ की यथार्थता का वस्तु में सर्वथा अभाव पाया जाता है। यहाँ भी स्थापनानिक्षेप में जो वस्तु वह नहीं है उसे वह वस्तु मान लिया जाता है। राणा प्रताप की प्रतिमा स्वयं राणा प्रताप नहीं है किन्तु प्रतिमा को राणा प्रताप ही कह दिया जाता है। इस प्रकार किसी वस्तु की उसके तद्रूप अन्य वस्तु में कल्पना कर ली गई है यह स्थापनानिक्षेप है।

स्थापनानिक्षेप के पुनः दो भेद किये जा सकते हैं—

(क) तदाकार स्थापना और (ख) अतदाकार स्थापना

(क) तदाकार स्थापनानिक्षेप—किसी वस्तु को उसी के आकार आकृति आदि से साम्य रखने वाली अन्य वस्तु में स्थापना—तदाकार स्थापना कहलाती है। इसे सद्भाव स्थापना भी कहा जाता है।

(ख) अतदाकार स्थापनानिक्षेप—किसी वस्तु की उसके आकार-आकृति आदि से साम्य के बिना भी किसी अन्य वस्तु में स्थापना अतदाकार स्थापना कह

जाती है। जब बन्दूक के घटके को घोड़ा कहा जाता है जबकि घोड़े के आकार आकृति से उसका कोई साम्य नहीं है। इसे असद्भाव स्थापना भी कहा जाता है।

द्रव्यनिक्षेप

प्रयुक्त नाम से जिन विशेषताओं का आभास होता है उस नामधारी व्यक्ति या वस्तु में वे विशेषताएँ वर्तमान में तो नहीं हैं किन्तु या तो भूत में वे विशेषताएँ रही अथवा भविष्य में उनकी आशा है, तो वहाँ द्रव्यनिक्षेप माना जाता है। उदाहरण के लिए लम्बे समय तक किसी भवन में कचहरी लगती रही अब नहीं लगती, फिर भी उस भवन को कचहरी के नाम से ही जाना जाता हो तो वहाँ द्रव्यनिक्षेप है। इसी प्रकार अब मुख्तार के पद पर न रहने वाला व्यक्ति भी मुख्तार कहा जा सकता है या साफे के काम में आने वाला वस्त्र जब घास के गट्ठर को बाँधने में बंधने का काम कर रहा हो तब भी साफा ही कहलाता है।

वर्तमान में किसी वस्तु में जो गुण नहीं है, किन्तु भविष्य में उसके जो गुण रहने वाले होते हैं उनके आधार पर भी नामकरण हो जाता है। जैसे साफे के रूप में जो वस्त्र अब तक प्रयुक्त नहीं हुआ किन्तु उसका उपयोग उसी रूप में होना है—वह भी साफा ही कहलाता है। पाठशाला के लिए निर्माणाधीन भवन को पाठशाला के नाम से ही परिचित कराया जाता है यद्यपि अभी तक वहाँ कभी पाठशाला चली नहीं। हाँ भविष्य में अवश्य ही चलने की संभावना है।

द्रव्यनिक्षेप के दो भेद किये जाते हैं—

(i) आगम द्रव्यनिक्षेप

(ii) नो-आगम द्रव्यनिक्षेप

आगम द्रव्यनिक्षेप में उपयोग रूप आगम ज्ञान नहीं होता अपितु लब्धिरूप होता है। इसके विपरीत नोआगम द्रव्यनिक्षेप में दोनों ही प्रकार का ज्ञान नहीं होता। आगम ज्ञान का कारणभूत शरीर मात्र होता है। नो-आगम द्रव्यनिक्षेप भी ३ प्रकार का होता है—ज्ञ शरीर भव्य शरीर और तद्व्यतिरिक्त। जिस शरीर में रहकर आत्मा जानता था कि वह ज्ञ शरीर है। किसी विद्वान के भूत-पार्थिव शरीर को देखकर यह कहा जाय कि यह ज्ञानी था—तो यह ज्ञ शरीर नो आगम द्रव्यनिक्षेप कहलायेगा। जिस शरीर को देखकर उसके भावी गुणों को जाना जा सके वह भव्य नो-आगम द्रव्य निक्षेप है। जैसे बालक को देखकर यह कहा जाय कि यह आगे चलकर विद्वान बनेगा। तृतीय प्रकार में शरीर नहीं अपितु शारीरिक क्रियाओं का आधार ग्रहण किया जाता है। विभिन्न आंगिक चेष्टाएँ इसी के अन्तर्गत आती हैं। इस नो आगम तद्व्यतिरिक्त द्रव्यनिक्षेप में आगम ज्ञान का अभाव होता है। केवल क्रिया की अपेक्षा से ही यह द्रव्य कहा जाता है। यह भी ३ प्रकार का होता है—लौकिक कुप्रावचनिक और लोकोत्तर।

...लौकिक प्रचलित मान्यतानुसार श्वेत वृषभ ग्रहण कर लिया जाता है अं
भीलन मंगल है। इसी प्रकार कुप्रावचनिक मान्यतानुसार गणादि को मंगलकारी
माना जाता है और लोकोत्तर मान्यतानुसार धर्मादि को मंगलकारी माना जाता है।

भावनिक्षेप

शब्द के द्वारा वस्तु के वर्तमान पर्याय का ग्रहण होता हो भावनिक्षेप है। भाव
निक्षेप के भी दो भेद हैं—आगम और नो आगम। आगम भावनिक्षेप के अन्तर्गत
वस्तु के लिए जो नाम है वह उसके वर्तमान गुण के उपयुक्त होता है जैसे—अध्या
पन कार्यरत व्यक्ति को अध्यापक कहा जाय। अध्यापक की क्रियाएँ नो आगम भाव
निक्षेप हैं। द्रव्यनिक्षेप की ही भाँति नो आगम भावनिक्षेप भी दो ही प्रकार के होते
हैं—लौकिक कुप्रावचनिक और लोकोत्तर। दोनों में अन्तर केवल यही है कि द्रव्यनिक्षेप
में नो का आशय आगम के सर्वथा अभाव से है जबकि भावनिक्षेप में यह अभाव
मात्र एकदेशीय होता है।

निक्षेप इस प्रकार अर्थ गरिमा की पूर्ण गहराई तक पहुँचने की समर्थता
प्रदान करता है। यह भी उल्लेखनीय है कि सभी वस्तुओं पर निक्षेप को प्रभावी रूप
में घटित किया जा सकता है। निक्षेप संख्या अवश्य ही प्रत्येक वस्तु के लिए भिन्न
भिन्न हो सकती है तथापि उपर्युक्त चार पर्याय तो सभी के लिए प्रभावी होते ही
हैं। प्रत्येक वस्तु का नाम भी होता है वह स्थापनामय द्रव्यतायुक्त और भावात्मकता
युक्त भी होती है। वस्तुतः किसी वस्तु के ये अविभाज्य अंग होते हैं। वस्तु की संज्ञा
नामनिक्षेप है उसकी आकृति आदि स्थापनानिक्षेप होती है उसका मूल द्रव्यनिक्षेप
और वर्तमान स्थिति भावनिक्षेप होती है। □□

सप्तभंगी

अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद जैनदर्शन का प्राण है। अनेकान्तवाद ने जैन दर्शन को सभी पूर्वाग्रहों दुराग्रहों से मुक्त करके उसे ऐसा नवीन स्वरूप दे दिया है कि प्रत्येक प्रहार अप्रभावी रह जाता है और उसके अस्तित्व को कोई आँच नहीं आती। जो नमनीय होता है—टूटता नहीं। जैनधर्म की अजस्रता के रहस्यों में अनेकान्त दृष्टि का भी महत्वपूर्ण स्थान है। जैन-परम्परा वस्तु के एकांग दर्शन तक सीमित रह जाने की संकीर्णता को विकसित नहीं करती। वस्तुतः एक वस्तु के अनेक स्वभाव अनेक गुण संभव हैं। इनमें से किसी एक गुण के लिए स्वीकारोक्ति करना और शेष सभी के लिए नकारात्मक दृष्टि से सोचना—एकांगी अथवा एकान्त दृष्टि है। जैनदर्शन इस दिशा में सक्रिय नहीं रहता है। वस्तु के एकाधिक स्वभाव ऐसे भी हो सकते हैं जो परस्पर विरोधी प्रतीत होते हों। अनेकान्त दोनों के लिए स्वीकृतिमूलक अभिव्यक्ति करता है। उसकी अभिव्यक्ति स्वरूप कुछ इस प्रकार होता है कि अमुक वस्तु ऐसी है वह वैसी भी है। इन विविध स्वरूपों को आदर देकर ही तो हम अमुक वस्तु को सर्वाङ्ग सहित समझ सकते हैं। यह भी विचारणीय है कि एकांत दृष्टि से वर्णन करने से वस्तु का मात्र आंशिक परिचय ही प्रस्तुत किया जा सकता है उसके समग्र स्वरूप को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। वस्तु के समस्त परिचय के लिए एकान्त दृष्टि से मुक्त होकर अनेकान्त दृष्टि को अपनाना नितान्त अपेक्षित है।

अनेकांत इस प्रकार वस्तु के अनेक और परस्पर विरोधी स्वरूपों को स्वीकृति देता है। इस कारण प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि अनेकान्त मिथ्यात्व को आश्रय देता है, क्योंकि एक ही वस्तु में दो विरोधी लक्षण हो नहीं सकते। यहाँ दृष्टिकोण को तनिक व्यापक बनाने की अपेक्षा है। समस्या का निराकरण स्वतः ही हो जायगा। किसी वस्तु के विषय में कोई एक मात्र निरसंग सत्य ही हो—यह आवश्यक नहीं है। अन्य सहचर सत्यों का अस्तित्व भी असंदिग्ध रूप में हो ही सकता है। केवल इस कारण कि दो गुण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं अतः उनमें से एक के प्रति निषेध अनिवार्य हो जाय—इसमें कोई औचित्य नहीं। कारण यह है कि वस्तु को देखने के भिन्न भिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं। एक दृष्टि से वस्तु का यदि एक स्वरूप दिखायी देता है तो अन्य कोण उसके अन्य स्वरूप का दर्शन भी करा सकता है—वह मिथ्या नहीं कहा जा सकता। राजभवन यदि जलाशय के तट पर

स्थित है और भवन की दूसरी ओर उद्यान फैला हुआ है तो राजभवन के लिए जलाशय और उद्यान दोनों की समीपता सत्य है। जलाशय के तट से जिसने राजभवन को देखा वह कहेगा भवन के बाहर जलाशय है। दूसरी ओर से देखने वाला कहेगा कि राजमहल के बाहर उद्यान है। दोनों के लिए अपने अपने कथन सत्य और अन्य के कथन मिथ्या प्रतीत होते हैं किन्तु मध्य तो दोनों का योग है पहले व्यक्ति की अपेक्षा से सत्य एक है तो दूसरे की अपेक्षा से वही मिथ्या लगने लगता है। दोनों की अपेक्षा से देखकर निष्पक्षतापूर्वक समग्र को समझने का प्रयत्न करने वाले को दोनों के प्रति स्वीकृति का भाव रखना होगा। यही समन्वय चेष्टा अनेकान्त का मूल है। एकान्तवाद हमें सीमित और संकीर्ण बनाता है—अन्य पक्ष के प्रति वह हममें दुराग्रहपूर्वक अस्वीकृति का भाव उत्पन्न करता है। अनेकान्तवाद हमारे दृष्टिकोण को व्यापक बनाता है अन्यजन के प्रति उदारता और आदर का भाव जगाता है। वह हमारे लिए वस्तु को उसकी समग्रता में समझने का मार्ग खोलता है। अनेकान्तता जहाँ समन्वय सामंजस्य की चेष्टा है वहाँ एकान्त दृष्टि मनुष्य को अपने मत पर दृढ़ बनाते हुए विरोधाभासी मत का कट्टर विरोधी बना देता है। इससे उत्पन्न संकीर्णता तथा दुराग्रह व्यक्ति को असहिष्णु भी बना देता है। यही कारण है कि धर्मादि के विभिन्न मत मतान्तरों में कलह दिखायी देता है। एक मतानुयायी अपने को सन्मार्गी और अन्य मतावलम्बी को दिग्भ्रान्त पथ भ्रष्ट और यहाँ तक कि अंधविश्वासी मानने लगता है। इस कलह का मूल एकान्तवाद ही है। व्यक्ति अन्य किसी दृष्टिकोण को स्वीकार करने को तत्पर ही नहीं होता।

वस्तुतः किसी वस्तु के सम्बन्ध में सत्य एकाधिक हो सकते हैं। प्रत्येक सत्य के पीछे उस वस्तु का स्वभाव होता है। वस्तु के अनेक धर्म अनेक गुण अनेक स्वभाव हो सकते हैं तो उसके अनेक सत्य क्यों नहीं हो सकते। हाँ ऐसा अवश्य ही स्वाभाविक है कि किसी एक अपेक्षा से कोई एक पक्ष सत्य है और अन्य पक्ष मिथ्या। तो यही अन्य पक्ष अन्य की अपेक्षा से सत्य भी हो सकता है। एक व्यक्ति अपने पिता का पुत्र है। इस व्यक्ति का अपना पुत्र भी है। इस दृष्टि से यह व्यक्ति पिता भी है और पुत्र भी है। पिता के लिए वह व्यक्ति पुत्र है पिता नहीं है। पुत्र के लिए वह व्यक्ति पिता है पुत्र नहीं। जब एक ही व्यक्ति को जब पिता और पुत्र दोनों ही रूपों में सम्बोधित किया जा सकता है तो इन दो बातों में विरोध ही कहाँ है कि वह व्यक्ति पिता भी है और वह व्यक्ति पुत्र भी है। जब उस व्यक्ति का पुत्र उस व्यक्ति को केवल पिता मानता है तो सत्य का अनुभव करे उसे पुत्र न माने तो यह उसका एकान्त ही भाव है। क्योंकि वह अपनी ही अपेक्षा से सोच रहा है कि वह मेरा पिता है। जब कि उसके (पिता के) अपेक्षा से सोचा जाए तो वह व्यक्ति पुत्र भी है। क्या हमारे दृष्टि स्वभाव के कारण वस्तु के किसी अन्य पक्ष पर आधारित सत्य को न मानकर विरोध मानना—औचित्यपूर्ण है? अनेकान्त इस प्रकार

विभिन्न अपेक्षाओं और दृष्टिकोणों के साथ वस्तु दर्शन का अभ्यासी रहा है। यही इसका अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद इस प्रकार विभिन्न सत्यों और मतों के सामंजस्य की एक विराट साधना है। यह एक दर्शन है, एक सिद्धान्त है। अनेकान्त दर्शन वस्तु के वैविध्य को स्वीकृति देने की प्रेरणा द्वारा हमारे मानस को व्यापक और उदार बनाता है। इस सिद्धान्त और दर्शन को जब व्यावहारिक रूप दिया जाता है, तदनुरूप आचरण किया जाता है तो स्याद्वाद आकार ग्रहण करता है। स्याद्वादी अपने दृष्टिकोण में अमुक सत्य को स्वीकार करता है और अन्यान्य अपेक्षाओं से प्रकट होने वाले सत्यों को भी ठुकराता नहीं है। इस अवमाननाहीन व्यवहार को ही स्याद्वाद कहा गया है। इस व्यवहार से सम्पन्न व्यक्ति प्रासंगिक सन्दर्भ और अपने तात्कालिक दृष्टिकोण के आधार पर वस्तु के जिस स्वभाव को सत्यरूप में स्थापित करता है, वह प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेता है—इसमें सन्देह नहीं। निश्चित ही वही उसका प्रधान ध्येय होता है, क्योंकि उस समय सन्दर्भ उसी अपेक्षा के साथ वस्तु को देखने का होता है। किन्तु अन्य अपेक्षाओं से प्रकटित सत्यों को भी—चाहे गौणरूप में ही सही—वह स्वीकार अवश्य करता है। कम से कम उन्हें वह अस्वीकार तो नहीं करता। अपनी धारणा को व्यक्त करने के लिए वह कहेगा कि "यह वस्तु का अमुक रूप है (प्रमुख) इसका स्यात् अमुक रूप भी है।

इस स्यात् का प्रयोग उल्लेखनीय है। स्यात् अपने साधारण अर्थ में 'शायद' का पर्याय है। शायद शब्द अनिश्चय का द्योतन करता है। यही ध्यातव्य यह है कि स्याद्वाद वस्तु के अनिश्चित स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं करता वह तो इस रूप में स्वीकृति देता है कि वस्तु का रूप यह भी है (अन्य अपेक्षा से)। कथंचित् के अर्थ में स्यात् का विशिष्ट प्रयोग यहाँ द्रष्टव्य है। यह स्याद्वाद ही है जिसके माध्यम से अनेकान्त दर्शन को अपनाया जाता है। अनेकान्त एक मार्ग है, स्याद्वाद उस पर यात्रा है, गतिशीलता है। एक ही वस्तु के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों के परिणामस्वरूप प्रकटित उसके अनेक स्वरूपों का समन्वित रूप ही स्याद्वाद का पक्ष है।

वस्तु के विभिन्न रूपों के समन्वित स्वरूप को स्वीकार करके अपने एकान्त दृष्टिकोण को त्यागकर अनेकान्त दृष्टि को अभिव्यक्त करने के लिए यह शैली विशेष का प्रयोग किया जाता है। इस शैली में प्रमुखत्व एवं गौणत्व के साथ विभिन्न सत्यों की स्वीकृति का प्रकाशन हो जाता है। जैनदर्शनानुसार इस शैली का विश्लेषण भी किया गया है और यह माना गया है कि ७ प्रकार से इस समन्वित दृष्टिकोण को ज्ञापित किया जा सकता है। कथन प्रक्रिया के ये ७ प्रकार ही जैन वाङ्मय में सप्तभंगी के नाम से जाने जाते हैं। स्याद्वाद के विभिन्न भंगों का विवेचन भगवतीसूत्र में उपलब्ध होता है। भगवान महावीर के सम्मुख उनके प्रमुख शिष्य गौतम ने अपनी

जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए प्रश्न किया था— भगवन्! रत्नप्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य? इस प्रश्न का भगवान ने जो उत्तर दिया वह निम्नानुसार है—

(१) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है।

(२) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा नहीं है।

(३) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् अवक्तव्य है।

इस उत्तर पर इस प्रकार टिप्पणी की जा सकती है कि—(१) आत्मा के आदेश से यह आत्मा है (२) पर के आदेश से यह आत्मा नहीं भी है और (३) उभय (दोनो) के आदेश से यह अवक्तव्य है। यही स्याद्वादी शैली है।

किसी वस्तु के समग्र परिचय के लिये उसे विभिन्न दृष्टिकोणो के साथ रखना आवश्यक होता है। ये ही इसके परिचय के विविध पक्ष बन जाते हैं और यही पक्ष ही स्याद्वाद के भग बन जाते हैं। जैन शास्त्रों में चार भगो को मौलिक और प्राचीन रूप में स्वीकारा गया है—अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति और अवक्तव्य। स्याद्वाद के अन्य भगो की रचना उपर्युक्त चार भगो में से किन्ही के सयोग से होती है। मौलिक और प्रमुख स्वरूप रखने वाले भग ये चारों ही हैं। इनके योग से आकार ग्रहण करने वाले तीन भग और हो जाते हैं और ये ही ७ भग—सप्तभगी के नाम से जाने जाते हैं।

इन ७ भगो के स्वरूप को समझना भी अपेक्षित है। घट के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष होने वाले विभिन्न दृष्टिकोणो को प्रकट करके प्राय इन भगो को स्पष्ट किया जाता है। सुविधा के लिये उसी उदाहरण का आश्रय लिया जा सकता है। घट के अस्तित्व सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणो के आधार पर निम्नलिखित भग बन सकते हैं—

(१) कथचित् घट है।

(२) कथचित् घट नही है।

(३) कथचित् घट है और नही है।

(४) कथचित् घट अवक्तव्य है।

(५) कथचित् घट है और अवक्तव्य है।

(६) कथचित् घट नही है और अवक्तव्य है।

(७) कथचित् घट है, नही है और अवक्तव्य है।

उपर्युक्त भगो के स्वरूप की विवेचना निम्नानुसार की जा सकती है—

(१) प्रथम भग में घट के अस्तित्व की स्वीकृति है कि घट का अस्तित्व है। यहाँ अस्तित्व की विधि (होना) का प्रतिपादन है।

(२) दूसरे भग में अस्तित्व का प्रतिषेध प्रतिपादित किया गया है। अस्तित्व का निषेध किया गया है कि घट का अस्तित्व नही है। अर्थात्—प्रथम भग में जिस अस्तित्व का प्रतिपादन था दूसरे भग में उसी विधि के निषेध की कल्पना है।

अध्याय १८

ज्ञानवाद

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा और ज्ञान में अविच्छेद्य सम्बन्ध है। आत्मा का स्वरूप ही ज्ञानमय है। ज्ञान और आत्मा एकाकार हैं। आत्मा द्वारा ज्ञान को धारण करने जैसी स्थिति नहीं होती क्योंकि ऐसी स्थिति में तो ज्ञान को बाह्य वस्तु स्वीकार करना होगा। ज्ञान तो आत्मा का अंतरंग तत्त्व है। इस दृष्टि से जैन वाङ्मय में एक कथन बहुप्रचलित हो गया है कि दण्ड और दण्डी (दण्डधारी) जैसा सम्बन्ध ज्ञान और आत्मा का नहीं हुआ करता। न्याय वैशेषिक दर्शन में आत्मा के लिए ज्ञान को आगन्तुक रूप में माना गया है जबकि जैनधर्म में ज्ञान आत्मा का मौलिक धर्म माना जाता है। आत्मा के अन्यान्य गुण धर्मों की अपेक्षा ज्ञान का सर्वोपरि प्राधान्य स्वीकृत होने के ही कारण ऐसी भी स्थिति रहती है कि ज्ञान और आत्मा परस्पर पर्याय रूप में भी व्याहृत होते रहते हैं। व्यवहारनय से तो आत्मा और ज्ञान में भेद है किन्तु निश्चयनय से ये दोनों अभेद स्थिति को प्राप्त हैं—जो ज्ञान है वह आत्मा है और जो आत्मा है वही ज्ञान है। इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द का साक्ष्य भी समयसार में उपलब्ध होता है। किंतु यहाँ यह भी विचारणीय प्रसंग बन जाता है कि ज्ञान तो आत्मा का एक ही गुण है इसके अतिरिक्त भी उसके अनेक गुण होते हैं—फिर आत्मा को केवल ज्ञान रूप में ही कैसे वर्णित किया जा सकता है? समाधानस्वरूप यही यह कहा जा सकता है कि आत्मा के उन अन्य गुणों को ज्ञान के अन्तर्गत ही निहित मान लिया गया है। व्यवहारदृष्टि से आत्मज्ञान में केवली को सर्वज्ञ कहा गया है—यही मान्यता रही है कि केवलज्ञान से सम्पन्न जो हो जाता है उसका समस्त द्रव्यों से परिचय स्थापित हो जाता है। वस्तुतः वह आत्मा को उसके समग्र रूप में जान लेता है। केवली आत्मा को पहचान जाता है—वह ज्ञान से परिचित हो जाता है—जब यह कहा जाता है तो इसका स्पष्ट आशय यही है कि आत्मा एवं ज्ञान दोनों परस्पर पर्यायवाची हो गए हैं। यहाँ यह भी विचार का तथ्य है कि ज्ञान का नाश नहीं माना जाता है। इस उक्ति में किसी असम्भाविकता का अनुभव नहीं किया जाना चाहिए। दीपक सर्वत्र प्रकाश व्याप्त कर देता है—अनेक वस्तुओं को दर्शनीय (दर्शन योग्य) बना देता है किंतु आप ही प्रकाश से दीपक भी दर्शनीय (दर्शन योग्य) बन जाता है। ज्ञान को समझकर ही इसी माध्यम से आत्मा को समझा जा सकता है। जैन धर्म की यह दृढ़ मान्यता एवं अनुभूत तथ्य है।

जैन धर्म ने ज्ञान का स्वरूप निर्धारण प्रायः भगवान महावीर स्वामी के दृष्टिकोण के अनुरूप ही किया है। ही यह भी तथ्य है कि आगमों में भी ज्ञान का

(३) तीसरी भूमिका
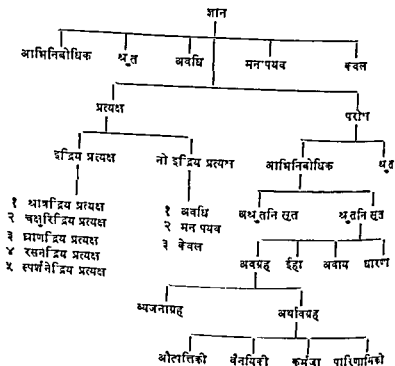
प्रस्तुत भूमिकाओं में ज्ञान की विभिन्न शाखा प्रशाखाओं अथवा भेदोपभेदों का स्पष्ट चित्रण हो गया है। पहली भूमिका प्राचीन वर्गीकरण से सम्बद्ध है जो स्वयं में बड़ा सरल है। दूसरी भूमिका में दार्शनिक आधार दिखायी देता है। यह प्रथम भूमिका के अनन्तर का वर्गीकरण है। जैनधर्म की विशिष्टताएँ इस भूमिका में झलकती हैं यथा—आत्म प्रत्यक्ष को ही इसमें वास्तविक प्रत्यक्ष माना गया है जबकि अन्यान्य दर्शनों में इन्द्रियज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना जाता है। इसी प्रकार केवलज्ञान को चरम स्थान दिया गया है। जैनधर्मानुसार कैवल्य मानव जीवन के साफल्य का पवित्र द्वार है।

यहाँ ज्ञान के विभिन्न भेदोपभेदों का संक्षिप्त और सामान्य परिचय भी प्रासंगिक होगा। इन विभिन्न प्रकारों के माध्यम से ज्ञान के समग्र स्वरूप को हृदयंगम करने में सुविधा का अनुभव किया जायगा। ज्ञान के भेदोपभेदों के विषय में संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार प्रस्तुत किया जा सकता है—

सर्वप्रथम आभिनिबोधिक ज्ञान की चर्चा है—यही मतिज्ञान है। अन्यान्य नामधारी

शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं यथा—स्मृति मना चिन्ता आदि। इसके अतिरिक्त कतिपय दार्शनिकों ने मतिज्ञान के लिए ईहा अपोह, विमर्श मार्गणा गवेषणा प्रज्ञा आदि शब्दों का व्यवहार भी किया है। आचार्य भद्रबाहु ने भी लगभग इन शब्दों को परस्पर पर्याय ही माना है। मतिज्ञान क्या है? वास्तव में इन्द्रिय एवं मन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही मतिज्ञान है। तदनुसार इन्द्रियजन्य और मनोजन्य—मतिज्ञान के ये दो भेद तो अतिस्वाभाविक हैं। सिद्धसेन गणि इसके साथ-साथ तृतीय भेद—इन्द्रियानिन्द्रियजन्य को भी मानते हैं। जो ज्ञान केवल इन्द्रियों की उपज है, वह इन्द्रियजन्य, जो केवल मन की उपज है—वह मनोजन्य और जिसके लिए इन्द्रिय एवं मन दोनों का संयुक्त प्रयत्न अपेक्षित है—वह इन्द्रियानिन्द्रियजन्य ज्ञान कहलाता है। अन्य दार्शनिकों ने—जिनमें अकलंक का प्रमुख स्थान है—सम्यक्-ज्ञान कहकर इसके दो भेद किये हैं—(१) मुख्य (२) साव्यावहारिक। मुख्य को ही इस भेद व्यवस्था के अन्तर्गत अतीन्द्रिय या प्रत्यक्ष ज्ञान भी कहा गया है और साव्यावहारिक को इन्द्रियानिन्द्रिय प्रत्यक्ष माना गया है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के ४ भेद मिलते हैं—अवग्रह ईहा अवाय और धारणा। इसी प्रकार अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के भी मना स्मृति चिन्ता और अभिनिबोध—ये ४ भेद कर दिये गये हैं। परोक्ष के अन्तर्गत आने वाले भेद हैं—श्रुत, अर्थापत्ति अनुमान उपमान आदि। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के ४ भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विभिन्न दृष्टिकोणों का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपयुक्त ४ भेदों को मतिज्ञान में सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है। इन्हें समझना भी अप्रासंगिक नहीं होगा किन्तु इनकी समझ के पूर्व इन्द्रिय और मन के विषय में स्पष्टता प्राप्त कर लेना भी समीचीन और अपेक्षित है।

इन्द्रिय और मन

'पंचेन्द्रिय' शब्द इस आशय का द्योतक है कि इन्द्रियों की सख्या ५ है—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र। ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। सांख्यादि दर्शनों में अन्य कर्मेन्द्रियों की भी चर्चा है किन्तु विषय की दृष्टि से वह विवेचन प्रासंगिक नहीं होगा। इन ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोजन मन द्वारा ज्ञान प्राप्ति में माध्यम बनना है। कर्मावरण की बाधा के कारण प्रत्यक्षरूप में मन द्वारा ज्ञान-लाभ नहीं हो पाता। इन्द्रियाँ मन की सहायता करती हैं। इन इन्द्रियों के ज्ञान विषय निम्नानुसार हैं—

इन्द्रिय	विषय
स्पर्शनेन्द्रिय	स्पर्श
रसनेन्द्रिय	रस (स्वाद)
घ्राणेन्द्रिय	गंध
चक्षुरिन्द्रिय	वर्ण (रूप)
श्रोत्रेन्द्रिय	शब्द

देता। इसके विपरीत अनक प्राणी ऐसे होते हैं, जो अधकार म हो न्ख पाते हैं। कुछ के लिये अधकार अथवा प्रकाश दोनो ही बाधक नही ठहरत। एसी स्थिति म प्रकाश को ज्ञान की उत्पत्ति हेतु अनिवार्य तत्त्व नही कहा जा सकता, इसी प्रकार ज्ञानोत्पत्ति के पक्ष म पदार्थ या अर्थ को आनवायता प्रतीत होती है, किन्तु उसक अभाव म भी यह सभव होता है। स्वप्न की अनुभूति क लिये अथ की अपक्षा न्ही रहती। मृग मरीचिका म भी यही स्थिति रहती है। भूत और भविष्य का नान प्राप्त करने म भी अर्थ की उपस्थिति नही रहती। वस्तुत अथ की अनिवाय अपक्षा को सिद्धान्तरूप म स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अवग्रह

इन्द्रिय का अर्थ (विषय-पदार्थ) क साथ सम्बध स्थापित हो जान पर जो सामान्य रूप से नान होता है—वही अवग्रह है। यह नामादि विशेष नान से रहित होता है। किसी निश्चित पदार्थ का नान होन को स्थिति अवग्रह नहा होती। इन्द्रिय और अर्थ का सम्बध दशन है और दशनान्तर उत्पन्न नान अवग्रह है। अवग्रह—ग्रह, ग्रहण उपधारणता, श्रवणता अवलम्बनता मेधा आदि विभिन्न शब्दो स भी जाना जाता है। अवग्रह क भेदो पर विचार करने से नात होता है कि यह दो प्रकार का होता है। उपयु क्त लक्षणात्मक विवचन कि इन्द्रिय और अथ का सयोग वास्तव म अवग्रह का पहला भेद अर्थावग्रह है। दूसरा भेद है—व्यजनावग्रह और यह अर्थाव ग्रह स पूव की स्थिति है। इस पूर्वाभास कहा जा सकता है जो इन्द्रिय और अथ क सम्पर्क स भी पूव प्राप्त हो जाता है। इससे अथ क अस्तित्व मात्र का आभास होने लगता है।

ईहा

नान का प्रथम सोपान अवग्रह है तो द्वितीय सोपान है—ईहा। अवग्रह तो अर्थ का एक मोटा और सामान्य नान देता है और तब उस वस्तु के विशिष्ट स्वरूप जानने की अभिलाषा होती है—यही ईहा है। अयोगणता मार्गणता गवषणता चिन्ता विमश ऊह, तर्क परीक्षा, विचारणा जिनासादि शब्द ईहा क स्थान पर प्रयुक्त होते हैं। दूर स किसी शब्द क सुनायी देने पर यह श्रवण अवग्रह उत्पन्न करता है। फिर जिज्ञासा जागती है कि यह स्वर किसका है। यह ईहा की ही स्थिति है। वह निश्चय करने का प्रयत्न करता है कि कौन बोल रहा है? स्त्री का स्वर है या पुरुष का। दोनो के स्वरो क सामान्य लक्षणो स हम इस स्वर का भिनान करते हैं और किसी निश्चय की ओर बढ़ने लगते हैं। सन्देह या सशय की स्थिति स यह अवस्था भिन्न होती है। सन्देह म तो दोनो अनुमान सादृश्य रखते हैं और दोनो की सभावना समतुल्य रहती है। ईहा म एक अनुमान उत्तरोत्तर दृढ होता चलता है और दूसरा दुबलतर। सकारण और तर्क सहित हम किसी निश्चय पर पहुँचने लगते हैं कि यह स्वर तो इस प्रकार का है अवश्य ही यह अमुक व्यक्ति का होगा। यह ईहा है जो कम स कम सशय का उन्मूलन अवश्य ही कर देता है।

अवाय

ईहित अर्थ के विषय में विशिष्ट निर्णय अवाय कहलाता है। ईहा में यह सम्भावना बलवती हो जाती है कि यह स्वर किसी स्त्री का होना चाहिये और अवाय की स्थिति तब आती है जब यह निश्चय हो जाता है कि स्वर स्त्री का ही है। अर्थ के वास्तविक गुणों का निश्चित ज्ञान हो जाता है और अवास्तविक गुण छूटकर अलग हो जाते हैं। इस प्रकार अवाय में सम्यक् का स्थिरीकरण और असम्यक् का निराकरण हो जाता है।

धारणा

अवाय के अनन्तर आगामी चरण धारणा का है। इस अवस्था तक पहुँचकर ज्ञान इतना दृढ़ हो जाता है कि वह स्मृति का कारण बन जाता है। अतः धारणा को स्मृति का हेतु भी कहा गया है। ज्ञान की अविच्युति को जिनभद्र ने धारणा कहा है। अर्थात् वह ज्ञान धारणा है, जो शीघ्र ही तिरोहित न होकर स्मृति के लिए हेतु बन जाता है। धारणा तीन प्रकार से प्रकट होती है—(१) अविच्युति—अर्थात् अर्थ के ज्ञान का विनाश न होना (२) वासना—संस्कार का निर्माण होना, (३) अनुस्मरण—अर्थात् भविष्य में भी उसकी स्मृति का जाग्रत होते रहना।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि कतिपय चिन्तकों ने धारणा का स्वरूप यही माना है कि अवाय द्वारा स्थिर ज्ञान दृढ़ हो जाता है और कुछ काल तक अमिट बना रहता है। संस्कार का रूप बनने पर तो ज्ञान आत्मा का स्थायी अंग बन जाता है अतः यह अवस्था धारणा की अंग नहीं बन सकती अन्यथा ज्ञान की आगामी विकास यात्रा यहीं स्थगित हो जायगी।

श्रुतज्ञान

शब्द स्वयं संकेत करता है कि यह ज्ञान श्रुत अर्थात् शास्त्रों में संचित और सुरक्षित है। शास्त्र तो वचनयुक्त स्वरूप के धारक होते हैं। वचन श्रवण इस ज्ञानोत्पत्ति के मूल में रहता है। शब्द जब सुना जाता है तो यही श्रवण शब्द के अर्थ की स्मृति को जाग्रत कर देता है। शब्द श्रवण की क्रिया मतिज्ञान है और इसी कारण श्रुतज्ञान का मतिपूर्वक होना माना जाता है। श्रुतज्ञान के दो प्रकार माने जाते हैं—

(१) अंगबाह्य एवं
(२) अंगप्रविष्ट

तीर्थंकरों द्वारा प्राप्त ज्ञान अंगप्रविष्ट कहलाता है। इसे ही गणधर सूत्रबद्ध कर संचित कर लेते हैं। श्रुतज्ञान का यही मौलिक स्वरूप होता है। जब तत्पश्चात् समय-समय पर अन्य आचार्यों एवं अंगप्रविष्ट ज्ञान के विभिन्न पक्षों पर टीका व्याख्यादि के साथ अन्य ग्रन्थ रचते हैं तो यह अंगबाह्य ज्ञान कहलाता है। अंग

स्थान परिवर्तन पर भी जो अवधिज्ञान नष्ट न हो, अपितु ज्ञाता के साथ जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाता हो वह अनुगामी है। इसके विपरीत ज्ञान के उत्पत्ति स्थल का त्यागने पर जो अवधिज्ञान नष्ट हो जाता है उसे अननुगामी कहा जाता है। उत्पत्ति के पश्चात् उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करने वाले अवधिज्ञान को वर्धमान कहा जाता है। काल प्रवाह के साथ-साथ अशुद्धि वृद्धि के कारण ह्रास को प्राप्त होने वाले अवधिज्ञान को हीयमान माना जाता है। अपने उद्भव की स्थिति को यथावत बनाये रखने वाला अवधिज्ञान अवस्थित कहलाता है। केवलज्ञान की प्राप्ति पर यह अवधिज्ञान नष्ट होता है या इसके पूर्व मरण हो जाय तो नष्ट हो जाता है। अनवस्थित ज्ञान वह है जो एक स्थिति में नहीं रहता, अपितु कभी वह बढ़ता है कभी घट जाता है कभी उत्पादित होता है तो कभी प्रच्छन्न हो जाता है।

अवधिज्ञान का चरम क्षेत्र इस लोक का समस्त विस्तार है। लोक बाह्य कोई भी पदार्थ अवधिज्ञान का विषय नहीं बन सकता।

मन पर्यवज्ञान

आवश्यकनियुक्ति में कथन है कि मनुष्य के मन के चिन्तित अर्थ को प्रकट करने वाले ज्ञान को मनःपर्यव ज्ञान कहा जाता है। यह मनुष्य-क्षेत्र तक सीमित होता है और गुण के कारण उत्पन्न होता है चारित्रवान व्यक्ति ही इसका अधिकारी हो सकता है। जब कोई व्यक्ति किसी बात पर चिन्तन करता है तो विविध पर्यायों में उसका मन परिवर्तित होता रहता है और मन पर्यवज्ञानी उस व्यक्ति के मन के उन पर्यायों का साक्षात् दर्शन कर सकता है और इस आधार पर वह अक्षरशः यह प्रकट कर सकता है कि इस समय वह व्यक्ति क्या सोच रहा है। अनुमान से कथन करना मन पर्यवज्ञान नहीं है। मन के परिणमन का आत्मा से साक्षात्कार करके मनुष्य के चिन्तित अर्थ को जान लेना ही मन पर्यवज्ञान है। मन पर्यवज्ञान आत्मा के द्वारा होता है मन के द्वारा नहीं। मन ज्ञेय और आत्मा ज्ञाता बना रहता है।

ऋजुमति और विपुलमति—मन पर्यवज्ञान के ये दो भेद किये जाते हैं। इन दोनों भेदों में जो सूक्ष्म अन्तर है—उसे समझने से इनका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति अधिक विशुद्ध है। मन के गहन स्तरों में उतर कर सूक्ष्मतर परिणामों को ज्ञात करने में विपुलमति अधिक समर्थ होता है। साथ ही ऋजुमति नश्वर होता है आता और चला जाता है और इसके विपरीत विपुलमति ऐसा मन पर्यवज्ञान है जो कभी नष्ट नहीं होता—सदा-सदा ही बना रहता है। मन पर्यवज्ञान की प्रक्रिया के विषय में दो मान्यताएँ प्रचलित हैं। एक मान्यता के अधीन यह स्वीकार किया जाता है कि मन पर्यवज्ञानी अन्य द्वारा चिंतित अर्थ का सीधे प्रत्यक्ष कर लेता है। दूसरी मान्यता में वह अन्य मन की अवस्थाओं का प्रत्यक्ष करता है और उस आधार पर वह परिणामरूप अर्थ का अनुमान लगाता है। इसमें

अर्थ से उसका सीधा प्रत्यक्ष नहीं स्वीकारा जाता है। प्रथम मान्यता में अर्थ के लिए *मन का माध्यम नहीं माना जाता। अपेक्षाकृत दूसरी परम्परा अधिक युक्ति-युक्त एवं* सगत प्रतीत होती है। मनःपर्ययज्ञानी के प्रत्यक्षीकरण का विषय तो मन ही है अर्थ नहीं। अर्थ तो उस प्रत्यक्ष का निष्कर्ष मात्र है, परिणाम है।

केवलज्ञान

'केवलज्ञान' शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः यह ज्ञान की शुद्धतम अवस्था है। मन पर्याय केवल्य ग्रहण में बाधकस्वरूप चार कर्म रहा करते हैं। वे हैं—मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय। इन चारों कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से ही कैवल्य प्राप्ति सम्भव है। मति, अवधि और मन पर्यय वे साधन हैं जिनके द्वारा कर्मों का क्षय सम्भव हो पाता है। वस्तुतः इन ४ आवरणों के नष्ट हो जाने से ४ विभिन्न शक्तियाँ उद्भूत होती हैं और उनमें से केवलज्ञान भी एक होता है। हाँ यह अवश्य ही स्वीकार्य है कि इन चारों उपलब्धियों में कैवल्य का स्थान सर्वोपरि और अधिकतम मूल्यवान है, महत्त्वपूर्ण है।

सभी द्रव्य और सभी पर्याय केवलज्ञान के विषय क्षेत्र में समाहित होते हैं। केवलज्ञान की पहुँच के बाहर कोई वस्तु नहीं हो सकती है। सभी द्रव्यों के वर्तमान, भूत और भविष्य के सभी पर्याय केवलज्ञान द्वारा भली भाँति जाने जा सकते हैं। आत्मा की ज्ञान शक्ति का चरम विकास ही केवलज्ञान की अवस्था है। क्षायोपशमिक ज्ञानों का अस्तित्व ही केवलज्ञान की प्राप्ति के साधनस्वरूप रहता है। कैवल्य के उद्भव पर क्षायोपशमिक ज्ञान स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। वे नगण्य हो जाते हैं और कैवल्य की पूर्णावस्था प्राप्त हो जाने पर शेष ज्ञानों की अपूर्णावस्थाओं का कोई महत्त्व भी नहीं रह जाता। यही पूर्णता 'सद्भाव' से और अपूर्णता असद्भाव से व्यक्त होती है। इस समग्रता एवं पूर्णता के कारण यह कैवल्य 'सकल प्रत्यक्ष' भी कहलाता है। विविध सोपानों पर गुजरते हुए ज्ञान विकसित होता रहता है। इस चरम विकास को वह जिस सोपान पर प्राप्त करता है वही अन्तिम सोपान है—कैवल्य है। केवलज्ञान की विषय-परिधि में सर्वद्रव्य एवं सर्वपर्याय समाहित हो जाते हैं अतः केवली सर्वज्ञ कहलाता है। अमुक पदार्थों तक ही उसकी ज्ञान-सीमा मर्यादित नहीं रहती है। उसके विराट ज्ञानक्षेत्र में सब कुछ आ जाता है। उसके बाहर कुछ भी नहीं रह जाता। यही कारण है कि केवली सर्वज्ञ है—सब कुछ का ज्ञाता है। उसका ज्ञान न केवल वर्तमान तक सीमित रहता है, उसकी व्याप्ति भूत और भविष्य में भी यथावत बनी रहती है। ऐसे सर्वज्ञ केवली को सीधे आत्मा से अमुक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इन्द्रिय माध्यम उसके लिये नहीं बने हैं। साधारण ज्ञाताओं के लिए इन्द्रियाँ ही साधन होते हैं। इस दिशा में सर्वज्ञ की इन्द्रियाँ यथावत् रहते हुए भी लगभग व्यर्थ होती हैं, उनके आधार या सहायता की अपेक्षा केवली को कदापि नहीं रहती।

जैनदर्शन की मान्यता है कि सभी पदार्थ लोकसापेक्ष हैं और लोक कितना ही व्यापक क्यों न हो किन्तु क्षेत्र की निश्चितता के अनुसार वह ससीम है। लोक के पदार्थ भी क्षेत्र की दृष्टि से सीमित ही हो सकते हैं। लोकाकाश के बाहर किसी पदार्थ का अस्तित्व जैनदर्शन की कल्पना का विषय भी नहीं बन पाता। अलोकाकाश असीम है किन्तु लोकाकाश के लिये तथ्य इस प्रकार का नहीं। लोक अनन्त नहीं अस्तु उसका ज्ञान भी ससीम है सुनिश्चित है। उसे समग्रतः जान लेना असम्भव भी नहीं है। यही सर्वज्ञता का आशय है जो केवली की प्रमुख विशेषता होती है।

सर्वज्ञ भूत भविष्य और वर्तमान—त्रिकाल ज्ञान से सम्पन्न होता है। यहाँ एक प्रश्न उठना भी अस्वाभाविक ही है कि वर्तमान तो निश्चित एवं ससीम है, किन्तु भूत और भविष्य अनिश्चित है। इधर भूत अनादि है, उधर भविष्य अनन्त है। भूत के ऐसे पर्याय भी हो सकते हैं, जो कभी रहे होंगे किन्तु अब वे नहीं हैं। इसी प्रकार अनेक पर्याय ऐसे हैं जो अभी नहीं हैं किन्तु वे भविष्य में उत्पन्न होंगे। फिर विद्यमान पर्याय मात्र का ज्ञाता सर्वज्ञ कैसे कहला सकता है। भूत की अनादिता और भविष्य की अनन्तता की बाधा साधारण जनों के लिये रहती है, सर्वज्ञ केवली के लिए यह बाधा नहीं रहती। इसके पीछे भी एक स्पष्ट कारण है। साधारण जन मन और इन्द्रिय के माध्यम से ही ज्ञान लाभ करते हैं जबकि सर्वज्ञ इनकी सहायता ग्रहण नहीं करता। वह तो सब कुछ आत्मा से ही ज्ञात करता है और आत्मा के लिए ऐसी कोई सीमाएँ नहीं रहतीं।

क्या मात्र आत्मा के माध्यम से ही सर्वज्ञ को सब [illegible] के विषय में सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है? इस निमित्त बाह्य साधन सुविधाओं की अपेक्षा नहीं रहती। किसी भी वस्तु के भौतिक परिचय के लिए उसके नाप-तोल का ज्ञान भी आवश्यक हो जाता है। क्या इन हेतु [illegible] उपकरणादि की सहायता के अभाव में भी सर्वज्ञ सब कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है? आत्मा तो इन साधनों का [illegible] हाँ साधारणजन भी बिना इन उपकरणों की सहायता के [illegible] अनुमान [illegible] भार आदि के विषय में [illegible] है और [illegible] नहीं भी। अनुमान को सर्वथा [illegible] नहीं माना जा [illegible] इन बाह्य उपकरणों [illegible] ज्ञान [illegible] में प्रयुक्त होता है और [illegible] साधारण जन [illegible]

प्रमाणवाद

जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो—उसका नाम प्रमाण है।[1] प्रमा का साधकतम करण जो है—वह प्रमाण है। कतिपय अन्य दर्शनों में प्रमा के मूल में इन्द्रिय का महत्त्व स्वीकृत है, किन्तु इसके विपरीत जनदर्शन में ज्ञान ही प्रमा में साधकतम माना जाता है। इस मान्यता के पीछे इस प्रकार का तर्क सक्रिय रहता है कि जानना अथवा प्रमा क्रिया चेतन है अतः उसका साधकतम भी उसी का गुण—ज्ञान हो सकता है। इसका स्थान इन्द्रिय या सन्निकर्षादि नहीं हो सकते क्योंकि वे अचेतन हैं। सन्निकर्षादि की उपस्थिति में भी ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती और सन्निकर्षादि के अभाव में भी ज्ञानोत्पत्ति सम्भव होती है। अपने स्वरूप को समझते हुए पर-पदार्थ को समझना या जानना—ज्ञान का यह सहज धर्म है। ज्ञान का स्वपरिचय तो आवश्यकीय और असंदिग्ध ही रहता है। ज्ञाता अपने ज्ञान से कभी अपरिचित नहीं रहता। ज्ञान मन से बाहर अन्यत्र कहीं उद्भूत और विकसित होता हो और तदनन्तर मन द्वारा वह आगन्तुक पदार्थ की भाँति ग्रहण कर लिया जाता हो—ऐसा कदापि नहीं। मन के भीतर ही ज्ञान का उद्भव होता है, वहीं उसका विकास मिलता है। अतः मन का ज्ञान से अनभिज्ञ रहना सम्भव ही नहीं है। ज्ञान अपने को भी ठीक उसी प्रकार प्रकाशित करता है जैसे प्रज्वलित दीप अपने रूप को भी प्रकट करता है। वह अन्यान्य पदार्थों को भी दृश्यमान कर देता है—वैसे ही ज्ञान भी पर-पदार्थों को जानने योग्य बना देता है। स्वरूप की दृष्टि से सभी ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाणता का विभाग बाह्य पदार्थों की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति से सम्बन्ध रखता है।

प्रमाण और नय

प्रमाण समूची वस्तु के अखण्ड स्वरूप का ग्रहण करता है। हाँ यह सम्भव है कि प्रमाण द्वारा किसी पदार्थ के एक ही गुण को जाना जा रहा हो किन्तु उस एक गुण के आधार पर समग्र वस्तु को जान लिया जाता है। सकल वस्तु का ग्रहणकर्ता होने के ही कारण उस (प्रमाण को) सकलादेशी कहा जाता है। कभी हम रूप के द्वारा पदार्थ को उसकी सम्पूर्णता में जान लेते हैं तो वहाँ रूप का अर्थ चक्षुरिन्द्रिय का

---

१ प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्

रहती है। इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान को ही एकमेव ज्ञान मानने से जैनदर्शन कभी सह नहीं हुआ। वह ऐसे ज्ञान को अपूर्ण मानता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के साथ-साथ अनुमानादि का आश्रय लिए बिना निष्कर्ष तक नहीं पहुँचा जा सकता। किसी का मुस्कराना, हँसना आदि देखकर अनुमान के सहारे हम उस व्यक्ति के आनन्दित मनःस्थिति का ज्ञान कर पाते हैं। हमने आँख से मुस्कान देखी, कान से हँसी का स्वर सुना किन्तु मात्र इसी से आनन्दावस्था का ज्ञान नहीं हुआ। निष्कर्ष हेतु अनुमान भी निश्चित करना पड़ा। जैनदर्शन इस प्रकार अनुमानादि परोक्ष को भी मान्य स्वीकार करता है।

अन्यान्य दार्शनिक व्यवस्थाएँ प्रमाण का वर्गीकरण अपने-अपने ढंग से करते हैं। वैशेषिक एवं सांख्य ३ प्रमाण मानते हैं—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम। नैयायिक इन तीन भेदों में एक और जोड़कर ४ भेद मानते हैं। उनका चौथा भेद है—उपमान। प्राभाकर इन ४ भेदों को स्वीकार करते हुए पाँचवाँ भेद और जोड़ते हैं वह है—अर्थापत्ति। इसी प्रकार भाट्ट एक और भेद जोड़कर ६ भेद मानते हैं—

(१) प्रत्यक्ष
(२) अनुमान
(३) आगम
(४) उपमान
(५) अर्थापत्ति और
(६) अभाव

यद्यपि जैनदर्शनान्तर्गत प्रमाण के दो भेदों—प्रत्यक्ष और परोक्ष को ही मुख्य रूप से स्वीकार किया गया है किन्तु इस वर्गीकरण का फलक इतना विस्तृत है कि उसमें उपर्युक्त सभी भेद-प्रभेद समाहित हो जाते हैं। प्रत्यक्ष तो मूलतः प्रमाण है ही, आगम, अनुमान और उपमान परोक्ष के भेद हैं। अर्थापत्ति अनुमान का एक रूप है और अभाव प्रत्यक्ष का ही एक अंग है। प्रत्यक्ष का निष्कर्ष भाव और अभाव—दोनों परिस्थितियों के रूप में ही होता है। वस्तु का होना भाव प्रत्यक्ष है और वस्तु का न होना अभाव प्रत्यक्ष है। प्रमाण के विभिन्न भेदों का परिचय प्राप्त कर लेना भी समीचीन ही रहेगा जो निम्नानुसार है—

प्रत्यक्ष

विशद प्रत्यक्षम् —अर्थात् प्रत्यक्ष का लक्षण वैशद्य अथवा स्पष्टता है। सन्निकर्ष अथवा कल्पनात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। वैशद्य का भाव है—जिसके प्रतिभास के लिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं हो। अन्य प्रमाणान्तर की अपेक्षा को इस कारण नकारा जाता है कि प्रत्यक्ष स्वयं ही पूर्णतः सक्षम एवं स्वतन्त्र होता है। यथार्थ तो यह है कि आगम, अनुमानादि प्रमाण स्वरूपतः अपूर्ण रहते हैं, प्रत्यक्ष का सहारा उनके लिए सर्वदा वांछित रहता है। प्रत्यक्ष पूर्ण एवं स्वाश्रित होता है, स्वाधीन होता है। इसी स्वाधीनता, पूर्णता और स्वतः पर्याप्तता के कारण प्रत्यक्ष में एक विशेष स्पष्टता का भी समावेश हो जाता है। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—

लोकोत्तर अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष तथा लौकिक अथवा साव्यावहारिक प्रत्यक्ष। पहले भेद का सम्बन्ध उस जन दृष्टि से है, जो लोकोत्तर सापेक्ष है। इस पारमार्थिक प्रत्यक्ष के पुन: दो उपभेद कर दिये जाते हैं—(१) सकल और (२) विकल। सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान है और विकलप्रत्यक्ष अवधि तथा मन:पर्यवज्ञान होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष के दूसरे भेद साव्यावहारिक—के भी चार उपभेद होते हैं—(१) अवग्रह (२) ईहा (३) अवाय और (४) धारणा। ज्ञानवाद के प्रसंग में इन भेद प्रभेदों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

परोक्ष

परोक्ष के लक्षण प्रत्यक्ष के लक्षणों से सर्वथा विपरीत होते हैं। 'अविशद' परोक्षम् —अर्थात् जो ज्ञान अविशद एवं अस्पष्ट है—वह परोक्ष है। स्पष्ट है कि परोक्ष में वशद्य एवं स्पष्टता का अभाव रहता है। परोक्ष प्रमाण के ५ उपभेद हैं—(१) स्मृति (२) प्रत्यभिज्ञान (३) तर्क (४) अनुमान (५) आगम।[1]

स्मृति

विगत अथवा अतीत के अनुभव का स्मरण ही स्मृति है। भूत में कभी कोई ज्ञान हुआ हो अनुभव हुआ हो उसकी पुनर्जागृति से उत्पन्न हुआ ज्ञान स्मृति कहलाता है। उस ज्ञान या अनुभव की वासना का ही वास्तव में जागरण होता है और यह जागरण उस और इस वस्तु के मध्य पायी जाने वाली समानता अथवा असमानता के कारण होता है। अकेला जैनदर्शन ही स्मृति को प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। स्मृति को प्रमाण रूप में अस्वीकृत करने वाले दर्शन यह कहकर इसकी अवमानना करते हैं कि स्मृति का विषय अतीत का होता है वह अविद्यमान होता है और इस कारण उसका ज्ञान वर्तमान के लिए प्रमाण नहीं हो सकता। विद्यमान आधार के अभाव में वे इस प्रमाण नहीं मानते। किन्तु जैनदर्शन वस्तु की वर्तमानता को प्रामाण्य का आधार नहीं मानता। वह तो वस्तु के यथार्थ को ही प्रमाण का आधार मानता है और अतीतकालीन होने मात्र से कोई वस्तु अयथार्थ नहीं हो जाती। त्रिकाल में से किसी भी समय का यथार्थ पदार्थ ज्ञान का विषय बन सकता है। केवल वर्तमानता को ही प्रामाण्याधार माना जाय तो अनुमान को भी प्रमाण नहीं कहा जा सकता। ज्ञान इसी आधार पर तो प्रमाण माना जाता है कि वह वस्तु के यथार्थ को उद्घाटित करता है। यह यथार्थ विद्यमान का भी हो सकता है और अतीत का भी। और इस प्रकार स्मृति को प्रमाण मानने में कोई असंगति प्रतीत नहीं होती।

स्मृति में पूर्व में ग्रहण किये हुए अनुभव या ज्ञान की पुनर्जागृति होती है। अमुक वस्तु इस प्रकार की थी वैसी ही विशेषता इस (वर्तमान) वस्तु में है—यह भी 'उस जैसी'

---

[1] स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागम भेदस्तत् पंच प्रकारम्।

प्रति व्यापक आस्था रचनाकार का विश्वसनीय व्यक्तित्व आदि आदि। प्राचीन शास्त्रों
म सकलित सामग्री क आधारभूत रूप से ३ स्रोत रहत हैं—(१) परम्परा (२)
स्वानुभव और (३) विचार अथवा कल्पना। परम्परा प्राप्त सामग्री प्राचीन काल स
लकर उस समय तक क ज्ञान का प्रतिपादन करती है। परम्परा का एसा आधार बन
जाता है कि उसम स्वानुभव सपन्न प्रयाग प्रत्यक्ष नानादि क पक्ष नहा रहत। परि
णामत इस स्रोत पर आधारित ज्ञान सत्य का कसौटी पर सदिग्ध उतरत हैं चाह
अयत हा सही इसकी पूरी आशका बना रहती है। इसक विपरीत स्वानभव की
सामग्री अपनाकृत अधिक विश्वसनीय होती है। वह सत्य क अधिक निकट होन की
अधिक सम्भावना रखती है। दुराग्रहहीन निर्दोष अनुभव प्रमाण प्रत्यक्ष आदि स भी
खरे ही सिद्ध होते हैं। राग द्वष स परे तटस्थ व्यक्ति की उक्ति म मिथ्यात्व की आशका
हा ही सकती। विचार अथवा कल्पना पर भी ग्रन्थ रचना आधारित होती ही है।
स ग्रन्थ अथवा ग्रन्थाश भी यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणा पर खरे सिद्ध होते हैं तो उनकी
प्रामाणिकता को नकारा नही जा सकता। एसी महत्ता का पात्र कोई ग्रन्थ तभी सिद्ध
हो सकता है जब उसक रचनाकार का विचार क्रम सवथा निर्दोष और राग द्वष क
परे रहा हो तटस्थता की लीक पर चलता रहा हो। किसी भी ग्रन्थ क प्रामाणिक
होन का निणय इसी कसौटी स किया जा सकता है कि उसकी सामग्री कितनी खरी है।
उसके विषय म अन्य जनो की धारणा ग्रन्थकार की ख्याति ग्रन्थ की लोकप्रियता ग्रन्थ
की प्राचीनता आदि के ही आधार पर प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता का निणय सदोष
ही सिद्ध होगा। □□

1

जेण विना लोगस्स वि
ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो
णमो अणेगतवायस्स ॥

जैनाचार : एक विवेचन

सुखकामी मनुष्य और सुख का रूप

धर्माचार का मूल मन्तव्य यथार्थ सुख की प्राप्ति है। यहाँ यह अपेक्षित है कि सच्चे सुख के स्वरूप को पहचाना जाय और दुःख के साथ उसकी आपेक्षिक स्थिति को भी समझा जाय। जैन साहित्य में इस विषय का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। दुःख के कारणों की खोज की गई है और उनका निर्मूल करने के उपाय भी सुझाये गये हैं। दुःख के समाप्त हो जाने की स्थिति सुखानुभव की प्राथमिक आवश्यकता है। जन मान्यताएँ दुःख के कारण रूप में कर्म बन्धन को स्वीकारती हैं। इस बन्धन के क्षीण हो जाने पर ही वास्तविक और उत्तम सुख उपलब्ध होता है। इस विचार के समर्थन में निम्न उक्ति उल्लेखनीय है—

> देशयामि समीचीन धर्म कर्मनिबर्हणम ।
> संसारदुःखत सत्त्वान यो धरत्युत्तमे सुखे ॥[1]

अर्थात्— मैं कर्मबन्ध का नाश करने वाले उस सत्यधर्म का कथन करता हूँ जो प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तमसुख में धरता है।

स्पष्ट है कि संसार में दुःख है। प्राणियों के अपने कर्म ही इन सांसारिक दुःखों के मूल कारण हैं और धर्म ही उन्हें दुःख-मुक्त कर उत्तमसुख की प्राप्ति करा सकता है। कौन सचेतन प्राणी सुख का परित्याग कर स्वेच्छा से दुःख का वरण करने को तत्पर हो सकता है? सभी की कामना सुख के लिए ही होती है, प्रयत्न भी इसी दिशा में किये जाते हैं। यह बात अन्य है कि वे प्रयत्न उत्तमसुख के पक्ष में होते हैं अथवा नहीं और वे प्रयत्न समुचित होते हैं अथवा नहीं। यह सुख की लालसा दुःख की प्रतिक्रिया है। दुःख कदाचित् जागतिक जीवन का एक दृढ़ और कटु सत्य है। दुःख की परिधि से कोई बच नहीं पाया है। लौकिक दृष्टि से 'अभाव' दुःख का कारण है। अभाव की पूर्ति से ही सुख का आगमन भी मान लिया जाता है। अन्नाभाव के कारण क्षुधा का दुःख है और अन्नप्राप्ति पर सुखानुभव होने लगता है। किन्तु दुःखित तो अभावग्रस्त पाये ही जाते हैं, सम्पन्न जन भी किसी न किसी दुःख के शिकार रहते हैं।

---

1 रत्नकरण्डश्रावकाचार'—श्री समन्तभद्र स्वामी

जैनाचार : एक विवेचन

□

सुखकामी मनुष्य और सुख का रूप

धर्माचार का मूल मन्तव्य यथार्थ सुख की प्राप्ति है। यहाँ यह अपेक्षित है कि सच्चे सुख के स्वरूप को पहचाना जाय और दुःख के साथ उसकी आपेक्षिक स्थिति को भी समझा जाय। जैन साहित्य में इस विषय का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। दुःख के कारणों की खोज की गई है और उनको निर्मूल करने के उपाय भी सुझाये गये हैं। दुःख के समाप्त हो जाने की स्थिति सुखानुभव की प्राथमिक आवश्यकता है। जैन मतानुसार दुःख के कारण रूप में कर्मबंधन को स्वीकारा गया है। इस बंधन के क्षीण हो जाने पर ही वास्तविक और उत्तम सुख उपलब्ध होता है। इस विचार के समर्थन में निम्न उक्ति उल्लेखनीय है—

> देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
> संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥[1]

अर्थात्— मैं कर्मबंध का नाश करने वाले उस सत्यधर्म का कथन करता हूँ जो प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तमसुख में धरता है।

स्पष्ट है कि संसार में दुःख हैं। प्राणियों के अपने कर्म ही इन सांसारिक दुःखों के मूल कारण हैं और धर्म ही उन्हें दुःख मुक्त कर उत्तमसुख की प्राप्ति करा सकता है। कौन सचेतन प्राणी सुख का परित्याग कर स्वेच्छा से दुःख का वरण करने को तत्पर हो सकता है? सभी की कामना सुख के लिए ही होती है प्रयत्न भी इसी दिशा में किये जाते हैं। यह बात अन्य है कि वे प्रयत्न उत्तमसुख के पक्ष में होते हैं अथवा नहीं और वे प्रयत्न समुचित होते हैं अथवा नहीं। यह सुख की लालसा दुःख की प्रतिक्रिया है। दुःख कदाचित् जागतिक जीवन का एक दृढ़ और कटु सत्य है। दुःख की परिधि से कोई बच नहीं पाया है। लौकिक दृष्टि से अभाव दुःख का कारण है। अभाव की पूर्ति से ही सुख का आगमन भी मान लिया जाता है। अन्नाभाव के कारण क्षुधा का दुःख है और अन्नप्राप्ति पर सुखानुभव होने लगता है। किन्तु दुःखित तो अभावग्रस्त पाये ही जाते हैं सम्पन्न जन भी किसी न किसी दुःख के शिकार रहते हैं।

---

१ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार'—श्री समन्तभद्र स्वामी

धर्माचरण यदि भौतिक सुख को प्राप्ति कराता है तो मानसिक अभाव अथवा किसी कारण से मानसिक संताप बना रहता है। व्याधि भी दुख का कारण हो सकती है। व्यावसायिक अनीति से भी चिन्ता और मानसिक संताप संभव है। सारांश कि सामान्य दुख इस सांसारिक जीवन का एक अनिवार्य अंग है और मनुष्य का सुखकामी होना भी एक शाश्वत सत्य है।

प्रश्न यह है कि इस दुख से छुटकारा पाने और सुख प्राप्त करने के लिए कारगर उपाय क्या है? भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ गिनाये गये हैं। मोक्ष पारलौकिक सुख का साधन है। इहलोक के सुखों के लिए प्रथम तीन साधनों का विधान है। इन तीन साधनों में आदिस्थान धर्म को ही प्रदान किया गया है। वस्तुतः धर्म ही सुख प्रदान करने वाला प्रमुख और समर्थ साधन है। शेष अर्थ और काम तो गौण स्थान रखते हैं और इन दोनों साधनों में भी धर्म की संगति अनिवार्य रहती है। धर्मरहित अर्थ सुख नहीं दुखों का ही मूल कारण बनता है। सुख प्राप्त करना जीव का अनिवार्य स्वभाव है—इस प्रवृत्ति के अधीन होकर मनुष्य नीति-अनीति उचित-अनुचित का ध्यान किये बिना अधिकाधिक अर्थ-संचय में लग जाता है। वैभव विलास के साधनों के अम्बार लग जाते हैं उच्च अट्टालिकाओं का वह स्वामी हो जाता है। अपार धन-धान्य और स्वर्ण माणिक्य से भरा-पूरा उसका प्रासाद अन्य जनों के लिए ईर्ष्या का कारण तक बन जाता है। उसे समाज में उचित प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो जाती है। यह सब कुछ होते हुए भी अधर्म से प्राप्त धन उसके मन को अशांत रखता है। बेईमानी से व्यवसाय करके यदि धन प्राप्त किया गया तो उस धन को छिपाने की समस्या रहेगी। मनुष्य स्वयं को भी भीतर ही भीतर धिक्कारता रहता है कि अन्याय और अनीति के साथ ही उसने यह धन प्राप्त किया है। ऐसी स्थिति में मानसिक असंतोष होना स्वाभाविक ही है और बाहर से उसका जीवन कितना ही सुखमय क्यों न प्रतीत हो वास्तव में वह दुख की ज्वाला में दग्ध रहा करता है। इसके विपरीत धर्माचरण सहित अर्जित धन मात्रा में चाहे कितना ही अल्प क्यों न हो वह व्यक्ति को आत्मिक संतोष अवश्य देता है और यह मानसिक शांति उसके सुख का आधार बन जाती है। यह सुख स्थिरतायुक्त भी होता है और अन्तः बाह्य दोनों रूपों में एक सा ही होता है। हाँ सुख सुविधाओं की मात्रा कम भले ही हो सकती है किन्तु इससे सुख के यथार्थ स्वरूप को कोई हानि नहीं होती। इन लौकिक सुखों के साथ धर्म का नाता बड़ा प्रगाढ़ हुआ करता है। धर्म के बिना सुख की शून्यता ही प्रमाणित होगी।

यह तो चर्चा हुई लौकिक सुख की। किन्तु वास्तविकता यह है कि ये लौकिक सुख वास्तव में सुख होते ही नहीं। ये तो सुखों की छाया मात्र हैं। इन सुखों का अन्तिम परिणाम घोर कष्टकर दुख होता है। फिर इन्हें सुख कहा ही कैसे जाय? यह तो मनुष्य का अज्ञान और मोह ही है जो इनमें सुख की प्रतीति कराने लगता है।

ास्तव मे यह मनुष्य का भ्रम है और यही भ्रम उसे घोर दु खजनक तथाकथित ावास्तविक सुखो के पीछे दौड़ने को विवश कर देता है। यह ध्यान देने योग्य बात ़ कि सुख तो जीव के भीतर से ही उदित होने वाला एक तत्त्व है और उसका आभास ी कहीं किसी बाह्य पदार्थ मे नहीं हो सकता। अपने से बाहर सुख की खोज करने ाले प्राणी की स्थिति तो उस मृग की सी है जो अपनी नाभि मे बसी कस्तूरी की ान्क गंध से चचल होकर उस मृगंधित पदार्थ को प्राप्त करने के लिए— फिर फेर सूँघे घास' की अवस्था मे रहता है। आवश्यकता सुख के स्वरूप को समझने ी है। सारे भ्रम फिर दूर हो जायेंगे। भ्रांतियाँ कट जायगी और सुख के छलावों ा मन मुक्त हो जायगा।

बाहरी पदार्थों मे सुख का अनुभव करने वाले जन इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त होने वाले सुखोपभोग की लालसा ही रखते हैं। ये सुख न केवल क्षणिक अपितु वास्तव में अन्ततोगत्वा दु खरूप मे परिणत होने वाले भी होते है। वे स्वयं सुख नहीं हैं। ये तो ऐसे साधन हैं जो किसी एक व्यक्ति के लिए सुख तो उसी समय किसी अन्य यक्ति के लिए दु ख के कारण होते हैं। जब एक ही साधन या कार्य सुख भी उत्पन्न कर रहा है और दु ख भी तो उसे सच्चे सुख का कारण नहीं कहा जा सकता। इसी कार ये साधन तो इतने क्षीण और चचल है कि एक ही व्यक्ति के लिए जो कभी सुखकर होते हैं अन्य अवसरो पर वे ही दु ख के कारण भी बन जाते हैं। सन्तान का ही उदाहरण लीजिये। परिवार मे शिशु की किलकती हँसी से सभी प्रसन्न हो जाते हैं, कुलदीपक की उपस्थिति से माता पिता का मन हर्षित उल्लसित और गर्वित रहता है। सन्तान सुख का कारण है। किन्तु यही पुत्र बड़ा होकर जब कुकर्मी निकल जाता है, कुल को बट्टा लगाता है, अभिभावको का मस्तक लज्जा से नत होने लगता है— तो दु ख का कारण भी बन जाता है। सच्चा सुख तो सभी के लिए और सभी परिस्थितियो मे सुख ही बना रहता है। वह कभी दु ख का रंग धारण कर ही नहीं सकता। बाहरी पदार्थों से जिन सुखो की प्राप्ति की कल्पना की जाती है, उनमे यह गुण नहीं होता। अत उन्हें सुख कहा ही नहीं जा सकता। सुख की खोज मनुष्य का स्वभाव है—यह सत्य है। इस खोज मे व्यग्र मन इन बाहरी वस्तुओ मे सुख का अनुभव कर भटक जाता है। उसे क्षणिक सतोष होने लगता है कि सुख मिल गया किन्तु इस सामान्य तक तो उसकी खोज सफल नहीं होती। उसे ऐसा सुख नही मिलता जिसके छोर पर दु ख की स्थिति न हो। सच्चे सुख को बाहरी किसी वस्तु के आधार की अपेक्षा नहीं होती। न अर्थ सुख का साधन है, न काम सुख का साधन है वास्तविकता तो यह है कि इच्छाओं का निरोध ही सुख का मूलाधार है। अभाव यदि दु ख का कारण है तो अभाव को दूर करने के लिए अमुक वस्तु की प्राप्ति की इच्छा । यही इच्छा दु ख का मूल कारण बनती है। यदि यह इच्छा पूर्ण हो जा अमुक वस्तु उपलब्ध हो जाती तो मनुष्य इस पर सन्तोष नहीं कर अधिक, और

अधिक को इकट्ठा करने लगता है। परिणामतः इच्छा पूरी होकर भी मनोष प्रदान करने की क्षमता नहीं रखती। इससे तो चित्त में विषाद, अशान्ति और असन्तोष ही जन्मते हैं जो दुःखरूप में परिणत होते हैं। ऐसी दशा में अहितकारिणी— इच्छा का निरोध सुखलाभ के लिए आवश्यक है। यह निरोध अगाध शान्ति और सन्तोष से मन को पूरित कर देता है और ऐसे ही वातावरण में सुख का दर्शन सम्भव है। इस वास्तविकता को समझे बिना अज्ञानी बाहर जगत के विषयों और पदार्थों में सुख का आभास पाते हैं। अभिलाषाओं अथवा असाध्य का विचार किये बिना अधिक से अधिक मात्रा में उन सुखों को प्राप्त करने के प्रयास में लगे रहते हैं। दुःख को सुख समझकर उसका वरण करने की स्पर्धा में ही पीढ़ियाँ व्यस्त रहती हैं। यही कारण है कि संसार में दुःख है। जब तक यह भ्रम बना रहेगा तब तक दुःख का अस्तित्व भी बना रहेगा। जो जब तक इन तथाकथित बाह्य सुखों को सुख मानता रहेगा तब तक वह दुःखी बना रहेगा। वस्तुस्थिति यह है कोई भी बाह्य पदार्थ न तो स्वयं सुख है और न ही वह किसी सुख का साधन है। सुख तो आभ्यन्तरिक वस्तु है आत्मा का गुण है। हाँ जीव का स्वभाव यह सुख है जो वास्तव में भीतर ही उत्पन्न होता है प्रायः बाहरी किसी पदार्थ का सहारा लेता है और अबोध मनुष्य अज्ञानवश उन्हीं पदार्थों को सुख के आधार मान लेता है। देहगत विकारों की क्षणिक शान्ति को मनुष्य सुख रूप में जानता है किन्तु वास्तव में ये सुख होते नहीं हैं। ये तो विकारों के प्रतिकार मात्र हैं। भर्तृहरि की एक उक्ति से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है जिसका आशय है— जब प्यास से मुख सूखने लगता है तो मनुष्य सुगंधित स्वादु जल पीता है भूख से पीड़ित होने पर शाकादि के साथ भात खाता है, कामाग्नि के प्रज्वलित होने पर पत्नी का आलिंगन करता है। इस प्रकार रोग के प्रतिकारों को मनुष्य भूल से सुख मान रहा है।[1] दृष्टि को बाह्य से समेटकर अन्तर की ओर मोड़ने वाले मर्मज्ञ जन इस अन्तर से भली भाँति अवगत होते हैं। वे जानते हैं कि ये बाहरी साधन दुःखजनित चंचलता के प्रभाव को क्षणिक रूप से दुर्बल मात्र बनाते हैं अन्यथा स्थायी सुख के प्रदाता ये हो नहीं सकते। भीतर से स्वतः विकसित होने वाले वास्तविक सुख को किसी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा रहती ही नहीं है।

ये आभास मात्र कराने वाले अवास्तविक सुख दुःखों को दूर नहीं कर पाते। और सुख के अनुभव के लिए यह अनिवार्य परिस्थिति है कि दुःख का सर्वथा प्रतिकार हो जाय।[2] सुख और दुःख दोनों एक साथ रह नहीं सकते। जब तक जीवन में दुःख

---

१ तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादुसुरभि
क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिंगति वधू
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ।।

२ तत्सुखं यत्र नासुखम्

उसका परिहार करना चाहिए। अन्य जन अथवा दुर्जन ऐसा व्यवहार कर सकते हैं किन्तु सम्यक्दृष्टि जन सदा निर्भीकता के साथ उनका विरोध करते हैं। इस प्रकार मार्ग में सन्मार्ग का रक्षण करना सम्यग्दर्शन का एक महत्वपूर्ण अंग है।

इसी से सम्बद्ध छठा अंग है कि जब कभी मनुष्य स्वयं अथवा कोई अन्य जन सन्मार्ग से च्युत हो रहा हो तो उसे चाहिए कि उसे दृढ़ बनाये। सन्मार्ग न छोड़ने की प्रेरणा देना और स्वयं भी सन्मार्गी बने रहना इस अंग के अन्तर्गत मनुष्य का कर्त्तव्य है।

सम्यग्दर्शन का सातवाँ अंग धर्म के आन्तरिक पक्ष को दृढ़ता के लिए है। इसके अनुसार व्यक्ति को अपने सहधर्मी सहयात्रियों के प्रति अतिशय स्नेह रखना चाहिए। यह पारस्परिक स्नेह सभी के मन में धर्म के प्रति रुचि को प्रगाढ़ बनाता है और अन्य जन इस मधुर व्यवहार एवं स्नेहसिक्त वातावरण से प्रभावित होकर प्रेरणा ग्रहण करते हैं। धर्मानुयायियों के साथ साथ धर्म के प्रति भी श्रद्धा और स्नेह का भाव होना अनिवार्य है।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन का आठवाँ और अन्तिम अंग धर्म के विकास और उसकी विशेषताओं के प्रचार प्रसार से भी सम्बन्धित है और अन्य जनों को मिथ्यात्व से मुक्त कर सुधर्म में प्रवृत्त करने की प्रेरणा देता है। व्यक्ति को जनसाधारण में व्याप्त अज्ञानान्धकार को दूर कर पवित्र, अहिंसामय धर्म का अधिकाधिक प्रसार करने में व्यस्त रहना चाहिए।

सम्यक्दृष्टि जन धर्म के विकास में अपना विनीत योगदान करते रहते हैं। ऐसे जन धर्म और धर्मानुयायियों में अन्तर नहीं करते। धर्म प्रेम और धार्मिकों के प्रति प्रेम दोनों परस्पर पर्यायरूप में होते हैं। धार्मिकों का सम्मान करने से ही धर्म का सम्मान किया जा सकता है। धर्म तो सूक्ष्म रूपधारी होता है। उसका प्रतिबिम्ब व्यक्त स्वरूप धर्मानुयायियों के रूप में ही हमारे समक्ष आ पाता है। सम्यक्दृष्टि जन अत्यन्त कोमल व्यवहार वाले और विनम्र होते हैं। उन्हें अपने तप साधना अर्जित क्षमता उच्चता वंश यश आदि का कोई अहं नहीं होता। अहं तो तब आता है, जब व्यक्ति अपने को उच्च और अन्य जनों को इस अपेक्षा में निम्न मानने लगता है। सम्यक्दृष्टि जन ऐसा व्यवहार नहीं करते।

यह सम्यग्दर्शन स्वतः मोक्ष नहीं है। मोक्ष के मार्ग का अनुसरण करने के लिए यह आवश्यक तैयारी मात्र है। यह वह भूमिका है जिसके पश्चात् धर्माचरण सम्भव हो पाता है। यह व्यवहार व्यक्ति को मोक्ष-मार्ग का पथिक बनने की अपेक्षित शक्ति देता है और अनुकूल वातावरण तैयार करता है। ज्वलित दुखित जगत के मध्य रहकर भी सम्यग्दर्शन का पालनकर्ता अद्भुत शांति का अनुभव कर सकता है।

सम्यक्चारित्र

चारित्र या आचरण मनुष्य की गतिविधियों का समुच्चय है। मनुष्य की ये गतिविधियाँ उचित भी होती हैं और अनुचित भी। अनुचित [illegible] से मनुष्य स्वयं के लिए भी कष्टकर परिस्थितियाँ उत्पन्न कर लेता [illegible] के लिए

जैनाचार का प्राण . अहिंसा

☐

अहिंसा और उसका स्वरूप

अहिंसा परमधर्म है। यह जनधर्माचार के लिए तो प्राणवत् ही है। जना र का विशाल प्रासाद अहिंसा की दृढ़ नींव पर ही आश्वस्तता के साथ आधारित । अहिंसा मानव की सुख शान्ति की जननी है। मानव और दानव म अन्तर ही स अहिंसा का है। मानव ज्यों-ज्यों हिंसक बनता चला जाता है वह दानवता समीप होता चला जाता है और दानव ज्यों-ज्यों हिंसा का परित्याग करता वह मानवता के समीप आता जाता है। अहिंसा वह नतिक माग है जिसका नुसरण व्यक्ति को यथार्थ मानवता क गौरव से विभूषित करता है। अहिंसा का ान्त व्यापक प्रभावकारी है। अत अहिंसाव्रतधारी म स्वत ही अनेकानेक गुण कसित होते चले जाते हैं और उसके भीतर की मानवीयता पुष्ट होती रहती है। हिंसा एक एसा मानवीय दृष्टिकोण है जो उसे असाधारण आत्मिक सुख की नुभूति कराता है। यही सुख उसका चरम लक्ष्य होता है।

वस्तुत अहिंसा की विराट भूमिका व्यक्ति क मानस को एसा विस्तार प्रदान रती है कि वह सहज ही सृष्टि के समस्त प्राणियों को आत्मवत् स्वीकार करने गता है। वह सभी का हितैषी हो जाता है और किसी की हानि करने की कल्पना भी वह दूर बहुत दूर हो जाता है।

सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण

यह सर्वप्राणातिपातविरति' की ऐसी प्रतिज्ञा है जो मनुष्य को अहिंसा हाव्रती और जीव मात्र का रक्षक बना देती है। वह किसी की भी हिंसा नही करने ा सकल्प धारण कर, उसका दृढ़ता के साथ पालन करता है। परिणामत वह न वल अन्य जनो की सुख-सृष्टि म योगदान करता है, अपितु स्वय अपने लिए भी दभुत सुख की रचना कर लेता है। उसकी आत्मा राग द्वेषादि सब कल्मष एव र्भावों स मुक्त होकर शुद्ध तथा शान्त रहती है, आत्मतोष के अमित सागर म निमग्न हती है। अहिंसाव्रती क लिए यह एक सयम है और यही अन्य जन के लिए दया और क्षा का भाव है। कदाचित इसी भाव क्षेप के कारण भगवान महावीर ने रक्षा दया विभुत क्षमकरी आदि का प्रयोग अहिंसा के पर्याय रूप म किया है। एक चिन्तक लिखा है—

अहिंसा आत्मनिष्ठ है। आत्मा में उपजती है और समानता की भावना से पुष्ट होती है। हिंसा की भावना से निवृत्त होने के पीछे अपने अनिष्ट का आशंका अधिक काम करती है। हिंसा से अपना पतन नहीं होता हो तो शायद ही कोई अहिंसा की बात सोचे।

यह पृथ्वी यह नाना प्रकार के जीव जन्तुओं का एक अद्भुत समुच्चय है। विविध रंग रूप आकार आकृति गुण धर्मादि के धारक होने के कारण ये समस्त प्राणी वभिन्नययुक्त एवं अनेक वर्गों में विभक्त हैं। बाह्य और प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर यह वभिन्य स्वीकार करना ही पड़ता है किन्तु यह एक स्थूल सत्य है। इसके अतिरिक्त एक सूक्ष्म सत्य और भी है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि विभिन्न प्राणी वर्गों के घोर असाम्य के समानान्तर रूप में एक अमिट साम्य भी है। सभी प्राणी सचेतन हैं सभी में आत्मा का निवास है। यह आत्मा सभी में एक सी है। आत्मा की दृष्टि से सभी प्राणी एक से हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा कई गुना अधिक सशक्त एवं विवेकशील है तथापि आत्मा की दृष्टि से उसका स्थान भी अन्य प्राणियों के समकक्ष ही है। मनुष्य की कोई अन्य श्रेष्ठता नहीं है। सचेतनता का धर्म मनुष्य का भी है और अन्य प्राणियों का भी। यह चेतन्य जीव-वर्ग में ऐसा व्याप्त है कि इसी आधार पर जीवों को शेष अजीवों से पृथक करके पहचाना जा सकता है। सुख-दुखादि की अनुभूति चैतन्य का ही परिणाम है। ये अनुभूतियाँ प्राणियों के लिए ही हैं निर्जीव जड़ पदार्थों के लिए नहीं क्योंकि वे चेतनाहीन होते हैं।

समस्त सचेतन जीव दुःख से बचना चाहते हैं और सुखमय जीवन की कामना करते हैं। सुख प्रत्येक आत्मा का स्वाभाविक लक्ष्य होता है और सुख प्राप्ति के मार्ग में आने वाली बाधक परिस्थितियाँ दुःखानुभव का कारण बनती हैं। जिस प्रकार यह सत्य है कि आत्मा की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं सचेतनतावश सभी को सुख दुःखादि का अनुभव होता है—उसी प्रकार यह भी सत्य है कि सुख अथवा दुःख का अनुभव कराने वाली परिस्थितियाँ भी सभी प्राणियों के लिए एक सी होती हैं। जिन बातों से एक प्राणी को कष्ट होता है उनसे सभी प्राणी कष्टित ही होते हैं। इस प्रकार कोई सुखद विषय सभी के लिए सुखद होता है। इस सम्बन्ध में मनुष्य और इतर जीवों में भेद नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त सभी आत्माएँ सुखकामी और दुःख द्वेषी होती हैं। सुखाकांक्षा आत्मा की सहज प्रवृत्ति है। श्रमण भगवान महावीर ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा था—

"सभी आत्माएँ सुख चाहती हैं। इस सृष्टि के समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझो। किसी के लिए ऐसा कार्य मत करो जो तुम्हारे लिए अरुचिकर हो।"

एक अन्य अवसर पर भगवान ने अपने उपदेश में इस सिद्धान्त को सुस्पष्ट किया था। उनका कथन था कि— दूसरों से तुम जैसा व्यवहार अपने लिए चाहते हो,

वैसा ही व्यवहार तुम भी दूसरा के साथ करो। उन्होंने यह भी कहा कि जिस दिन तुम अपनी और दूसरों की आत्मा के मध्य भेद को विस्मृत कर दोगे—उसी दिन तुम्हारी अहिंसा की साधना भी सफल हो जायगी। अपने प्राणों की सुरक्षा चाहने वालों का यह कर्तव्य भी है कि वे दूसरों के जीवन रक्षा सम्बन्धी अधिकार को भी मान्यता दें। यही अहिंसा का मूल मंत्र है।

भगवान का अहिंसा सम्बन्धी यह उपदेश मात्र वाचिक ही नहीं था। उनका समग्र जीवन ही मूर्तिमन्त अहिंसा का रूप हो गया है। उन्हें नानाविधि कष्ट दिये गये किन्तु धैर्य और क्षमाशीलता के साथ वे उन सभी को सहन करते रहे। प्रत्याक्रमण का कोई भाव भी उनके मन में कभी उदित नहीं हुआ। अहिंसा की विकटतम कसौटियों पर वे इसी कारण सफल रहे कि वे सदा यह स्वीकार करते थे कि जैसा मैं हूँ वैसे ही सभी हैं। मुझे किसी को कष्ट नहीं देना चाहिए। यह हिंसा-त्याग का उच्चतम रूप है। सभी प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं और दूसरों की इस अभिलाषा में बाधक नहीं बनना ही मूलतः अहिंसा है।

विभिन्न युगों एवं विचारधाराओं के तत्त्वचिन्तकों ने अहिंसा की व्याख्या की है। यथा—

तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेष्व अनभिद्रोह

सर्व प्रकार से सब कालों में सब प्राणियों के साथ अभिद्रोह न करना ही अहिंसा है। पातंजल योग के भाष्य में इस प्रकार अहिंसा की समुचित व्याख्या उपलब्ध होती है। वर्तमान शताब्दी में महात्मा गांधी अहिंसा के अनन्य पोषक हुए हैं। गांधीजी ने इस युग में अहिंसा के नैतिक सिद्धान्त की अत्यन्त सशक्त पुनर्स्थापना की है। यही नहीं भौतिकता के इस युग में अहिंसा के सफल व्यावहारिक प्रयोग का श्रेय भी उन्हें ही प्राप्त है। बापू ने अहिंसा को अपने जीवन में उतारा और परम्परा पर भी उसका पालन किया। अहिंसा की सुस्पष्ट समझ के लिए उस उन्होंने विवेचित भी किया। एक स्थल पर अहिंसा के विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है— अहिंसा के मान सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव है। गांधी वाणी में यह विवेचन और भी स्पष्ट रूप से उद्घाटित हुआ है। वे लिखते हैं—

पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीवधारियों के प्रति दुर्भावना का सम्पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मानवेतर प्राणियों यहाँ तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करता है।

अहिंसा के सभी तत्त्ववेत्ताओं ने प्राणिमात्र को समान माना है। किसी भी आधार पर अमुक प्राणी को किसी अन्य की अपेक्षा छोटा अथवा बड़ा नहीं कहा जा सकता महत्त्वपूर्ण अथवा उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। सूक्ष्म जीवों की प्राणहानि को भी कभी अहिंसा का धर्म नहीं समझा जा सकता। इस दृष्टि से हाथी भी एक

प्राणी है और चींटी भी एक प्राणी है। दोनों समान महत्त्वशाली हैं। दोनों में जो आत्मा है वह एक सी है—दैहिक आकार के विशाल अथवा लघु होने से आत्मा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। समस्त प्राणियों के रक्षण का विराट भाव ही अहिंसा का मूलाधार है। ध्यातव्य है कि सूक्ष्म जीवों की हानि में हिंसा की न्यूनता और बड़े जीवों की हानि में हिंसा की अधिकता रहती हो—ऐसा भी नहीं है। हिंसा तो हिंसा ही है। आत्मा आत्मा में ऐक्य और अभेद की स्थिति रहती है। अतः प्राणी के दैहिक आकार प्रकार या जगत के लिए किसी प्राणी का अधिक अथवा कम महत्त्वपूर्ण होना किसी की प्राण हानि को हिंसा और किसी की प्राण हानि को अहिंसा नहीं बना सकता। प्राणिमात्र के प्रति समता का भाव सभी के प्रति हितचिंता एवं बंधुत्व का भाव सभी के साथ सह अस्तित्व की स्वीकृति ही किसी को अहिंसक बना सकती है। इस आधार पर करणीय और अकरणीय कर्मों में भेद करना और केवल करणीय को अपनाना अहिंसाव्रती का अनिवार्य कर्त्तव्य है। यह एक प्रकार का संयम है, जिसे भगवान महावीर ने पूर्ण अहिंसा की संज्ञा दी है—

अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएस संजमो

अहिंसा का यह पुनीत भाव मानव को विश्व-बंधुत्व एवं जीव-मैत्री के महान गुणों से सम्पन्न कर देता है। इस सन्दर्भ में यजुर्वेद का निम्न साक्ष्य भी उल्लेखनीय है—

विश्वस्याहं मित्रस्य चक्षुषा पश्यामि

अर्थात्—मैं समूचे विश्व को मित्र की दृष्टि से देखूं। सभी शास्त्रों में अहिंसा को मानवता का मूल स्वीकारा गया है और सुखी जगत की कल्पना को क्रियान्वित करने का आधार माना गया है। अहिंसा व्यक्ति द्वारा स्व और परहित की सिद्धि का महान उपाय है। जैनधर्म में तो इस अत्युच्चादर्श का मूर्तिमन्त स्वरूप ही दीख पड़ता है। आचारांग सूत्र में उल्लेख है कि सब प्राणी सब भूत सब जीव को न मारना चाहिए न अन्य व्यक्ति द्वारा मरवाना चाहिए न उन्हें परिताप देना चाहिए और न उन पर प्राणापहर उपद्रव करना चाहिये। वस्तुतः प्रस्तुत उल्लेख को अहिंसा से जोड़ा नहीं गया है किन्तु व्यापक दृष्टि में इसे अहिंसा का स्वरूप अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग में अहिंसा का एक स्पष्ट चित्र इस प्रकार उभर उठा है—

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं मतिमं पडिलेहिया।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य अतो सव्वे अहिंसया॥
एयं खु णाणिणो सारं जं न हिंसइ कंचण।
अहिंसा समयं चेव एतावतं वियाणिया॥

अर्थात्—बुद्धिमान सब युक्तियों द्वारा जीव का जीवत्व सिद्ध करके यह जान

कि सब जीव दुख के द्वेषी (जिन्हें दुख अप्रिय है) हैं तथा इसी कारण किसी की भी हिंसा नहीं करे। ज्ञानी पुरुषों का यही उत्तम ज्ञान है कि वे किसी जीव की हिंसा नहीं करते।

'सूत्रकृतांग' का उल्लेख अहिंसाव्रत-पालन की दिशा में निश्चित मार्गदर्शन देता है। अहिंसा का आचरण करने वाला बुद्धिमान व्यक्ति ही यथार्थ में बुद्धिमान होता है। ऐसे बुद्धिमान के लिए अपेक्षित है कि—

—सर्व प्रथम तो वह सभी जीवों के समत्व को स्वीकारे और इस आधार पर बिना किसी प्रकार का भेद करते हुए सभी जीवों को समान रूप से महत्व-पूर्ण समझे।

—उसके लिए यह तथ्य हृदयगम करना भी आवश्यक है कि सभी प्राणी सुख की कामना करते हैं और दुःख सभी के लिए अप्रिय होता है।

—इन बातों को भली भाँति समझकर उसे (बुद्धिमान को) किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिये।

तिविहेण वि पाण मा हणे आयहिते अनियाण संवुडे।

सूत्रकृतांग के प्रस्तुत अंश में अहिंसा की व्याख्या और भी सूक्ष्मता के साथ है, जिसमें व्यक्त किया गया है कि मन, वचन और काया इन तीनों से किसी भी ी को नहीं मारना चाहिए। इस मान्यता को और भी समग्रता की ओर ले जाने दृष्टि से इसमें यह भी जोड़ा जा सकता है कि—कृत, कारित, अनुमोदित—मनसा, ा कर्मणा प्राणिमात्र को कष्ट न पहुँचाना ही पूर्ण अहिंसा है। इसी आशय का ातिबिम्ब आवश्यक सूत्र में भी मिलता है—

जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं
न करेमि न कारवेमि करतंपि न समणुजाणामि

प्रस्तुत उक्ति में ३ योग—मन, वचन और काय एवं ३ करण—करना, करवाना एवं अनुमोदन करना—की चर्चा है और कहा गया है कि मैं इनमें से किसी के द्वारा किसी की भी हिंसा नहीं करूँ। इन ३ योग और ३ करण के संयोग से ९ योग करण स्थितियाँ बनती हैं, जो निम्नानुसार हैं—

(क) मन से—(१) हिंसा न करना (२) हिंसा नहीं करवाना (३) हिंसा का अनुमोदन नहीं करना।

(ख) वचन से—(४) हिंसा न करना (५) हिंसा नहीं करवाना (६) हिंसा का अनुमोदन नहीं करना।

(ग) काय से—(७) हिंसा न करना (८) हिंसा नहीं करवाना (९) हिंसा का अनुमोदन नहीं करना।

मनुष्य को अकर्मण्य बना देता है। वह कुछ भी करने में कतराने लगता है। यह भी भय रहता है कि केवल निषेधमूलक अहिंसा का निर्वाह करने वाला व्यक्ति एकान्त सदा एक जगह में तटस्थ होकर मानवेतर प्राणी की भांति जीवन यापन करने लग जायगा। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के जीवन को अहिंसा की कसौटी पर कसना भी कठिन हो जायगा। किसी भी अहिंसक का गौरव तो इसमें निहित रहता है कि वह ऐसे वातावरण में भी रहे जिसमें हिंसायुक्त कर्मों की प्रेरणा मिलती हो फिर भी उससे प्रभावित हुए बिना वह पूर्णत अहिंसक ही बना रहे।

इस प्रकार अहिंसा को इसकी व्यापक भावभूमि के साथ समझना ही समीचीन है एवं उसी व्यापक रूप में उसका आचरण ही वास्तव में किसी व्यक्ति को अहिंसक होने का गौरव प्रदान कर सकता है। प्रवृत्तिमूलक अहिंसा में ही व्यक्ति मानस की सच्ची हितैषिता एवं बन्धुत्व का परिचय मिलता है और यही वह पक्का आधार है जिसने किसी का अहिंसापूर्ण आचार पहचाना जा सकता है। यह प्रवृत्तिमूलक पक्ष अहिंसा की गरिमा को न केवल विकसित करता है अपितु यह उसका निर्माता भी है। कारण यह है कि अहिंसा को जैनाचार में केवल निषेधमूलक स्वीकार ही नहीं किया गया है।

अहिंसा की कसौटी

अहिंसा का मूलतत्त्व जब प्राणिमात्र के लिये सुख का कारण बन रहना है—किसी भी प्राणी का घात न करना है तो यह प्रश्न उभर आता है कि क्या किसी के लिए इस प्रकार का अहिंसात्मक आचरण अपने समग्ररूप में सम्भव है? जीवन की नाना प्रवृत्तियां और कर्मों में ऐसे अगणित प्रसंग बन जाते हैं जब व्यक्ति अन्य प्राणियों के लिए कष्ट का कारण यहाँ तक कि प्राणहंता बन जाता है। अहिंसाव्रत का दृढ़तापूर्वक पालन करने का अभिलाषी होते हुए भी उससे ऐसे कार्य हो ही जाते हैं और इन कार्यों तथा इनके परिणामों से भी वह अवगत नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ चलने फिरने में ही अनेक जीवों का हनन हो जाता है। तो क्या वह अहिंसाव्रत से भ्रष्ट समझा जाना चाहिए? क्या उसका जीवन पापमय है?

कहा जाता है कि इसी प्रकार की समस्या भगवान महावीर के समक्ष प्रस्तुत करते हुए जिज्ञासु शिष्य गौतम ने जीवन को पापरहित करने का उपाय जानना चाहा था। उत्तर में भगवान ने अपने उपदेश में कथन किया कि जीवन की नाना प्रवृत्तियाँ न केवल स्वाभाविक अपितु अनिवार्य भी हैं जिन्हें मनुष्य को करना ही होता है। इन प्रवृत्तियों से हिंसा अहिंसा का प्रश्न भी जुड़ा रहता है किन्तु ये भिन्न प्रवृत्तियाँ अपने आप में न पाप हैं न पुण्य हैं। विवेक—यतना ही इनकी कसौटी है। ये सारे कार्य यदि विवेक के साथ सावधानी के साथ यतना के साथ किये गये हैं तो कर्त्ता का जीवन स्वयं अपने लिए और जगत के लिए भी सुखदायक होगा। इसके विपरीत अविवेक या अयतना के साथ यापित जीवन दुःखमूलक होगा। यही अविवेक

पाप का कारण होगा, हिंसा का आधार होगा। इस प्रकार विवेक और अहिंसा का घनिष्ठ नाता है। जहाँ विवेक है, वहीं अहिंसा भी होगी।

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा

अर्थात प्रमादवश जो प्राणघात होता है वही हिंसा है। तत्वार्थसूत्र म उमा स्वाति का अहिंसा विषयक प्रस्तुत सूत्र यह इंगित करता है कि प्राणिमात्र क रक्षण के भाव म ही अहिंसा निहित होती है।

अहिंसा के रूप

मोटे तौर पर हिंसा का अभाव ही अहिंसा है। अत अहिंसा की स्पष्ट समझ के लिए हिंसा का स्वरूप जानना अनिवार्य है। जन चिन्तन म हिंसा के दो रूप माने गये हैं—

(१) भावहिंसा (२) द्रव्यहिंसा

भावहिंसा का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के मन से है। हिंसा का यह मानसिक स्वरूप है जो उसकी भूमिका तयार करता है। व्यक्ति अन्य प्राणियों की हानि या अहित करने का विचार मन म न लाये चाहे वह अहित कर पाये अथवा नहीं—यह उसके द्वारा की गई भावहिंसा कहलाती है। हिंसा का यह ऐसा रूप है जो अन्य प्राणियों के लिये अहितकर चाहे न हो किन्तु स्वयं उस व्यक्ति के लिये तो घोर अनिष्टकारी होता ही है। राग द्वेष मोह लोभ क्रोधादि क भाव इस प्रकार की मानसिक हिंसा के उत्प्रेरक होते ह और य आत्मा को कलुषित एव पतित कर देते हैं। यह हिंसा आत्म विनाशक होती है। अहिंसा की साधना क लिए सर्वप्रथम भावहिंसा पर ही नियन्त्रण करना होता है। यही नियन्त्रण सयम है। इसके लिए अपनी कुमनोवृत्तियों का दमन करना होता है। इस सन्दर्भ म भगवान महावीर स्वामी का उपदेश है कि बाहरी शत्रुओ स नहीं अपने भीतरी शत्रुओ स युद्ध करो और विजयी बनो। इस विजय का उपहार होगा—सयम और उसकी अभिव्यक्ति अहिंसा क रूप म होगी। यह सयम अहिंसात्मक आचरण द्वारा स्वयं सयमी क जीवन को उन्नत और सुखमय बनाता है।

द्रव्यहिंसा म हिंसा का परिणाम भौतिक या वास्तविक रूप म प्रकट होता है। मानसिक हिंसा की भांति वह विचार तक मर्यादित न रहकर व्यवहार म परिणत हो जाती है। मन म कषाय का उदय होना भावहिंसा है और मन क भाव को वचन और क्रिया का रूप देना द्रव्यहिंसा है—स्थूल हिंसा है। प्रमाद वश किसी का प्राणापहरण ही हिंसा है। अर्थात् कषाय भाव क साथ किया गया अहितकर कार्य ही हिंसा है। यदि वास्तव म अहित हो गया है किन्तु उसके मूल म कषाय या प्रमाद नहीं है तो वह हिंसा नहीं है। वह अहित हो गया है कर्ता द्वारा किया नहीं गया है। भाव हिंसा और प्रमाद अवस्था क अभाव म यदि किसी प्राणी की हिंसा हो गयी है, तो

वह पाप की परिधि से परे है, केवल द्रव्यहिंसा है। आचार्य भद्रबाहु का कथन इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है—

अपने नियमों के साथ यदि कोई साधक चलने के लिये विवेकपूर्वक पाँव उठाये फिर भी यदि कोई जीव पाँवों तले आकर नष्ट हो जाय तो साधक को इसका पाप नहीं होगा। कारण यह है कि साधक की भावना निर्मल थी वह अपने नियमों में पूर्ण सजग था।

साराश यह है कि अहिंसा का निर्वाह तभी सम्भव है जब हम भावहिंसा से बचते रहें। भावहिंसा अकेली ही पाप के लिए पर्याप्त है। द्रव्यहिंसा भी पाप तभी बनती जब वह केवल द्रव्यहिंसा न रहकर भावहिंसा के परिणाम रूप में होगा। भावहिंसा और द्रव्यहिंसा के आधार पर हिंसा का निम्नानुसार वर्गीकृत किया जाता है—

(१) भावरूप में और द्रव्यरूप में—जहाँ हिंसा का दुर्मनोभाव भी हो और बाह्यरूप में भी हिंसा की जाय। इस स्थिति में हिंसा का वास्तविक और घोर रूप होता है।

(२) भावरूप में हिंसा किन्तु द्रव्यरूप में नहीं—दुर्मनोभाव या कषाय तो हो किन्तु उसकी क्रियान्विति किन्हीं कारणों से सम्भव न हो पाये। यह भी हिंसा ही है, जिससे मनुष्य का अपना ही अहित होता है।

(३) भावरूप में नहीं किन्तु द्रव्यरूप में हिंसा—जहाँ हिंसा तो हो गयी हो किन्तु कर्ता का प्रमाद या कषाय उसके पीछे न रहा हो। वास्तव में यह हिंसा नहीं मानी जाती। यह भी अहिंसा का ही एक रूप है।

(४) न भावरूप में और न द्रव्यरूप में—जहाँ न तो कषाय ही रहा हो और न ही बाह्यरूप में हिंसा हुई हो। यह सर्वथा अहिंसा ही है।

आज विश्वभर में समस्त नैतिकताएँ विघटित होती चली जा रही हैं व व्यवहार-क्षेत्र से निष्कासित होकर मात्र पठन-पाठन की विषय रह गयी है। यदि यही क्रम निरन्तरित रहा तो सम्भवतः नैतिकताएँ मात्र पुस्तकों में ही विद्यमान रह जायेंगी। कदाचित् उनकी ओर ध्यान देने का श्रम भी कोई नहीं करेगा। अहिंसा मार्ग भी इसका अपवाद नहीं है, किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि नैतिकताओं की उपेक्षा ने मनुष्य को मानवतारहित बना दिया है। उस पर अपार दुःख घटाएँ मंडरा रही हैं और आतंक का बोलबाला हो रहा है। यदि मनुष्य अहिंसा को दृढ़तापूर्वक अपना ले तो संसार का रूप ही परिवर्तित हो जायेगा। घृणा, द्वेष, पर-अहित, लोभ, मोह आदि विकार अहिंसा के अपनाने से नष्ट हो जायगे और सर्वत्र सुख शान्ति का साम्राज्य हो जायेगा। व्यक्ति अहिंसा से अपना भी और जगत का भी कल्याण करेगा। आवश्यकता इसी बात की है कि मनुष्य अपने में अहिंसा के प्रति आस्था का भाव जाग्रत करे। अहिंसा का जो विराट रूप है—वह व्यवहार्य है उसे अपनाया जा

जैसा कि अन्यत्र हमने विवेचित किया है जैनधर्मानुसार समस्त जीव दो वर्गों में विभक्त हैं—स्थावर एव त्रस। जो जीव हम चलते फिरते स्पष्टत दिखायी देते हैं वे त्रस हैं। इसके विपरीत जिन प्राणियों में जो जीव साधारणत दिखायी नहीं देते किन्तु अवश्य हैं किन्तु गति नहीं होती वे स्थावर कहलाते हैं जैसे वायु, मिट्टी वनस्पति आदि के जीव। विभिन्न उपकरणों की सहायता से इनमें चेतना भी जानी जा सकती है। गृहस्थ श्रावक स्थावर जीवों की रक्षा का यथाशक्ति प्रयत्न करता है। इस निमित्त वह अनावश्यक रूप में मिट्टी नहीं खोदता पानी को व्यर्थ नहीं बहाता आदि सावधानियाँ रखता है। इसी प्रकार वनस्पतियों को भी अनावश्यक रूप से अग्नि प्रज्वलित न करना हवा का विलोडित न करना आदि भी अन्य प्रकार की सावधानियाँ हो सकती हैं। पर जीवों की रक्षा के लिए गृहस्थ उनकी सकल्पी हिंसा का पूर्ण त्याग करता है। इस सम्बन्ध में विचार यह है कि त्रस जीवों की सकल्पी हिंसा के परित्याग से मनुष्य की कोई विशेष हानि होती नहीं है और न इसके कारण कोई विशेष अभाव उत्पन्न होते हैं।

सकल्पी हिंसा के पीछे मनोविनोद (शिकार) मांसाहार प्राप्त करना आदि कम तुच्छ उद्देश्य निहित होते हैं। इस दृष्टि से जीवन का निर्वाह रूप से प्रभावित करने का मार्ग सकल्पी हिंसा के त्याग से नहीं होता। ये ऐसे प्रयोजन नहीं हैं, जिनके बिना जीवन का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता हो। मनोविनोद के भी अन्य अनेक साधन हैं और आहार का भी कोई कमी नहीं है। मांसाहार के परित्याग से कोई अभाव नहीं उत्पन्न होता। विभिन्न प्रकार के अन्न फल वनस्पति आदि मनुष्य के स्वाभाविक एवं प्राकृतिक आहार के रूप में इस धरती पर उपलब्ध हैं। मांस मनुष्य का प्राकृतिक आहार नहीं है। मनुष्य के दाँतों और आँतों की बनावट से भी यह बात सिद्ध होती है कि प्रकृति ने उसे मांसाहारी नहीं बनाया है। धर्म के नाम पर भी प्राय सकल्पी हिंसा होते देखी जाती है। देवियों को प्रसन्न करने के लिए अपनी आराधना का एक अनिवार्य तत्त्व मानते हुए भक्तजन निरीह पशुओं—भेड़ बकरे भैंसे आदि की बलि देते हैं। नृशसतापूर्वक उनका वध कर दिया जाता है। कहीं-कहीं तो नरबलि भी दी जाती है। इस प्रसंग में यह कहना उपयुक्त होगा कि यह हिंसक व्यापार यथार्थ में किसी आराधना का अग नहीं हो सकता। देवी देवताओं को प्रसन्न करने का यह न तो कोई आधार है और न ही देवता इन कार्यों से प्रसन्न ही होते हैं। यह मात्र अंधविश्वास है जो केवल निरीह प्राणियों के विनाश का कारण बन जाता है। गृहस्थ विशेषत जैन गृहस्थों के लिए यह अनिवार्य है कि वे किसी भी परिस्थिति में स्वाद अथवा उदरपूर्ति के लिए मनोरंजन के लिए अथवा धर्म के नाम पर भी किसी प्राणी का घात न करें।

यहाँ एक आधार पर भी विचार करना उपयुक्त होगा। कुछ तुकवादी यह कहते हैं कि जैनधर्मानुसार मांस भक्षण वर्जित है यह धर्म वनस्पति में भी सजीवता स्वीकार

करता है—ऐसी दशा में शाकाहार भी एक प्रकार से मांसाहार ही होता है और शाकाहार को भी वर्जित माना जाना चाहिए। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमारा ध्यान इस ओर केन्द्रित होना चाहिए कि वनस्पति में मांस नहीं होता। देह संरचना के लिए आवश्यक सात धातु माने गये हैं। सप्त धातुमय तनवर ही मांस है और हमें यह जानना चाहिये कि वनस्पति में सप्त धातु नहीं होते। निरामिष जनों के लिए शाकाहार में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। केवल तर्क के लिए ही यह तर्क किया जाता है कि शाकादि में भी सजीवता के कारण मांस होता है। कतिपय व्यक्ति मांसाहार को उस अवस्था में आपत्तिजनक नहीं मानते जबकि वे स्वयं मांस प्राप्ति के लिए किसी जीव का घात नहीं करते हों। अर्थात् वधिक द्वारा वध किये गये पशु के मांस भक्षण में वे किसी हिंसा को स्वीकार नहीं करते। ऐसी मान्यता भी भ्रामक है। हिंसा यदि स्वयं उस व्यक्ति ने नहीं की तब भी वह वधिक के लिए हिंसा का प्रेरक अवश्य रहा है। उसने हिंसा करवायी है। ऐसी दशा में वह अहिंसक कैसे हो सकता है। साथ ही मरण के तुरन्त पश्चात मांस में अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। मांसभक्षण में उनकी हिंसा तो होती ही है। फिर हमारा ध्यान मांसाहारी होने के दूरगामी परिणामों की ओर भी जाना चाहिए। मांसाहार से एक प्रकार की कुबुद्धि उत्पन्न होती है जो व्यक्ति को अन्य जीवों के प्राणघात के लिए उत्तेजित करती रहती है। वह आज नहीं है तो कल अवश्य ही प्रत्यक्ष हिंसक भी बन जाता है। सृष्टि में प्राकृतिक रूप से जितने मांसाहारी जीव हैं वे सभी हिंसक भी हैं, जैसे सिंह।

यह तो हुई चर्चा संकल्पी हिंसा की जिसमें त्रस जीवों के घात का प्रसंग रहता है। जैसा कि वर्णित किया जा चुका है—इस प्रकार की हिंसा का परित्याग प्रत्येक गृहस्थ के लिए सुगम एवं सम्भाव्य है। गृहस्थ के लिए उद्योगी हिंसा का सर्वथा परित्याग संभव नहीं है। व्यक्ति को अपने और अपने आश्रितों के जीवन निर्वाह के लिए जीविका के किसी उपाय को अपनाना ही पड़ता है। ऐसी दशा में यथा व्यवसाय कुछ-न-कुछ हिंसा हो जाने की आशंका बनी ही रहती है। तथापि गृहस्थ को विचारपूर्वक ऐसे कार्य को अपनाना चाहिए जिसमें अन्य जीवों को कम से कम कष्ट पहुँचे। यह तो उसके लिए शक्य है ही। यदि इस विचार के साथ गृहस्थ अपने उद्यम का चयन करता है तो उससे होने वाली अनिवार्य हिंसा क्षम्य कही जा सकती है। आरम्भी हिंसा के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ को भोजन भी तैयार करना पड़ता है, जल का प्रयोग भी करना पड़ता है, विचरण भी करना ही पड़ता है। इन सामान्य व्यापारों में जो स्थावर जीवों की हिंसा हो जाती है उससे भी वह सर्वथा बचा नहीं रह सकता। इस सन्दर्भ में भी विवेकपूर्वक गृहस्थ को इस विधि से कार्य सम्पन्न करने चाहिए कि यह हिंसा यथासम्भव कम से न्यूनतम रहे।

गृहस्थ जनों के लिए विरोधी हिंसा का सर्वथा परित्याग भी इसी प्रकार पूर्णतः संभव नहीं कहा जा सकता। गृहस्थ इतना अवश्य कर सकता है और उसे ऐसा

करता भी चाहिये कि वह किसी से अकारण विरोध न करे। किन्तु यदि विरोध की उत्पत्ति अन्य जन की ओर से उसके विरुद्ध हो—तो उसे अपनी रक्षा का प्रयत्न करना ही होगा। उस पर रक्षा का दायित्व उस समय भी आ जाता है जब कि दुर्बल जीव पर प्राणों का संकट हो और वह उससे अवगत हो। स्वयं बचना और अन्य को बचाना दोनों ही उसके लिए अनिवार्य हैं। अहिंसा की दुहाई देते हुए ऐसे अवसरों पर आत्म रक्षा का प्रयत्न न करते हुए आक्रमण का शिकार रहना या दुबककर घर में छिप जाना—अहिंसा का लक्षण नहीं है। यह तो मनुष्य की कायरता होगी जिसे वह अहिंसा के आवरण में छिपाने का प्रयत्न करता है। ऐसा आचरण अहिंसक जन के लिए भी समीचीन नहीं कहा जा सकता। अहिंसा कायरों के लिए नहीं बनी वरन् वह तो धीरों और वीरों का एक वास्तविक लक्षण है। ऐसा माना जाता है कि ऐसी अहिंसा (कायरतामूलक) की अपेक्षा तो हिंसा कहीं अधिक अच्छी होती है। अहिंसा तो निर्भीकता उत्पन्न करता है। जो निर्भीक है वह कायरता का आचरण कर ही नहीं सकता। अहिंसा और शौर्य दोनों ऐसे गुण हैं जो आत्मा में साथ-साथ ही निवास करते हैं। शौर्य का यह गुण जब स्वयं आत्मा के द्वारा ही प्रकट किया जाता है तब वह अहिंसा के रूप में व्यक्त होता है और जब काया द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है तो वह वीरता कहलाने लगती है।

जनधन पर आयी विपत्ति को जो मूक दर्शक बनकर देखता रहे उसका प्रतिकार न करे—वह सच्चा अहिंसक जनी नहीं कहला सकता। इस रक्षण के कार्य को हिंसा की संज्ञा देना भी इसी प्रकार की कायरता मात्र है। ऐसा ही देश पर आयी विपत्ति के प्रसंग में समझना चाहिये। यह सब रक्षार्थ किये गये उपाय हैं। रक्षा का प्रयत्न न करने में अहिंसा की कोई गरिमा नहीं रहती। अहिंसा तेजरहित नहीं बनाती वह अपना सब कुछ नष्ट करा देना नहीं सिखाता। अहिंसा दास बनने की प्रेरणा भी नहीं देती। इतिहास साक्षी है कि जब तक भारत पर अहिंसा-व्रती जन राजाओं का शासन रहा वह किसी भी विदेशी आक्रान्ता के समक्ष नतमस्तक नहीं हुआ किसी के अधीनस्थ नहीं रहा। अहिंसा प्रत्येक स्थिति में मनुष्य के चित्त को स्थिर रखती है, कर्तव्य का बोध कराती है और उस कर्तव्य पर उसे दृढ़ बनाती है। यही अहिंसा गृहस्थ को आत्म-गौरव से सम्पन्न बनाती है उसे निर्भीक और वीर बनाती है। □□

अध्याय १९

श्रावकाचार

□

जन सघ के चार अग होते हैं—मुनि आर्यिका, श्रावक और श्राविका। श्रावक एवं श्राविका का अर्थ है—क्रमश जैन गृहस्थ पुरुष एवं जैन गृहस्थ महिला। श्रावक शब्द का ही व्यवहार में बिगडा रूप सरावगी है। भारत के कई प्रान्तों में सरावगी शब्द का सामान्य प्रचलन है। श्रावक श्राविका का जैन सघ में महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। ये एसे अग हैं जो शेष दोनों अगों के उद्गम हैं श्रावकाचार (जैन गृहस्थ का आचार) वह आधार है जिसकी नीव पर मुनि-आचार का भव्यरूप अवस्थित होता है। जैनधर्म में श्रावक एव श्रमण (मुनिवर्ग) दोनों की साधना का विस्तृत विवेचन किया गया है। यो दोनों का आचार तात्विक दृष्टि से अभेद स्थिति में है। अन्तर केवल निर्वाह की गहनता एव व्यापकता का है। सिद्धान्त दोनों के लिए लगभग वे ही हैं। इसी अन्तर के आधार पर श्रावकाचार एकदेशीय व्रत और श्रमणाचार सर्वदेशीय व्रत कहलाता है।

जैन परम्परा में श्रावक शब्द का प्राय जो अर्थ स्वीकार किया जाता है उसके अनुसार वह व्यक्ति श्रावक है जो श्रमणो से निर्ग्रन्थ प्रवचनो का श्रद्धा सहित श्रवण करता है (सुनता है) और यथासभव रूप से उन प्रवचनो पर आचरण करने का प्रयत्न करता है। श्रावक शब्द संस्कृत के श्रु धातु से बना है जिसका अर्थ ही श्रवण (सुनना) है। इस प्रकार श्रमणो के प्रति श्रद्धालु होने उनकी उपासना करने के कारण श्रावको को श्रमणोपासक भी कहा जाता है। श्रमणोपासक ही व्यवहार में उपासक शब्द के रूप में भी प्रचलित हो गया है। क्योंकि श्रावक गृहस्थ होते हैं घर में रहते हैं अत उन्हें आगारी सागारी अथवा गृही भी कहा जाता है।

श्रावक होने की योग्यता

क्या प्रत्येक व्यक्ति श्रावक बन सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर हाँ और नाँ दोनों में हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति श्रावक नही बन सकता। कारण यह है कि जब तक किसी में श्रावक बनने की योग्यता नही होती वह नहीं बन सकता। और जब किसी में वह योग्यता विकसित हो जाती है तब वह श्रावक बन भी सकता है। अर्थात श्रावकत्व एक अपेक्षित अन्त बाह्य व्यक्तित्व है जो किसी व्यक्ति में श्रावक बनने के पूर्व अनिवार्य होता है। व्यक्तित्व के इन अपेक्षित गुणो को मार्गानुसारी गुण कहा गया है और ये सख्या में ३५ हैं। धर्म बिन्दु प्रकरण व योगशास्त्र में इनका विवेचन मिलता है।

मार्गानुसारी गुणों में कुछ ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध व्यावहारिक लोक जीवन से है। ऐसा सम्भव नहीं है कि कोई व्यक्ति अपने व्यावहारिक जीवन में तो भ्रष्ट पतित हो और आध्यात्मिक क्षेत्र में वह उन्नत हो। व्यक्ति का समग्र व्यक्तित्व तो किसी एक ही स्तर का हो सकता है। अतः ऐसा माना गया है कि आदर्श जीवन का निर्वाह करने वाला कोई सद्गृहस्थ ही श्रावक बनने की योग्यता रख सकता है। श्रावकीय साधना के लिए जिस क्षमता की आवश्यकता है उसी के अनुरूप योग्यता का निर्धारण इन मार्गानुसारी गुणों में किया गया है। इन गुणों के अनुसार श्रावक होने के पूर्व किसी व्यक्ति में निम्नलिखित योग्यताएँ अनिवार्य हैं—

वह न्यायपूर्वक धनार्जन करता हो, गुणीजनों का आदर करता हो व मधुर मृदुलवाणी का उच्चारण करता हो। इसके साथ ही यह भी अनिवार्य है कि वह धर्म, अर्थ और काम का सेवन इस प्रकार करता हो कि किसी अन्य के मार्ग में व्यवधान उपस्थित नहीं करे। श्रावक होने के लिए यह भी आवश्यक है वह लज्जाशील हो, आहार विहार युक्त हो, सदा सज्जनों की संगति में रहता हो और शास्त्रज्ञ, कृतज्ञ, दयालु, परोपकारी और जितेन्द्रिय हो।

मार्गानुसारी के ३५ गुण निम्नानुसार हैं—

(१) न्याय नीति से धनोपार्जन करे।

(२) शिष्ट पुरुषों के आचरण की प्रशंसा करे।

(३) अपने कुल और शील में समान, किन्तु भिन्न गोत्र वाले के साथ विवाह करे।

(४) पापों से भयभीत रहे।

(५) प्रसिद्ध देशाचार का पालन करे।

(६) किसी की भी विशेषतः राजा आदि की निन्दा न करे।

(७) न एकदम खुले और न एकदम गुप्त स्थान में घर बनाये।

(८) घर में बाहर निकलने के अनेक द्वार न हों।

(९) सदाचारी पुरुषों की संगति करे।

(१०) माता पिता की सेवा भक्ति करे।

(११) चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थानों से दूर रहे।

(१२) निन्दनीय कार्यों में प्रवृत्त न हो।

(१३) आय के अनुरूप ही व्यय करे।

(१४) अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार ही वस्त्र धारण करे।

(१५) बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होकर प्रतिदिन धर्म श्रवण करे।

(१६) अजीर्ण होने पर आहार न करे।

(१७) नियत समय पर संतोष के साथ भोजन करे।

(१८) धर्म के साथ अर्थ पुरुषार्थ काम पुरुषार्थ और मोक्ष पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करे कि किसी का बाधक न हो।

(१९) अतिथि साधु और दीन हीन जनों का यथायोग्य सत्कार करे।

(२०) कभी दुराग्रह से ग्रस्त न हो।

(२१) गुणों का पक्षपाती हो। जहाँ कहीं गुण दिखायी दें उन्हें ग्रहण कर न उनकी प्रशसा करे।

(२२) देश काल के प्रतिकूल आचरण नहीं करे।

(२३) अपनी शक्ति और अशक्ति को समझे। अपने सामर्थ्य के अनुरूप जो कार्य हों केवल उन्हीं को आरम्भ करे।

(२४) सदाचारी और अपने से अधिक ज्ञानी पुरुषों की विनय भक्ति करे।

(२५) अपने आश्रितों का पालन पोषण करे।

(२६) आगे पीछे का पूरा विचार करके कार्य करे।

(२७) अपने हिताहित को समझे।

(२८) लोकप्रिय हो अर्थात् सदाचार एवं सेवा-कार्यों द्वारा जनता से प्रेम प्राप्त करे।

(२९) कृतज्ञ हो अर्थात अपने प्रति किये गये उपकार को नम्रतापूर्वक स्वीकार करे।

(३०) लज्जाशील हो—अनुचित कार्य करने में लज्जा का अनुभव करे।

(३१) दयावान हो।

(३२) सौम्य हो मुखमण्डल पर शान्ति और प्रसन्नता की झलक हो।

(३३) परोपकारी हो।

(३४) काम क्रोध लोभ मोह मद व मात्सर्य इन मानसिक शत्रुओं को पराजित करे।

(३५) इन्द्रियों को अपने वश में रखे।

श्रावकव्रत विवेचन

प्राय बारह व्रतों के आधार पर श्रावकधर्म का विवेचन किया जाता है। उपासकाध्ययन तत्त्वार्थसूत्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में यही आधार माना गया है। इसके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द आचार्य वसुन[illegible] [illegible] कार्तिकेय आदि ने ग्यारह प्रतिमाओं को आधार मानकर श्रावकाचार की व्याख्या की है। सागार धर्मामृत में श्रावकाचार का विवेचन प[illegible] निष्ठा एवं साधन के आधार पर किया गया है। आचार्य जिनसेनकृत आदि पुराण में यही दृष्टिकोण पुष्ट रूप में पाया जाता है। निश्च[illegible] [illegible] गुण और धर्म की मानना [illegible] है। [illegible] श्रावक पाक्षिक कहलाता है। इसी प्रकार [illegible] कर [illegible]

वर्जित करना, बारह व्रत एवं ग्यारह प्रतिमाओं का निर्वाह करना निष्ठा है। इनका पालन करनेवाला नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। जीवन के अन्तिम समय में आहारादि का परित्याग करना साधन है और इसे अपनानेवाला साधक कहलाता है। श्रावकाचार का विवेचन इन ग्रन्थों में विस्तृत किया गया है किन्तु उन सभी विवेचनाओं में तात्त्विक एवं दार्शनिक समानता पायी जाती है—अन्तर केवल प्रस्तुतीकरण में ही है।

मूलरूप से सभी श्रावकाचार में द्वादश व्रतों एकादश प्रतिमाओं सहित अहिंसा आदि की ही प्रमुखता है। बारह व्रतों में ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत तथा ४ शिक्षाव्रत हैं। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' ने गुणव्रतों को पृथक् स्थान न देकर ७ शिक्षाव्रत ही मान लिये हैं। इस मत के अनुसार पंच अणुव्रत और सप्त शिक्षाव्रत ही माने गये हैं। पंच अणुव्रत पंचशील भी कहलाते हैं। 'अणु' का अर्थ है सूक्ष्म, संक्षिप्त रूप अथवा लघु या मर्यादित रूप। अहिंसा का उदाहरण लेकर समझना चाहें तो श्रमण हिंसा का पूर्ण परित्याग कर देते हैं अतः उनके द्वारा निर्वाहित अहिंसाव्रत 'महाव्रत' कहलाता है। गृहस्थ इतनी व्यापकता के साथ इस व्रत का पालन नहीं कर पाते अतः उनके द्वारा निर्वाहित अहिंसाव्रत अणुव्रत कहलाता है। [illegible] ये ५ आचार सिद्धान्त हैं जो पंच अणुव्रत के नाम से जाने जाते हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये पाँचों अणुव्रत आचार के मूलाधार कहे जाते हैं। इनका [illegible] पारलौकिक एवं सार्वकालिक महत्त्व रहता है। किसी भी समाज [illegible] इन व्रतों अथवा इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

बच नहीं पाता। उसे अपने जीवन निर्वाह हेतु इन सभी का उपयोग करना होता है और परिणामत हिंसा होती ही है। श्रावक को चाहिये कि वह इनका उपयोग ऐसी विधि से करे कि हिंसा कम से कम हो। इसी प्रकार त्रस जीवों की हिंसा भी ४ प्रकार की होती है—सकल्पी आरभी उद्योगी और विरोधी। इनमे से सकल्पी हिंसा का तो श्रावक को इच्छापूर्वक सवथा परित्याग करना ही चाहिये। यह असभव भी नही है। स्वाद मांसाहार मनोविनोद आदि के लिए किया जाने वाला प्राणिघात भी सहज त्याज्य है। मांसाहार के अतिरिक्त श्रावक को जीवित पशु को मौत के घाट उतारकर उसके चर्म से बनी वस्तुओं का उपयोग भी नहीं करना चाहिये। इसमें श्रावक प्रत्यक्षत तो हिंसा नहीं करता किन्तु वह हिंसा करवाता है। अन्य लोगों को हिंसा के लिए प्रेरणा देता है। गृहस्थ को अपने जीवन निर्वाह के लिए कुछ न कुछ आरभ करना ही पडता है अत आरभी हिंसा से वह सवथा बचा तो नहीं रह सकता है—यह सत्य है। फिर भी उसे ऐसा उद्योग करना चाहिये जिसमे जीवघात अल्पतम हो। साथ ही उसे उतना ही आरभ करना चाहिये जिससे उसकी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाय। इतने भर म जो हिंसा होती है—वह उसके लिये क्षम्य हो सकती है। किन्तु उसे लोभ मे आकर अधिक प्राप्ति का आरम्भ नही करना चाहिए। यदि कोई ऐसा करेगा तो हिंसा के लिये वह क्षम्य नही रहेगा। उसे थोड़े म ही सतुष्ट रहना चाहिये। असतोषी गृहस्थ सच्चा श्रावक नही हो सकता। वह कभी अहिंसाव्रती भी नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, असतोषी व्यक्ति लोभवश अधिकाधिक धनार्जन के उद्देश्य से एक के बाद एक कारखाना खोलता है परिणामत स्थूलहिंसा तो अधिक होगी ही साथ ही अन्यान्य प्रकार से भी वह हिंसा का भागी होता चला जायेगा। वह श्रमिकों से कम पारिश्रमिक देकर अधिक काम लेना चाहेगा। तभी उसके अधिक धनार्जन के लक्ष्य का पूरा होना सभव होगा। ऐसी दशा म श्रमिकों को कष्ट होगा। अल्प आय के कारण श्रमिकों के स्वजन भी कष्ट म रहेंगे। यह भी हिंसा ही होगी।

श्रमण और श्रावक की अहिंसा म तनिक अतर है। पृथ्वी, पानी अग्नि वनस्पति और वायु म भी जीव माना गया है। ये स्थावर जीव इन वस्तुओं के उपयोग से कम्पित पीडित और आघातित होते हैं। श्रमणों को भोजन बनाने भवन निर्माण करने आदि कार्यों द्वारा हिंसा म प्रवृत्त होने की छूट नहीं है किन्तु अनिवार्य होने के कारण श्रावकों को इसकी छूट है। हाँ इसका मर्यादित होना केवल आवश्यक सीमा तक ही होना तो श्रावकों के लिये भी आवश्यक है। श्रमण जन भिक्षा से आहार प्राप्त करते हैं भवन निर्माण नहीं करते। इसी छूट के कारण श्रावक सागारी और श्रमण अनगार कहलाते हैं। इसी प्रकार श्रमण की सर्वहिंसाविरति होती है जबकि श्रावक की अहिंसा एकदेशीय होती है। श्रमण के लिये विधान है

विवशता का अनुचित लाभ उठाना किसी पर असह्य आर्थिक भार डालना, अन्याय पूर्वक किसी का शोषण करना आदि कार्य भी वध के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। जिस कार्य से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में त्रस प्राणियों की हिंसा होती है—वह वध है।

(३) छवि-छेद—किसी प्राणी के अंग अथवा अंगों को काट देना छवि-छेद अतिचार है। निर्दयतापूर्वक किसी प्राणी का हाथ पर कान नाक आदि काट देना घोर हिंसा है। यहाँ ध्यातव्य यही है कि यदि ऐसा उस प्राणी के हित को देखते हुए अनिवार्य समझ कर किया गया है तो यद्यपि प्राणी कष्टित हुआ है, तथापि यह हिंसा नहीं कहलायगी। उदाहरण के लिए किसी के शरीर का कोई अंग इस प्रकार सड़-गल गया है कि उसे काटकर अलग कर देना अनिवार्य हो गया है, अन्यथा उस प्राणी के प्राण ही संकट में हैं तो शल्य चिकित्सक द्वारा दूषित अंग का काटना इस प्रकार के अतिचार का अपवाद कहा जायगा। किसी के परिश्रम का उचित से कम पारिश्रमिक देना अथवा किसी की आजीविका को ही नष्ट कर देना आदि भी इसी प्रकार के दोष कहे जाएंगे।

(४) अतिभार—क्रोध अथवा लोभ के वशीभूत होकर कभी कभी मनुष्य ऊंट बैल घोड़ा गधा आदि पशुओं पर अथवा अपने कर्मचारियों पर इतना अधिक बोझा लाद देता है जो उनके सामर्थ्य और शक्ति से बहुत अधिक होता है। यह भी एक उत्पीड़न है और इस कारण हिंसा है। कृषि कार्य में प्रायः पशुओं के साथ ऐसी निर्दयता होती है। भार की अधिकता के साथ साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि पशु अथवा मनुष्य से लगातार केवल उतने ही समय तक काम लिया जाना चाहिये, जितने समय तक वह सुगमता के साथ कर सके। किसी से भी उसकी शक्ति की अपेक्षा अधिक कार्य करवाना—अतिभार है। सच्चे श्रावक को इस सम्बन्ध में अपने सामने यह कसौटी रखनी चाहिए कि जितने समय तक और जितना काम वह स्वयं कर सकता है, उतना ही कोई अन्य व्यक्ति कर सकता है।

(५) भक्तपानविच्छेद—किसी भी प्राणी के आहार पर रोक नहीं लगायी जानी चाहिये। श्रावक को चाहिये कि उचित समय पर अपने अधीन और आश्रित प्राणियों को आहार देकर स्वयं भोजन ग्रहण करे। क्रोध अथवा वैमनस्य के कारण भी किसी को निराहार नहीं रखना चाहिये। किसी प्राणी को भूखा-प्यासा रखना भक्तपानविच्छेद अतिचार है। अहिंसक को सदा इससे भी बचना चाहिये। कर्मचारियों को समय पर वेतन पारिश्रमिक आदि का भुगतान न करना भी इसी अतिचार के अन्तर्गत माना जायगा क्योंकि हमारे इस कार्य से कर्मचारी और उनके आश्रितों को भूख की पीड़ा सहन करनी पड़ती है। कर्मचारी को उसकी आवश्यकता से कम देना भी इसी प्रकार का अपकार होगा।

रात्रिभोजन एवं जलगालन

हिंसाव्रती श्रावकों के लिए रात्रिभोजन का निषेध है। श्रावक जन नियमित रूप से सायं भोजन सूर्यास्त से पूर्व ही कर लिया करते हैं। सामान्यतः आजकल कुछ लोगों में दकियानूसीपन अनुभव किया जाता है किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है। दकियानूसी विचार तो सदा अकारण होते हैं। रात्रिभोजन का निषेध कारणों सहित किया गया है। रात्रिभोजन की बुराई आजकल व्यापक रूप लेती जा रही है। बड़े-बड़े भोज रात्रि में होते हैं—यह भी फैशन का एक अंग हो गया है। सच्चा श्रावक इस नियम का कभी उल्लंघन नहीं करता।

रात्रिभोजन कई दृष्टियों से अनुपयुक्त है। रात्रि में स्वाभाविक प्रकाश की कमी होती है, परिणामतः खाद्य सामग्री में अनेक प्रकार के सूक्ष्माकार के कीट प्रविष्ट हो जाते हैं और वे दृष्टिगोचर नहीं होते। भोजन के साथ ये कीट उदरस्थ होकर कई प्रकार के रोग और विकार उत्पन्न करते हैं। सूर्य के प्रकाश में अनेक कीट छिप जाते हैं और सूर्यास्त होने पर वे पुनः मुक्त विचरण करने लगते हैं। इन में से अनेक तो बड़े भयंकर कीट होते हैं। रात्रिभोजन से बचने वालों के लिए इनसे स्वतः ही सुरक्षा हो जाती है। इन विभिन्न प्रकार के कीट-पतंगों से अनेकानेक संकटों का भय बना रहता है। रात्रिभोजन का एक और प्रत्यक्ष हानिकारक परिणाम है और वह यह कि रात्रि में विलम्ब से भोजन करने के कारण व्यक्ति तुरन्त ही सो जाता है और ऐसा करना अनुपयुक्त है। भोजन के कोई ३-४ घंटों पश्चात् ही उदरस्थ भोजन के परिपाक की प्रक्रिया आरम्भ होती है। उससे पूर्व शयन का निषेध है। रात्रि में भोजन करने वालों को यह अवसर प्रायः नहीं मिलता और उनके स्वास्थ्य की हानि होती है। सूर्यास्त के पूर्व ही भोजन कर लेना न केवल अहिंसा के लिए अपितु स्वयं के स्वास्थ्य और जीवन रक्षा के लिए भी अनिवार्य है।

श्रावकजन इसी प्रकार पानी भी छानकर ही प्रयोग में लाते हैं। अनछने पानी में अनेक कीटों के होने की आशंका रहती है जो अनेक प्रकार की व्याधियों के कारण बन जाते हैं। हैजा आदि अनेक संक्रामक रोगों से बचने के लिए चिकित्सक भी पानी उबालकर पीने का परामर्श देते हैं। इसका यही कारण है कि उबल जाने से पानी कीटाणुरहित हो जाता है। यह पक्का हुआ पानी कहलाता है, जो कभी भी किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं करता। जैन साधु तो सदा पके हुए पानी का ही प्रयोग करते हैं। श्रावकों के लिए प्रतिबन्ध इतना दृढ़ नहीं है, तथापि अनछना पानी तो वर्जित है ही। पका हुआ पानी छने हुए पानी से भी श्रेष्ठ होता है किन्तु अनछने की अपेक्षा छना हुआ पानी श्रेष्ठ है। यह भी एक प्रकार की अनिवार्य सावधानी है, जिससे अनेक प्रकार की अप्रिय घटनाएं टल जाती हैं। नीरोगता का आधार सुदृढ़ हो जाता है और हिंसा से तो छुटकारा मिलता ही है।

(२) सत्याणुव्रत (स्थूलमृषावादविरमण)

श्रावकों के लिए यम नियम द्वारा अणुव्रत सत्य सम्बन्धी है। श्रावकों को मिथ्या भाषण न करना चाहिये। जो वस्तु जैसी हो अथवा सुनी गयी है उसके विषय में अन्यथा न कहना—असत्य अथवा झूठ है। सामाजिक जीवन में सत्याचरण के लिए परम आवश्यक होता है। असत्यानुसार सत्य कोई स्वतन्त्र व्रत नहीं है। यह तो शेष तथाकथित व्रतों की भाँति प्रथात् क्रमशः अहिंसाव्रत का पूरक मात्र है। सत्याचरण से अहिंसाव्रत का पालन होता है उसके पालन में सहायता मिलती है। इसके विपरीत असत्याचरण से अहिंसाव्रत का निर्वाह सम्भव नहीं हो पाता। इसी कारण कभी-कभी अमुक आचरण सत्य होते हुए भी असत्य की सीमा में आ जाता है। ऐसे वचन जो तर्क की दृष्टि से सत्य की कसौटी पर खरे उतरते हैं वे भी यदि किसी के मन को दुःख पहुँचाने के लिए कहे गये हैं अथवा सुनकर किसी मन को ठेस पहुँचती है—निर्विवाद रूप से वे वचन असत्य की श्रेणी में आएँगे। कारण यह है कि उन वचनों के उच्चारण में हिंसा का परिहार सम्भव नहीं हुआ है। अहिंसाव्रत के पालन में जो बाधक है वह सत्य—सत्य ही नहीं रह जाता। यदि परिस्थिति ऐसी है कि सत्य बोलने से किसी के प्राणों पर संकट आ रहा है तो ऐसे अवसर पर असत्य का आचरण करना समाधान समझा जायगा। दूसरे के प्राणों की रक्षा करना भी तो अहिंसा है और इस प्रकार यह असत्य अहिंसा का पूरक होकर सत्य बन जाता है। अब तनिक एक अन्य दृष्टि से भी विचार कर लेना चाहिये। यदि संकटित प्राणी स्वयं अत्याचारी है, हिंसक है तो क्या असत्य भाषण कर हम उसके प्राणों की भी रक्षा करनी चाहिये? निर्णय की कसौटी अब भी वही रहेगी। अब प्रश्न यह आयगा कि क्या असत्याचरण द्वारा हमने किसी के प्राणों की ही रक्षा की है अथवा उसके द्वारा होने वाले अत्याचारों और अनीतियों की भी रक्षा की है? निश्चय ही उत्तर यह होगा कि हमने अत्याचारों अर्थात् हिंसा की रक्षा की है उन्हें बढ़ावा दिया है। अतः ऐसी परिस्थिति में असत्य—असत्य ही रह जायगा। वह सत्यवत् न हो सकेगा। जीवन की रक्षा तो इष्ट है, किन्तु अत्याचारों व अनीतियों को रक्षित करना सर्वथा अनुपयुक्त एवं हिंसा को प्रेरित करना होगा। और अधिक व्यापक स्तर पर विचार किया जाय तो एक बिन्दु यह भी आता है कि जिस अत्याचारी व्यक्ति की चर्चा है—उसके साथ जो शुभ व्यवहार किया जा रहा है उसके प्राणों की रक्षा की जा रही है—उसके कारण उसका हृदय परिवर्तन भी तो हो सकता है। उसे आत्म सुधार का अवसर दिया ही जाना चाहिये। और इस दृष्टि से प्राणरक्षा का महत्त्व बढ़ जाता है। प्रत्यक्षतः यह अहिंसा तो है ही और इस हेतु जो भी अभिव्यक्ति दी गयी है—वह सत्य से कम नहीं कही जा सकती।

असत्य वचन अनेक प्रकार के हो सकते हैं। यथा—मनुष्य के विषय में

सत्य कहना। मनुष्य जैसा है उससे भिन्न उसके विषय में बताना—भले को बुरा बुरा और बुरे को भला बताना इसी प्रकार का मिथ्या भाषण है। पशु पक्षियों के विषय में भी झूठ बोला जाता है। जैसे गायों का विक्रेता किसी ग्राहक से किसी गाय को दूध की मात्रा बढ़ा-चढ़ाकर बताये। इसी प्रकार जड़ पदार्थों के विषय में भी असत्य भाषण किया जाता है। जैसे—किसी अन्य की सम्पत्ति को अपना कहना कराधि से बचने के लिए मिथ्या आय व्यय बनाना आदि। वैमनस्य के कारण किसी के विरुद्ध झूठी गवाही देना भी असत्य का ही एक प्रकार है। पराया सम्पत्ति जो धरोहर के रूप में किसी के पास रखी है, व्यक्ति लोभवश उसे अपना ही बताकर भी असत्याचरण करता है। एस-एसे अनेक प्रकार के असत्य होते हैं और श्रावक को इनका आश्रय कभी भी नहीं लेना चाहिये। इनसे चित्त की अनुपयुक्त वृत्तियां पनपती हैं। जिस प्राणी को हमारे असत्य से किसी प्रकार की हानि होती है उसे हम इस प्रकार कष्ट पहुँचा कर हिंसा के भागी भी बनते हैं।

असत्याचरण के लिए कतिपय आधारभूत कारण हो सकते हैं। कभी व्यक्ति क्रोध अथवा लोभ के कारण झूठ बोलता है तो कभी द्वेष के कारण। इसी प्रकार कभी दबाव के भय के कारण व्यक्ति असत्य बोल जाता है और कभी वह मात्र विनोदवश ही झूठ बोल जाता है। मनुष्य को निर्भीक होकर सत्याचरण करना चाहिये। सत्यवादी जन ईर्ष्या, द्वेष, वैर, वैमनस्य, लोभ, क्रोधादि पर विजय प्राप्त कर सत्याचरण पर स्वयं को दृढ़ करते हैं।

आचार्य उमास्वाति ने असत्य की व्याख्या निम्नानुसार की है—

(क) जो बात नहीं है—उसका कहना।

(ख) बात जैसी है उसे वैसी न कहकर अन्य रूप में कहना। कथनकर्ता अपनी रुचि-अरुचि के अनुसार बात को अच्छी अथवा बुरी बनाकर प्रस्तुत कर देता है और वास्तविकता को आवृत करता है।

(ग) दुर्भावनापूर्वक असत्य भाषण करना। यह दुर्भावना भी दो प्रकार की हो सकती है—

(अ) स्वार्थ सिद्धिमूलक—अपने किसी लाभ अथवा स्वार्थ के वशीभूत होकर सत्य को प्रकट नहीं करना।

(ब) द्वेषमूलक—दूसरे को हानि पहुँचाने के प्रयोजन से सत्योद्घाटन नहीं करना।

सत्याणुव्रत मुख्यतः भाषण अथवा वचन से सम्बन्धित होता है, किन्तु सत्यासत्य का मानसिक रूप भी होता है और कायिक व्यापार भी। सत्य को जानबूझ कर मन ही मन सत्य स्वीकार न करना इसी प्रकार का मानसिक मृषावाद है। कम तौलना अथवा कम नापना कायिक असत्याचरण के उदाहरण हो सकते हैं। अन्य व्रतों

की भांति सत्यव्रत का पालन भी श्रमण एवं श्रावक एक सा नहीं कर पाते। श्रावक के लिए अपेक्षित है कि वह स्थूलमृषावाद का परित्याग करे। श्रावक को चाहिये कि किसी भी कारणवश मिथ्या भाषण न करे। इसके लिए उसे क्रोध लोभ भय तथा हास्यादि से सावधानीपूर्वक बचना पड़ता है। पूर्ण सावधानी बरतते हुए भी श्रावक से सत्यव्रत के पालन में कुछ दोष हो जाने की आशंका रहती है। ये दोष निम्नानुसार हैं—

(१) सहसाभ्याख्यान—बिना सोच विचार किये किसी के विषय में जनधारणा को बिगाड़ना इस दोष के अंतर्गत आता है। इस उद्देश्य से किसी के विषय में वह बात कही जाती है जो उसके विषय में असत्य अथवा मिथ्या है। जैसे विद्वान को मूर्ख बताना अथवा सज्जन को दुर्जन बताना आदि।

(२) रहस्याभ्याख्यान—किसी की गोपनीय बात अथवा भेद को प्रकट करके उससे साथ विश्वासघात करना।

(३) स्वदारमंत्रभेद—पति और पत्नी की गुप्त बातों को इन में से किसी द्वारा अन्यों के सामने प्रकट किया जाना।

(४) मिथ्योपदेश—सच्चा झूठा कहकर अथवा बहकाकर किसी को कुमार्गी बना देना।

(५) कूटलेखक्रिया—मुहर हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठा लिखा-पढ़ी करना, खोटे सिक्के चलाना आदि।

श्रावकों को चाहिये कि वे इन सभी अतिचारों से बचते हुए सत्याणुव्रत का पालन करें।

(३) अचौर्याणुव्रत (स्थूलअदत्तादानविरमण)

अचौर्य का भाव है—चोरी नहीं करना। श्रावक के लिए इस अणुव्रत का पालन करना भी सर्वथा अनिवार्य है। कोई वस्तु किसी के देने पर ही ग्रहण करनी चाहिये। किसी वस्तु के स्वामी की अनुमति के बिना उस वस्तु को अपने अधिकार में कर लेना चोरी है। जैन परम्परा में अचौर्यव्रत के अन्तर्गत चौर्य कर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन मिलता है। इस दृष्टि से अल्पतम चौर्य भी अकरणीय ही है। श्रमण के लिए तो दांत कुरेदने के लिए तृण भी बिना अनुमति के ग्रहण करना वर्जित है। अदत्तादान (अदत्त आदान) का अर्थ है बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करना और श्रावकों के लिए स्थूल अदत्तादान का निषेध है। किसी के घर में सेंध लगाना ताला तोड़कर या चुरा लेना जेब काट लेना स्वामी की जानकारी के बिना उसके पात्र या गांठ आदि से वस्तु निकाल लेना ठगी करना डाका डालना किसी के गड़ा हुआ या छिपाया हुआ धन निकाल लेना आदि स्थूलअदत्तादान के ही उदाहरण

है। श्रावक के लिए इस प्रकार का आचरण निषिद्ध समझा गया है। यहाँ तक कि अज्ञात व्यक्ति की कोई वस्तु कहीं पड़ी मिल जाय और यदि पाने वाला व्यक्ति स्वामी की खोज न करके वस्तु को अपने पास ही रख ले तब भी और स्वामी का पता लग जाने पर वस्तु उसे न लौटाये तब भी—यह कार्य चौयकर्म के अन्तर्गत ही माना जायेगा। अस्तु श्रावकों को इस सन्दर्भ में अतिशय सतर्कता के साथ व्यवहार करना चाहिये। किसी व्यक्ति की वस्तु बिना उसकी अनुमति के प्राप्त कर ली जाय और प्राप्त करने वाला चाहे उसे अपने उपयोग में न भी लाये उसे किसी अन्य व्यक्ति को दे दे—तब भी उसका कर्म अचौर्य के अन्तर्गत नहीं आ सकता।

जो वस्तुएँ सर्वसाधारण के उपयोगार्थ बनी हैं जैसे—जल मिट्टी आदि—उन्हें व्यक्ति बिना किसी की अनुमति के भी ग्रहण कर सकता है। किसी व्यक्ति के मरणोपरान्त उसकी सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारी द्वारा ग्रहण की जा सकती है। अनुमति की अपेक्षा ऐसी स्थिति में नहीं रहती। किन्तु व्यक्ति के जीवन काल में उत्तराधिकार प्राप्त अन्य व्यक्ति ऐसा व्यवहार करे तो वह अनुपयुक्त है चोरी है। अचौर्यव्रत के पालनकर्ता को यदि अपनी ही किसी वस्तु में भी इस बात का सन्देह हो जाय कि यह वस्तु मेरी है अथवा नहीं तो जब तक सन्देह समाप्त न हो जाय यह स्पष्ट न हो जाय कि हाँ यह वस्तु मेरी ही है तब तक उसे ग्रहण नहीं करता।

अचौर्यव्रत में भी पूरी सतर्कता के बाद भी कुछ दोष हो जाने की आशंका रहती ही है। इन अतिचारों के विषय में श्रावक को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये। ये ५ अतिचार निम्नानुसार हैं—

(१) स्तेनाहृत—किसी चोर को चोरी के लिए स्वयं प्रेरणा देना अथवा किसी द्वारा प्रेरित करवाना स्तेनाहृत अतिचार है। चोरी करने में सहायक उपकरण बचना या चोर को अपनी ओर से देना चोरी के माल को खरीदना आदि इसी प्रकार की प्रेरणा देना है। इस प्रकार किसी को चौयकर्म में प्रवृत्त करने का कार्य स्वयं में भी एक चोरी ही है।

(२) तस्करप्रयोग—चोरों को वेतनादि देकर उनसे चोरी डकैती ठगी आदि करवाने का धंधा भी अचौर्यव्रत के प्रतिकूल है। ऐसा व्यक्ति यह तर्क प्रस्तुत नहीं कर सकता कि स्वयं मैंने चोरी नहीं की है।

(३) विरुद्धराज्यातिक्रम—राज्य अपने और प्रजा के हित में अनिवार्य समझकर आयात निर्यात आदि और कर सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्ध और नियमादि का विधान करता है। इन राजकीय नियमों के विरुद्ध व्यापार करना भी एक अतिचार है।

(४) कूटतुला-कूटमान—बाँट तराजू मीटर आदि का कमती या बढ़ती रखना और कमती से मान देना तथा बढ़ती से लेना भी चोरी है। इससे व्यक्ति

यह यह कदापि नहीं है कि औषधि का सेवन अधिकाधिक करने के प्रयोजन से रोग को बढ़ाया जाय। इस कारण उस तक पत्नी का सेवन कर कामवृत्ति को विकृतित करना अनुपयुक्त है। यह काम का अप्राकृतिक रूप होगा जो पति-पत्नी दोनों के लिए हानिकारक होता है। श्रावकों के लिए भी केवल प्राकृतिक परिमाण में ही (स्वस्त्री के सदर्भ से) काम तृप्ति की छूट है।

इस व्रत के भी ५ अतिचार हैं जिनसे ब्रह्मचर्य व्रती को निरन्तर पृथक रहना चाहिये।

(१) इत्वरिक परिगृहीतागमन—इस अतिचार का अर्थ ऐसी स्त्री के साथ सहवास करने से है जो केवल कुछ समय के लिए साथ रखी गयी हो। ऐसी स्त्री धनोपार्जक होती है। पत्नी आजीवन साथ रहती है और वह पति के धर्म में भी सहायता देती है। वही वह धर्मपत्नी कहलाती है। केवल भोग हेतु कुछ काल के लिए साथ रखी गयी स्त्री भोगपत्नी कहलाती है। वह विवाहिता पत्नी की भाँति धर्म तथा कुल के उत्थान में सहयोग नहीं कर सकती। ऐसी स्त्री के साथ श्रावक का सहवास निषिद्ध माना गया है।

(२) अपरिगृहीतागमन—वेश्यादि के साथ सहवास करना।

(३) अनंगक्रीड़ा—इस अतिचार का सम्बन्ध अप्राकृतिक मैथुन से है। कृत्रिम साधनों द्वारा कामाचार का सेवन करना ही अनंगक्रीड़ा है। श्रावक को इस से भी बच रहना चाहिये।

(४) पर विवाह करण—कन्या-दान को पुण्य कर्म मानकर और रागादि के वशीभूत होकर अपने स्वजनों के पुत्र-पुत्रियों के लिए वर-वधू योजना उनके विवाहादि के प्रपंच में पड़ना—पर विवाहकरण अतिचार है। इससे श्रावक को बचना चाहिये। वह केवल अपने पुत्र-पुत्री के विवाह का उपक्रम वह कर सकता है।

(५) काम भोग तीव्राभिलाषा—इस अतिचार का अर्थ है—काम-क्रीड़ाओं के प्रति तीव्र आसक्ति भाव।

उपर्युक्त अतिचार—सद्गृहस्थ के सदाचार शील एवं ब्रह्मचर्य को हानि पहुँचाते हैं और श्रावकों के लिए इनसे सावधानीपूर्वक बचने का विधान है। सारांश यह है कि सद्गृहस्थ को दुराचारिणी स्त्रियों के सम्पर्क से बच रहना चाहिये, अश्लील बात नहीं बकना चाहिये, शक्ति से अधिक काम सेवन नहीं करना चाहिये अप्राकृतिक मैथुन नहीं करना चाहिये तथा अन्य जनों के विवाहादि प्रसगों में नहीं पड़ना चाहिये। ये कुछ ऐसे उपाय हैं जिन्हें अपनाकर श्रावक ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करने में सुगमता का अनुभव कर सकता है।

(५) अपरिग्रह अणुव्रत (स्थूलपरिग्रहपरिमाणव्रत)

मनुष्य के मन में सांसारिक पदार्थों—धन सम्पत्ति स्त्री पुत्रादि के विषय में

कैसा लाभ जो विषय ह्रद में जितना ... ? अरे संसार के तृष्णातुर प्राणियो ! तुम्हारी विषयों की चाह व्यर्थ है।

न्याययुक्त कमाई से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तो कर ही सकता है पर धन का अपार भण्डार एकत्रित नहीं कर सकता। वह तो पाप की कमाई से ही सम्भव है। गुणभद्राचार्य के वचनानुसार तो— 'सज्जनों की सम्पत्ति शुद्ध न्यायोपार्जित धन से नहीं बढ़ती। क्या कभी भरी-पूरी नदियाँ भी स्वच्छ जल से परिपूर्ण देखी गयी हैं?' सत्य है जब नदियाँ लबालब भरी होती हैं तो उनका पानी मटमैला गंदला ही होता है। इसी प्रकार अधिक संग्रह भी पाप की कमाई से ही सम्भव होता है और ऐसा व्यवहार श्रावकजनोचित नहीं समझा जा सकता। न्याय की कमाई को अपनाने वाला श्रावक कभी किसी अन्य के लिए दुःख का कारण नहीं बनता है। यही उसका आदर्श आचरण है।

समस्त परिग्रह को ६ विभागों में विभक्त किया गया है—

(१) क्षेत्र—उपजाऊ भूमि का मैदान।

(२) वास्तु—विभिन्न प्रकार के भवनादि।

(३) हिरण्य—चाँदी के आभूषण पात्र आदि।

(४) सुवर्ण—सोने के आभूषण, पात्रादि।

(५) धन—मुद्रा आदि।

(६) धान्य—अन्न चावल आदि कृषि उत्पादित खाद्य पदार्थ।

(७) द्विपद—दो पैर वाले स्त्री-पुरुष तोता मैना आदि पक्षी।

(८) चतुष्पद—चार पैर वाले प्राणी—जैसे गाय भैंस बैल हाथी घोड़ा भेड़ बकरी आदि।

(९) कुप्य या गोप्य—सोने-चाँदी की वस्तुओं के अतिरिक्त जो अन्य वस्तुएँ हैं वे कुप्य हैं जैसे लोहा ताँबा पीतल आदि धातुओं से निर्मित वस्तुएँ। गाड़ी रथ मोटर आदि वाहन और वाहन रूप में प्रयुक्त होने वाले द्विपद या चतुष्पद भी कुप्य के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं।

परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार भी संख्या में ५ ही रखे गये हैं जिनके सम्बन्ध उपर्युक्त परिग्रहों से ही हैं—

(१) क्षेत्र वास्तु परिमाणातिक्रम।

(२) हिरण्य-सुवर्ण परिमाणातिक्रम।

(३) द्विपद-चतुष्पद परिमाणातिक्रम।

(४) धन धान्य परिमाणातिक्रम।

(५) कुप्य-परिमाणातिक्रम।

श्रावक को अपरिग्रहव्रत का पालन करने की दृष्टि से निम्नलिखित ५ दोषों से भी बचने का परामर्श दिया जाता है—

(१) लोभवश मनुष्यों और पशुओं से उनकी शक्ति की अपेक्षा अधिक काम लेना।

(२) आगे चलकर अत्यधिक लाभ मिलेगा—इस आशा के साथ धान्यों का संग्रह करके रखना।

(३) धान्य संग्रह का कम लाभ पर बेच देने अथवा धान्य संग्रह बिलकुल नहीं करने अथवा कम करने अथवा धान्य संग्रह से अन्य लोगों को काफी लाभ होते हुए देखकर मन में दुःख और खिन्नता का अनुभव करना।

(४) पर्याप्त लाभ होने हुए भी उसमें अधिक लाभ की कामना करना।

(५) अधिक लाभ होते देखकर धनादि की स्थिर की गयी मर्यादा को बढ़ा लेना आदि।

श्रावकजन के लिए उचित है कि वे इस व्रत का पूर्णतः पालन करें और इन दोषों से बचें। स्थिर की गयी मर्यादा से अधिक प्राप्ति हो जाने की दशा में इसे दानादि द्वारा धनादि के परिग्रह को पुनः मर्यादित कर लेना चाहिए।

गुणव्रत त्रयी

श्रावक के लिए गुणव्रत त्रयी की व्यवस्था भी है। पूर्व में जिन पाँच अणुव्रतों की चर्चा की गयी है गुणव्रत त्रयी उनकी रक्षा एवं उनके विकास का काम करती है। इस प्रकार ये गुणव्रत श्रावक द्वारा आवश्यक रूप से पालनीय माने गये हैं। इनसे उसके द्वारा पाले गये अणुव्रत और अधिक दृढ़ होते हैं। ये गुणव्रत हैं—

(१) दिशापरिमाणव्रत

(२) उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत

(३) अनर्थदण्डविरमणव्रत

(१) दिशापरिमाणव्रत

पंच अणुव्रत के क्रम में दिशा-परिमाण को छठा व्रत भी माना जाता है। श्रावक गृहस्थ होता है अतः प्रवृत्तिशील होना उसके लिए स्वाभाविक ही है। इस गुणव्रत द्वारा उसकी प्रवृत्तियों के क्षेत्र पर मर्यादा डाला जाता है। उसे ससीम बनाया जाता है। श्रावक द्वारा यह निश्चय किया जाता है कि दसों दिशाओं में मैं अमुक निश्चित सीमा से आगे अपनी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियाँ नहीं करूँगा। श्रमण के लिए इस प्रकार की किसी प्रतिज्ञा के लिए कोई स्थान नहीं है। कारण यह है कि श्रमण तो स्वार्थरहित होकर सर्वमंगल की कामना एवं प्रयत्न सहित ही विहार करता है। वह किसी प्राणी के लिए कष्ट का कारण बनता ही नहीं है। हाँ गृहस्थ द्वारा हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ भी संभव हैं अतः श्रावक के लिए ऐसी मर्यादा अपेक्षित है। श्रावक से यह दृढ़तापूर्वक आशा की जाती है कि वह अपने क्षेत्र से बाहर हस्तक्षेप नहीं करेगा।

श्रावक को चाहिये कि वह उपयुक्त सूची में जो श्रावक दिये गये हैं, उनके अन्तर्गत वस्तुओं का स्पष्ट निर्धारण करे एवं उनकी मात्रा की भी मर्यादा स्थिर कर ले। अन्य कोई वस्तु यदि उपभोग परिभोग की हो तो उसके विषय में भी मर्यादा का स्थिर करना अनिवार्य है और उसका दृढ़ता के साथ पालन भी किया जाना चाहिये। केवल वे ही वस्तुएँ और उतनी ही मात्रा में उपयोग में लानी चाहिये।

उपभोग परिभोग परिमाणव्रत के पालन में भी कुछ दोष हो जाने की आशंका रहती है अतः इनके प्रति श्रावक को विशेषतः जागरूक रहना चाहिये। ये दोष या अतिचार निम्नानुसार हैं—

(१) सचित्ताहार—मर्यादा में जिन सचित्त वस्तुओं का निर्धारण नहीं है उनका आहार करना।

(२) सचित्त प्रतिबद्धाहार—त्यक्त सचित्त वस्तु से सम्बद्ध या जुड़ी हुई अचित्त वस्तु का आहार जैसे—गोंद, खजूर आदि।

(३) अपक्वाहार—सचित्त वस्तु का त्याग होने पर बिना अग्नि के पके कच्चे शाक, बिना पके फलादि का सेवन।

(४) दुष्पक्वाहार—अद्धपक्व वस्तु का आहार।

(५) तुच्छौषधिभक्षण—उस वस्तु का आहार जो कम खायी जाय और जिसका अधिकांश भाग बाहर फेंक दिया जाय जैसे—तरबूज, सीताफल आदि।

सावधानीपूर्वक इन अतिचारों से बचने के प्रयत्न के बावजूद भी यदि कोई दोष लग ही जाय तो श्रावक को चाहिये कि वह प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण कर ले।

जीवन निर्वाह के लिए उपभोग परिभोग की वस्तुएँ अपेक्षित रहती हैं और वे चाहे कितनी ही सीमित भी क्यों न कर ली जायें उनकी प्राप्ति के लिए कुछ उद्यम भी करना ही पड़ता है। इस प्रकार स्वाभाविक रूप से कुछ हिंसा तो हो ही जाती है। श्रावक को चाहिये कि ऐसी वस्तु की मर्यादा न करे जिसकी प्राप्ति के लिए महारंभ करना पड़े—अर्थात् जिसमें अतिहिंसा होती हो। ऐसे कार्य कर्मादान कहलाते हैं जो संख्या में १५ हैं—

(१) अंगार कर्म—अग्नि सम्बद्ध व्यापार जैसे—कोयला बनाना, मिट्टी के बर्तन बनाना, ईंट बनाना आदि।

(२) वनकर्म—वन घास काट ईंधन आदि के लिए वन काटना।

(३) शकट कर्म—गाड़ी, तांगा, मोटर, रिक्शा आदि बनाना।

(४) भाटक कर्म—वाहनादि किराये पर देना।

(५) स्फोट कर्म—भूमि फोड़ने का व्यापार जैसे—खनन कार्य, नहर निर्माण, भवन निर्माण आदि।

(६) दन्त वाणिज्य—हाथी दाँत आदि का व्यापार।

(७) केश वाणिज्य—बालों का अथवा बाल वाले पशुओं का व्यापार।

(८) लाक्षा वाणिज्य—लाख आदि का व्यापार।

(९) रस वाणिज्य—मदिरा आदि का व्यापार।

(१०) विष वाणिज्य—जहरीले पदार्थों एवं घातक अस्त्र शस्त्रों का व्यापार।

(११) यन्त्र पीडन कर्म—मशीन चलाने आदि का व्यवसाय।

(१२) निर्लाञ्छन कर्म—प्राणियों के अंगों को छेदने काटने आदि का कार्य।

(१३) दावाग्निदापन कर्म—जंगल खेत आदि में आग लगाने का कार्य।

(१४) तडाग शोषण कर्म—झील सरोवर आदि को सुखाने का कार्य।

(१५) असतीजन पोषण कर्म—दुश्चरित्र स्त्रियों का पालन समाजविरोधी तत्त्वों का संरक्षण आदि।

श्रावक ऐसे अतिहिंसात्मक कर्मों से सदा बचता है और जीविका के लिए ऐसे ही कार्य करता है जिनमें कम से कम हिंसा होती हो।

(३) अनर्थदण्डविरमणव्रत

अपने और अपने आश्रितों के जीवन निर्वाह के लिए किये गये कार्यों में हुई न्यूनतम संभव हिंसा अपनी अनिवार्यता के कारण क्षम्य होती है। किन्तु निष्प्रयोजन रूप से की गयी हिंसा क्षम्य नहीं होती और श्रावक को इस प्रकार के कार्यों से बचना चाहिये। श्रावक को ऐसे कार्य करने ही नहीं चाहिये जिनसे किसी प्रकार का लाभ प्राप्त करने का प्रयोजन भी न हो और जिनसे दूसरों को कष्ट भी पहुँचे। इसी अनर्थदण्ड से बचाने का कार्य यह व्रत करता है। अनर्थदण्ड या प्रयोजनरहित हिंसा के चार रूप पाये जाते हैं—

(१) अपध्यानाचरित—इसके अन्तर्गत उस हिंसा का स्थान है, जो दुश्चिन्तन अथवा क्रूर विचारों के कारण हो जाती है।

(२) प्रमादाचरित—आलस्यवश शुभ प्रवृत्तियों से बचना अथवा उनके करने में विलम्ब करना अथवा अशुभ प्रवृत्तियों में लगना।

(३) हिंस्रप्रदान—अन्यजन को आखेट के लिए शस्त्रादि देकर सहायता करना और उसे हिंसा के लिए प्रेरित करना—इसी प्रकार का कार्य है। इस कोटि में हिंसात्मक कार्यों के लिए दी जाने वाली आर्थिक सहायता भी आ जाती है।

(४) पापकर्मोपदेश—किसी प्राणी (मनुष्य अथवा पशु-पक्षी आदि) का घात करने अथवा उन्हें पीड़ा पहुँचाने के लिए किसी को उकसाना या उत्तेजित करना आदि कार्य इस प्रकार के अन्तर्गत माने जाते हैं। ऐसे उत्पीडक कार्यों को होते हुए यदि कोई व्यक्ति रुचिपूर्वक देखता रहे उसका विरोध न करे तो उसका व्यवहार भी पाप कर्मोपदेश के अन्तर्गत माना जाता है। क्योंकि इस प्रकार हिंसा कर्त्ताओं को वह

उकसाने का ही काय करता है। चोरी आदि कार्यों के लिए किसी को परामर्श देना भी पापकर्मोपदेश है।

अनर्थदण्डविरमणव्रत का पालन श्रावक के लिए आवश्यक होता है। इस निमित्त उसे उपर्युक्त कार्यों से बचना चाहिये और इसके निम्नलिखित अतिचारों से सावधान रहना चाहिए—

(१) कन्दर्प—मानसिक विकारों को बढ़ाने वाले वचनों का बोलना सुनना अथवा वैसी चेष्टा करना।

(२) कौत्कुच्य—विदूषकों की भाँति हाथ पर नचाना, अन्य आंगिक चेष्टाएँ करना आदि।

(३) मौखर्य—अधिक वार्तालाप करना, शेखी मारना डींग की हाँकना आदि।

(४) संयुक्ताधिकरण—बिना आवश्यकता के हिंसक हथियारों का संग्रह करके रखना।

(५) उपभोग-परिभोगातिरेक—उपभोग परिभोग की सामग्री को आवश्यकता से अधिक मात्रा में संग्रह करके रखना।

श्रावकों को चाहिये कि वे इन अतिचारों से प्रयत्नपूर्वक बचते रहें।

शिक्षाव्रत चतुष्टय

शिक्षा शब्द का सामान्य लोक प्रचलित अर्थ में प्रयोग न होकर विशिष्ट शास्त्रीय अर्थ प्रस्तुत प्रसंग में ग्रहण किया जाता है। यहाँ शिक्षा का अर्थ अभ्यास है। वह क्रिया कलाप जिसकी नित्यप्रति व्यक्ति द्वारा पुनरावृत्ति की जाती रहती है—वह यहाँ शिक्षा कहा गया है। शिक्षाव्रत चतुष्टय में ऐसे चार व्रत हैं, जिन्हें प्रत्येक श्रावक ग्रहण करता है और उनका बार-बार अभ्यास करता है। अब तक के वर्णित व्रतों में ऐसा नहीं है। पंच अणुव्रत और गुणव्रत त्रयी में ऐसे व्रत हैं जिन्हें श्रावक जीवन में एक ही बार ग्रहण करता है। शिक्षाव्रत इस प्रकार शेष व्रत समुच्चयों से भिन्न होते हैं। शिक्षाव्रत चतुष्टय के चार नियम हैं—

(१) सामायिकव्रत
(२) देशावकाशिकव्रत
(३) पौषधोपवासव्रत
(४) अतिथिसंविभागव्रत

(१) सामायिक व्रत

प्राय प्रत्येक धर्म में वन्दनादि के रूप में कोई न कोई दैनिक आराधना की पद्धति रहती है। इसी रूप में जैनधर्म में श्रावकों के लिए सामायिक का विधान है। इस आराधना रूप के लिए सामायिक शब्द बहुत ही सटीक एवं सार्थक है। शब्द-संरचना के अनुसार यह दो पदों— सम और आय का योग है। सम का अर्थ है—

... ... का आगमन है—लाभ अथवा प्राप्ति। वास्तव में सामायिक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा कर्ता को समभाव का लाभ होता है अतः ऐसी पद्धति का इस रूप में नामकरण पर्याप्त समीचीन है, यह भाव को प्रकट करने की पूर्ण क्षमता रखता है। सामायिक के लिए उपयुक्त पात्र वही व्यक्ति है जो स्थावर एवं त्रस सभी जीवों के प्रति समता का भाव रखता हो। इसमें सावद्य—अर्थात् दोष अथवा पापयुक्त प्रवृत्ति का त्याग एवं निरवद्य अर्थात् अदोष प्रवृत्तियों का आचरण होता है। इस समत्व का आचरण पुनः-पुनः करते हुए श्रावक का समग्र जीवन ही समता से परिपूर्ण हो जाता है।

अन्य व्रतों की भाँति सामायिक व्रत के पालन में भी श्रावक को जागरूक रहना चाहिये और ऐसी बाधा से स्वयं को बचाकर रखना चाहिये जिनसे इस व्रत के भंग होने की आशंका रहती हो। अर्थात् अमुक दोष इस व्रत के संदर्भ में है, जिससे श्रावक को सदा सजग रहना चाहिए। अन्य व्रतों की भाँति सामायिक के भी पाँच प्रकार के ५ अतिचार हैं—

(१) मनोदुष्प्रणिधान—मन में अशुभ विचारों का आगमन।

(२) वचनदुष्प्रणिधान—वचन का दुरुपयोग कठोर, कटु एवं असत्य भाषण।

(३) कायदुष्प्रणिधान—शरीर से सावद्य प्रवृत्ति करना।

(४) स्मृत्यकरण—सामायिक की स्मृति न रखना अर्थात्—समय पर न करना।

(५) अनवस्थितता—अस्थिर मन से अथवा शीघ्रता से सामायिक करना तथा विधिपूर्वक नहीं करना।

(२) देशावकाशिकव्रत

दिशा-परिमाणव्रत के अधीन श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि मैं अमुक सीमा से आगे बढ़कर किंचित् मात्र भी स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नहीं करूँगा। इस प्रकार यह क्षेत्र का एक निश्चित क्षेत्र बना लेता है और उसका अतिक्रमण नहीं करता है। जीवनभर के लिए यह मर्यादा एक ही बार दिशा-परिमाणव्रत द्वारा बना ली जाती है।

कभी-कभी किसी निश्चित और लघु अवधिविशेष (कुछ दिन आदि) के लिए उक्त मर्यादा में परिवर्तन अपेक्षित हो जाता है। देशावकाशिकव्रत द्वारा ऐसी स्थिति में मर्यादा किए हुए क्षेत्र को और भी संकुचित किया जा सकता है। इसका प्रयोग उपभोग-परिभोग आदि अन्य मर्यादाओं के संकोचन में भी किया जाता है।

यह व्रत जिस निश्चित अवधि के लिए ग्रहण किया जाता है, साधक उस अवधि में इस नवीन रूप में स्थिर क्षेत्रादि की मर्यादा का पूर्णतः पालन करता है, उसका भी उल्लंघन नहीं करता। जिस नवीन (संकुचित) क्षेत्र की

की जाती है वर्ता उसके बाहर नहीं जाता, किसी को उसके बाहर से बुलाता नहीं और न ही उस क्षेत्र के बाहर किसी को भेजता ही है । यह क्षेत्र के बा लाई गयी वस्तु का उपयोग भी नहीं करता । तात्पर्य यह कि नर्यनिर्धारित म के बाहर वह किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता है। इस प्रकार प्रवृत्तियां सकोचन इस व्रत का प्रमुख लक्ष्य है। इससे जीवन की आवश्यकताओं को करने की प्रेरणा भी मिलती है। महारम्भ का त्याग करने से साधक का जीवन हिंसा से मुक्त होकर पवित्र होता चलता है। यदि साधक पुन -पुन प्रतिदिन ही इ की साधना करे तो उसका जीवन अधिकाधिक अहिंसामय और धार्मिक ब जाता है।

इस व्रत के अन्तर्गत श्रावक के लिए १४ नियमों का निर्धारण है। प्रति ही उसे अपने भोजनादि के विषय म नव नवीन मर्यादा स्थिर करनी चाहिये। ज को सयमित और अनुशासित बनाने म यह अतिशय प्रभावपूर्ण चरण होता है। नियम निम्नानुसार हैं—

(१) सचित्त—प्रतिदिन प्रयुक्त होने वाली सचित्त वस्तुओं (फल अन्न जल की मर्यादा निश्चित करना। इसम निश्चित तोल   मापादि के रूप म मर्यादा स्थिरीकरण किया जाता है।

(२) द्रव्य—खाद्य-पेय वस्तुओं की सख्या के सम्बन्ध म मर्यादा करना अ यह व्रत लेना कि भोजन के समय अमुक सख्या से अधिक वस्तुओं का सेवन करूंगा।

(३) विगय—घृत दुग्ध दही पक्वान आदि की मर्यादा।
(४) पण्णी—उपानह मोज चप्पल खड़ाऊँ आदि की मर्यादा।
(५) ताम्बूल—पान सुपारी इलायची, चूर्ण, खटाई आदि की मर्यादा।
(६) वस्त्र—धारण किये जाने वाले वस्त्रों की मर्यादा।
(७) कुसुम—पुष्प इत्रादि सुगंधित पदार्थों की मर्यादा करना।
(८) वाहन—सवारी आदि की मर्यादा करना।
(९) विलेपन—केसर चन्दन तेल आदि की मर्यादा करना।
(१०) शयन—शय्या एव स्थान की मर्यादा करना।
(११) अब्रह्मचर्य—मैथुन सेवन की मर्यादा करना।
(१२) दिशा—समस्त दिशाओं म यातायात आदि की जो प्रवृत्तियाँ की जाती उनकी मर्यादा करना।

(१३) स्नान—स्नान व तदर्थ जल की मर्यादा करना।
(१४) भक्त—असन पान खादिम स्वादिम की मर्यादा करना।
इस व्रत के भी ५ अतिचार है, जो निम्नानुसार हैं—

(१) आनयनप्रयोग—मर्यादा किये गये क्षेत्र से बाहर की वस्तु मगाना।

(२) प्रेष्यप्रयोग—मर्यादा किये गये क्षेत्र से बाहर कोई वस्तु भेजना।

(३) शब्दानुपात—जिस क्षेत्र में स्वयं न जाने का नियम ग्रहण किया हो वहाँ से देशादि शब्द सकेतों के माध्यम से काय करना।

(४) रूपानुपात—मर्यादित क्षेत्र के बाहर कोई वस्तु आदि भेजकर उसके माध्यम से काम करना।

(५) पुद्गल प्रक्षेप—मर्यादित क्षेत्र से बाहर ककर आदि फेंककर क्षेत्र के बाहर के किसी व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना।

श्रावक को चाहिये कि उपर्युक्त अतिचारों से बचकर देशावकाशिक व्रत पर अधिक से अधिक दृढ बना रहे।

(३) पौषधोपवासव्रत

पौषध का आशय है—धर्मस्थान में रहना अथवा धर्माचार्यों के संग रहना। पौषधोपवास का अर्थ है—धर्मस्थान में रहकर उपवास रखना। पौषध का एक अर्थ—पोषण भी है। पौषधव्रत द्वारा आत्मा को पोषण प्राप्त होता है। इस व्रत में काया को निराहार रखकर आत्मा को तृप्त करने की व्यवस्था है। श्रावक इस व्रत को ग्रहण कर धर्मस्थानों में धर्माचार्यों के सान्निध्य में धर्मचिन्तन करता है, वह गभीर मनोमथन में व्यस्त रहता है। यह आत्मा के पोषण की प्रक्रिया है। आहार के साथ-साथ हिंसक प्रवृत्तियों कायिक शृगार अब्रह्मचर्य आदि का पूर्णरूप से त्याग करते हुए श्रावक इस व्रत के अधीन श्रमण के समान आठ प्रहर साधनालीन रहता है।

प्रौषधव्रत के ५ अतिचार निम्नानुसार हैं—

(१) अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित शय्यासस्तारक—पौषध हेतु उपयुक्त स्थान का भली प्रकार निरीक्षण न करना।

(२) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्यासस्तारक—पौषध हेतु उपयुक्त शय्या आदि का भली प्रकार साफ किये बिना उपयोग करना।

(३) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि—मल-मूत्र त्यागने के स्थान का निरीक्षण न करना।

(४) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि—मल मूत्र त्यागने की भूमि को स्वच्छ किये बिना अथवा अच्छी तरह साफ किये बिना उपयोग करना।

(५) पौषधोपवास-सम्यगननुपालनता—पौषधोपवास का सम्यक रीति से पालन न करना।

(४) अतिथिसंविभागव्रत

यह व्रत निःस्वार्थ त्याग और सत्कार-सेवा का प्रतीक है। श्रावक गृहस्थ ही होता है जिसके यहाँ अतिथियों का आगमन स्वाभाविक ही है। इनका आगमन सहसा आकस्मिक रूप से होता है, प्रायः ये बिना पूर्व निश्चित तिथि के ही पहुँच जाते हैं—इसी कारण ये अतिथि होते हैं। गृहस्थ अपने घर में अपने उपयोगार्थ भोजन बनवाता है, उस पर उसका अधिकार तो स्वयंसिद्ध है ही किन्तु अतिथि के आगमन पर भोजन का समुचित रूप से विभाजन कर अतिथियों को तृप्त करना उसका कर्त्तव्य है। श्रावक इस धर्म से कभी विमुख नहीं होता। न्याय के साथ अर्जित की हुई निर्दोष वस्तुएँ श्रावक द्वारा श्रमणों को भी अर्पित की जाती हैं। यह भी संविभागव्रत के पालन का ही रूप है। ये विचरणशील श्रमणजन पूर्वनिर्धारित समय या दिन को किसी गृहस्थ के यहाँ नहीं पहुँचते हैं। ये अतिथि ही होते हैं। श्रावकजन दीन असहायों की सेवा में भी सदा आगे रहते हैं।

अन्य व्रतों की भाँति अतिथिसंविभागव्रत में भी ५ अतिचार हैं जिनसे सतर्कतापूर्वक अपने आप को बचाये रखना प्रत्येक श्रावक के लिए अनिवार्य होता है अन्यथा इस व्रत का पालन असंभव हो जाता है। ये अतिचार निम्नानुसार हैं—

(१) सचित्तनिक्षेप—अचित्त आहार को सचित्त वस्तु में डालकर रखना।

(२) सचित्तपिधान—सचित्त वस्तु से ढककर रखना।

(३) कालातिक्रम—समय पर दान न देना, असमय में दान के लिए कहना।

(४) परव्यपदेश—दान न देने की भावना से अपनी वस्तु को पराई बता देना अथवा पराई वस्तु देकर अपनी वस्तु बताना।

(५) मात्सर्य—ईर्ष्या व अहंकार की भावना से दान करना।

प्रत्येक श्रावक को चाहिए कि पूरी सावधानी के साथ उपर्युक्त अतिचारों से अपने आचरण को सुरक्षित रखकर अतिथिसंविभागव्रत का पूर्णतः पालन करे। यह व्रत श्रावक के व्यवहार को मानवीयता, सहृदयता, त्याग और विनय के सद्गुणों से सज्जित कर देता है। गृहस्थ जैन अर्थात् श्रावक के द्वार से कोई निराश नहीं लौटना चाहिए। उसे सहायता के पात्र व्यक्ति की यथाशक्ति सहायता करनी चाहिए। जैन परम्परा में दान दो प्रकार के बताये गये हैं—अनुकम्पादान और सुपात्रदान। दुःखी-दरिद्र जन दुःखी को देखकर करुणा का उद्रेक होना स्वाभाविक ही है। इस करुणा से प्रेरित होकर श्रावक ऐसे व्यक्तियों की यथोचित सहायता करता है। यह अनुकम्पादान कहलाता है। साधु-साध्वियों को दिया जाने वाला दान सुपात्रदान कहलाता है।

श्रावक के लिए इस प्रकार ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत तथा ४ शिक्षाव्रत के

पालन का विधान है। इन १२ व्रतों को नियमित रूप में और दृढ़ता के साथ पालन करने वाले श्रावक का जीवन आदर्श रूप ग्रहण कर लेता है और उसके भावी उत्थान की पक्की भूमिका निर्मित हो जाती है।

श्रावक के भेद

श्रावकाचार का निर्वाह भी स्वयं में एक साधना है और तदनुसार श्रावक भी एक प्रकार से साधक है। सभी श्रावकों के लिए समस्त श्रावकाचार का समग्र निर्वाह संभव नहीं होता। वस्तुतः इस साधना को भी क्रमिक सोपानों में विभक्त किया जाता है। इसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि इस साधना मार्ग में श्रावक क्रमशः ही अग्रसर होते हुए चरम तक पहुँच पाता है। इन क्रमिक स्तरों और सोपानों को पार करना ही साधना की प्रगति है। एक के बाद दूसरा और उसके बाद आगामी सोपान आता है। दिगम्बर श्रावकाचार के ग्रन्थों में श्रावक के आचार को ऐसे ३ सोपानों में विभक्त किया जाता है, तदनुसार श्रावकों के भी ३ भेद किये गये हैं—

(१) पाक्षिक श्रावक (प्रारंभिक दशा)

(२) नैष्ठिक श्रावक (मध्य दशा)

(३) साधक श्रावक (पूर्ण दशा)

जो एकदेश से हिंसा का त्यागकर श्रावकधर्म स्वीकार करता है वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। शास्त्रीय दृष्टि से निग्रन्थ देव धर्म और गुरु में आस्था रखना पक्ष कहलाता है और इस प्रकार के पक्ष का रखने वाला श्रावक पाक्षिक श्रावक कहलाता है। ये प्राथमिक स्तरीय श्रावक होते हैं और इनके मन में सदा सद्भावना करुणा मैत्री बन्धुत्व आदि उच्च मानवीय वृत्तियाँ हो रहती हैं। जीवहिंसा नहीं करते हुए न्यायपूर्वक आजीविका कमाना, द्वादश व्रतों का निर्वाह करना, ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना आदि निष्ठा कहलाती है। निष्ठा पक्ष से ऊपर का स्तर है और निष्ठा करने वाले श्रावक माध्यमिक स्तर के श्रावक—पाक्षिक से ऊपर की श्रेणी के होते हैं। ये नैष्ठिक श्रावक कहे जाते हैं। तृतीय उच्चतम स्तर है—साधक। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि जीवन के अंतिम समय में आहारादि का सम्पूर्ण त्याग—साधन कहलाता है और साधन को अपनाने वाला श्रावक साधक कहलाता है। श्रावकाचार के क्रमिक विकास की प्रारंभिक दशा का द्योतक, मध्य दशा का नैष्ठिक और पूर्ण दशा का नाम साधक है।

पाक्षिक श्रावक

पक्ष का मानने वाले पाक्षिक श्रावक के लिए आवश्यक कर्तव्यों का [illegible] सिद्धान्त है, उसमें इसकी भी प्रमुखता दी गयी है कि वह [illegible] सेवन नहीं करना चाहिये। जिन वस्तुओं से दुष्कर्म [illegible] होता है [illegible] कहलाते हैं [illegible] और [illegible]। इन [illegible] का सेवन वर्जित है। इसका [illegible] कारण यह है कि इनके [illegible] होते हैं

पौषधशाला में पहुँच जाता है और सारा समय धार्मिक क्रियाओं में व्यतीत करने लगता है। उसकी प्रतिज्ञा व्रत तप अभिग्रह आदि ही प्रतिमा के नाम से जाने जाते हैं।

प्रतिमास्थित श्रावक नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। वह तो गृहस्थ ही है अतः श्रावक है किन्तु उसका आचरण जीवन श्रमणवत् दृष्टिगत होने लगता है। वह श्रमण की भाँति ही अपनाये गये व्रतविशेष का पालन करता है।

ग्यारह प्रतिमाएँ

ये प्रतिमाएँ संख्या में ११ हैं। इन सभी का विधान दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही प्रकार के ग्रन्थों में मिलता है। अन्तर उनके नामकरण अथवा क्रम व्यवस्था मात्र में है। श्वेताम्बर परम्परानुसार ये प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं—

(१) दर्शन	(२) व्रत	(३) सामायिक
(४) पौषध	(५) नियम	(६) ब्रह्मचर्य
(७) सचित्त-त्याग	(८) आरम्भ-त्याग	(९) प्रेष्य परित्याग
(१०) उद्दिष्टभक्तत्याग	(११) श्रमणभूत	

दिगम्बर परम्परानुसार ये इस प्रकार हैं—

(१) दर्शन	(२) व्रत	(३) सामायिक
(४) पौषध	(५) सचित्तत्याग	(६) रात्रिभुक्तित्याग
(७) ब्रह्मचर्य	(८) आरम्भत्याग	(९) परिग्रहत्याग
(१०) अनुमतित्याग	(११) उद्दिष्टत्याग	

उद्दिष्टत्याग के २ भेद हैं—(क) क्षुल्लक और (ख) एलक।

उपर्युक्त प्रस्तुतीकरण में यह द्रष्टव्य है कि प्रथम चार भेद दोनों ही परम्परा में यथावत् हैं। दिगम्बर परम्परा का पाँचवाँ पद सचित्त-त्याग—श्वेताम्बर परम्परा में भी है अवश्य किन्तु इसमें वह सातवें स्थान पर है। श्वेताम्बर परम्परा में ब्रह्मचर्य को जहाँ छठा स्थान प्राप्त है वहाँ उसे दिगम्बर परम्परा में सातवाँ स्थान दिया गया है। दिगम्बर परम्परा में रात्रिभुक्तित्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा माना गया है, जब कि श्वेताम्बर परम्परा में इस नियम के अन्तर्गत ही ग्रहण कर लिया गया है। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में अनुमतित्याग को पृथक प्रतिमा माना गया है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में उसको उद्दिष्टत्याग के अन्तर्गत ही समझा गया है। ध्यातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा में जो श्रमणभूत प्रतिमा है वही शब्दान्तर से दिगम्बर परम्परा में उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है। दोनों में श्रावक का आचार भिक्षु के समान होता है।

ये ११ प्रतिमाएँ एक प्रकार से श्रावक की ग्यारह श्रेणियाँ हैं जिनमें एक के पश्चात् दूसरी में क्रमशः ही श्रावक स्वयं को स्थिर कर पाता है। अर्थात् ये प्रतिमाएँ श्रावक के आत्मिक उत्थान के उत्तरोत्तर उच्च सोपान हैं। इसी दृष्टि से प्रतिमाओं का क्रम

अवस्था का विशेष महत्त्व रहता है। एक प्रतिमा की कसौटी पर सफल सिद्ध होने की स्थिति पर श्रावक आगामी प्रतिमा को अपनाने के योग्य माना जाता है। ऐसी स्थिति में किस प्रतिमा के पश्चात् कौन सी प्रतिमा का स्थान है—इस प्रश्न का गम्भीर महत्त्व हो ही जाता है। ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त परिचय भी यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

(१) दर्शन—इस प्रतिमा से श्रावक को सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। धर्म दर्शन, धार्मिक सिद्धान्तों आदि के विषय में यह प्रतिमा श्रावक के मन में श्रद्धा एवं विश्वास को सुदृढ़ करती है। श्रावक को इस प्रकार आस्तिक दृष्टि प्राप्त होती है। श्रावक की दृष्टि दोषों की ओर न जाकर गुणों की ओर ही आकृष्ट होती है। अनेक व्रतों का जो निर्धारण किया गया है यह प्रतिमा अपने में उनकी आराधना को सम्मिलित नहीं करती अपितु इस प्रतिमा का सम्बन्ध उन व्रतादि की समझ से ही है। श्रावक इन्हें भली भाँति हृदयंगम करता है उनके प्रति आस्तिक श्रद्धा को विकसित करता है। इस प्रतिमा का निर्वाह करने वाला श्रावक—दर्शन-श्रावक कहलाता है। दर्शन-श्रावक संसार के कारण—भोगों से विरक्त हो जाता है, अर्थात् विषयों का सेवन करते हुए भी वह उनके प्रति आसक्ति नहीं रखता है। दर्शन श्रावक सदा न्यायपूर्ण विधि से ही आजीविका उपार्जित करता है और मद्य मांसादि का सेवन तो दूर रहा, वह उनका न व्यवसाय करता है और न ही किसी अन्य को ऐसा व्यवसाय प्रेरित करता है। मांस-मदिरा का सेवन करने वालों के साथ वह खान-पान आदि का सम्पर्क भी नहीं रखता क्योंकि संगति के प्रभाव से इस दुष्प्रवृत्ति के अपनाये जाने का भय रहता है। चमड़े में रखे गये खाद्य पदार्थों का सेवन, अपरिचित पदार्थों का सेवन भी वह वर्जित मानता है। दर्शन-श्रावक रात्रि भोजन नहीं करता तथा छानकर ही पानी पीता है। जुआ, सट्टा आदि भी ऐसे कार्य हैं जिनमें वह तनिक भी रुचि नहीं दिखाता। जीवों का वध तो बहुत दूर का प्रसंग है वह चित्रलिखित पशु-पक्षियों के अंग विच्छेद भी नहीं करता। वेश्या व परस्त्रीगमन में भी वह तनिक सी भी रुचि उत्पन्न नहीं होने देता। अकरणीय समझकर जिन कर्मों का वह त्याग कर देता है, उनमें अन्यजनों की रुचि को भी उत्साहित नहीं करता। आजीविका हेतु न्यूनतम आवश्यक आरम्भ (कृषि आदि) करना ही दर्शन-श्रावक के लिए उचित माना गया है—इससे अधिक नहीं। स्वपत्नी के साथ ही और वचन काया व मन की तुष्टि की सीमा तक ही भोग करता है जिसका उद्देश्य संतनोत्पत्ति मात्र होता है। सन्तान का उचित रूप में पालन-पोषणकर उन्हें सज्जन बनाना भी दर्शन-श्रावक का कर्तव्य है। योग्य सन्तान का भी एक अनिवार्य आवश्यकता है। उपयुक्त समय आने पर श्रावक गृहस्थ भार सन्तान को सौंपकर आत्मोन्नति में लग सकता है।

(२) व्रत प्रतिमा—इसमें ५ शीलव्रत ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत आदि सम्यक्रूप से धारण किए जाते हैं किन्तु सामायिक एव देशावकाशिकव्रत का

सम्यक् पालन नहीं होता। राग द्वेष पर विजय प्राप्त करके साम्य भाव प्राप्त करने की इच्छा से जो श्रावक व्रतों का पालन करता है वह 'व्रतिक श्रावक' के नाम से कहा जाता है।

(३) सामायिक प्रतिमा—इसमें सामायिक एवं देशावकाशिक व्रतों की आराधना का प्रमुख स्थान है। इन व्रतों की सम्यक् आराधना की जाती है, किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि तिथियों में पौषधोपवास व्रत का सम्यक् पालन नहीं होता।

(४) पौषध प्रतिमा—इसमें चतुर्दशी आदि तिथियों में प्रतिपूर्ण पौषध व्रत का सम्यक् रीति से पालन किया जाता है।

(५) नियम प्रतिमा—इसके अन्तर्गत श्रावक द्वारा निम्नलिखित पाँच नियमों का विशेष रूप से पालन किया जाता है—

(क) स्नान नहीं करना

(ख) रात्रिभोजन नहीं करना

(ग) धोती की लांग नहीं लगाना

(घ) दिवा मैथुन का सर्वथा त्याग करना तथा रात्रि मैथुन की भी मर्यादा करना।

(ङ) एक रात्रि की प्रतिमा का पालन करना—अर्थात् महीने में एक रात्रि कायोत्सर्ग अवस्था में ध्यानपूर्वक व्यतीत करना।

(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—इसमें श्रावक कुछ और आगे बढ़ता है और वह दिवा मैथुनत्याग की भाँति रात्रि में भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है। लेकिन सर्व प्रकार के सचित्त आहार का इस प्रतिमा में परित्याग नहीं होता।

(७) सचित्तत्याग प्रतिमा—सचित्त का त्याग इस प्रतिमा में कर दिया जाता है। इस प्रतिमा में कृषि आदि आरम्भ में होने वाली अल्प जीव हिंसा का त्याग नहीं किया जाता।

(८) आरम्भत्याग प्रतिमा—इसमें आरम्भ का त्याग किया जाता है। यह त्याग स्वयं सारा आरम्भ किये जाने मात्र का ही है। दूसरे से आरम्भ करवाने का त्याग इसमें सम्मिलित नहीं है।

(९) प्रेष्यपरित्याग प्रतिमा—इस नौवीं प्रतिमा में श्रावक दूसरों से आरम्भ करवाने का भी परित्याग कर देता है। उद्दिष्टभक्त का त्याग इस प्रतिमा में नहीं किया जाता। अर्थात् अपने निमित्त बने भोजन का श्रावक त्याग नहीं करता। आरम्भ के प्रयोजन से किसी को कहीं भेजने-भिजवाने का इस प्रतिमा में त्याग किया जाता है। इसी कारण इसे प्रेष्यपरित्याग प्रतिमा कहा जाता है। आरम्भ को अभिवर्धित करने वाले परिग्रह का इस प्रतिमा में त्याग होता है अतः इसे परिग्रह त्याग प्रतिमा भी कहा जाता है।

(१०) उद्दिष्टभक्तत्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा में उद्दिष्टभक्त का भी परित्याग कर दिया जाता है। श्रावक शीश मुंडवा लेता है किन्तु शिखा अवश्य धारण करता है। इस प्रतिमा को धारण करने वाले श्रावक से जब कोई एक या अधिक प्रश्न करता है तो वह दो में से कोई एक उत्तर ही देता है—हाँ मैं जानता हूँ या मुझे यह ज्ञात नहीं है।

(११) श्रमणभूत प्रतिमा—श्रमणभूत का तात्पर्य है—श्रमण के समान। श्रावक इस प्रतिमा को धारण कर गृहस्थ होते हुए भी श्रमण के समान क्रिया करता है। श्रमणवत् आचरण के कारण ही इस प्रतिमा को श्रमणभूत के नाम से जाना जाता है। श्रमणभूत श्रावक या तो उस्तरे से सिर के बालों का मुंडन करता रहता है अथवा हाथ से लुंचन कर लेता है। इस प्रतिमा में शिखा भी नहीं रखी जाती। श्रमणभूत श्रावक का वेश भाण्डोपकरण आदि भी श्रमण के समान ही होते हैं। वह श्रमणों का श्रावक अनगार के समान आचार का पालन करता है और इसी प्रकार पर देखकर व्यतीत करता है। मार्ग में चलता हुआ उसका चरण आगे को ही बढ़ता है पीछे नहीं हटता। भिक्षाटन पर वह भी निकलता है किन्तु अपने परिचितों एवं सम्बन्धियों के घर ही जाता है। इन घरों में उसके पहुँचने तक जो भी भोजन तैयार हो चुका होता है केवल उसी में से कुछ ग्रहण करता है। जिसका बनना अभी शेष है—उसे ग्रहण नहीं करता। दाल भात में से यदि एक तैयार है तो उसे ही ग्रहण करेगा दूसरी वस्तु तुरन्त तैयार कर दी जाय तो भी वह उसे ग्रहण नहीं करेगा।

ये प्रतिमाएँ क्रमिक रूप में धारण की जाती हैं। किसी एक प्रतिमा को धारण करने का अर्थ यह है कि इससे पूर्व की समस्त प्रतिमाएँ श्रावक के आचार में स्वतः ही समाहित हैं। जब श्रावक ग्यारहवीं प्रतिमा तक पहुँच जाता है तो उसमें समस्त प्रतिमाओं के गुण विद्यमान होते हैं। यह स्थिति श्रावक के आचार की चरम अवस्था होती है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने वाला श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार आगे का आचरण निर्धारित करता है। वह अपना शेष जीवन इसी अवस्था में (श्रमणभूत रूप में) भी व्यतीत कर सकता है और यदि सामर्थ्य विकसित हो तो वह मुनिधर्म की दीक्षा भी ग्रहण कर सकता है।

साधक श्रावक

पाक्षिक श्रावक एवं नैष्ठिक श्रावक के पश्चात् साधक श्रावक की भूमिका [illegible] होती है। वस्तुतः वह श्रावक है जो साधना को अपनाता है। जीवन के अन्तिम समय में [illegible] भावनाओं का [illegible] कर ध्यान [illegible] जाता है—वह साधक श्रावक है। जब कभी ऐसा कोई विकट [illegible] उपस्थित हो जाए कि [illegible] शरीर का त्याग करना [illegible] है। [illegible] यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि यह [illegible]

अध्याय २०

श्रमणाचार

जैन धर्मसंघ की संरचना में सद्गृहस्थ और विरक्त दोनों को उचित महत्व के स्थान प्राप्त हैं। गृहस्थजन श्रावक-श्राविका कहलाते हैं और विरक्त मुनि व साध्वीजन श्रमण-श्रमणी कहलाते हैं। श्रमण, अगृही विरत मुनि, निर्ग्रन्थ, अनगार आदि शब्दों का प्रयोग परस्पर पर्यायरूप में किया जाता है। ये समानार्थक शब्द हैं।

श्रम—श्रमण शब्द का मूल है और श्रम का प्रयोग अनेक तात्पर्यों के लिए होता है यथा—श्रम (परिश्रम) सम शमन सुमन। अपने व्यापक स्वरूप में इन सभी तात्पर्यों का समावेश हम श्रमण के अन्तरबाह्य व्यक्तित्व में मिलता है। श्रमण की परिचयात्मक-व्याख्या के सन्दर्भ में कहा गया है—श्राम्यतीति श्रमण—अर्थात् जो मोक्ष के लिए श्रम करता है पुरुषार्थ करता है—वह श्रमण है। यही प्रमुखतम और प्रासंगिक व्याख्या समझी जाती है। श्रम का अर्थ समता से भी लिया जाता है। इस आधार पर श्रमण वह है जो शत्रु और मित्र को समान भाव से देखता है। श्रमण विश्व के समस्त भूतों अर्थात् जीवात्माओं को अपनी आत्मा के समान समझता है और उनके साथ आत्मवत् व्यवहार करता है। यह आशय कई उक्तियों में व्यक्त मिलता है। उदाहरणार्थ निम्न उक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

समयाए समणो होई

\+ \+ \+

सव्व भूयप्पभूयस्स सम्म भूयाइ पासओ

\+ \+ \+

आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति स पण्डित

उत्तराध्ययन सूत्र में भी श्रमण की सुन्दर आचारगत व्याख्या मिलती है—

लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा पसंसासु तहा माणावमाणओ॥

\+ \+ \+

अणिस्सिओ इहलोए परलोए अणिस्सिओ।
वासी चन्दण कप्पो य असणे अणसणे तहा॥

जो लाभ एवं हानि में जीवन एवं मृत्यु में निन्दा एवं प्रशंसा में मान एवं

आमान म सम समभाव रखता है वह श्रमण है। जो इस लोक म भी अनिश्रित है जो परलोक म भी अनिश्रित (अर्थात् आशा-तृष्णा स मुक्त है) और चन्दनवत है (चन्दन काटे जाने पर भी सौरभ ही देता है और साधु अपना अहित करने वालों के प्रति भी समभाव ही रखता है) और जो भिक्षा देने वालों म भी और नहीं देने वालों म भी प्रसन्न ही रहता है—वह श्रमण है। श्रमण इस प्रकार आभ्यन्तरिक एवं बाह्य दोनों रूपों में अतिशय मृदुल सर्वजन हितैषी आत्मकल्याण म लीन समभाव म सम्पन्न तथा उच्च मानवीय आदर्शों का मूर्त रूप होता है। त्याग और कष्ट-सहिष्णुता अपने चरम रूप म श्रमण-व्यक्तित्व म उपस्थित रहते हैं और जन जन को सन्मार्गी होने के लिए वे अपने आचरण का अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करते हुए प्रेरित करते हैं।

श्रमणत्व धारण किये हुए कोई उत्पन्न नहीं होता। कोई जन्मजात श्रमण नहीं होता। जन्म स तो सभी लगभग एक ही मानसिक अवस्था म होते हैं। संस्कारों का प्रच्छन्न अन्तर ही इस सामान्य स्थिति का रचमात्र सा अपवाद हो सकता है। यह तो व्यक्ति की अपनी साधना विकास की स्थिति है जो क्रमश श्रमणत्व का रूप ग्रहण कर लेती है। श्रमण एक पदविशेष है एक अवस्थाविशेष है जिसे व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करता है। इस प्राप्ति के योग्य जो पात्रता है उसको भी वह अपने आचरण एवं उद्यम स अर्जित करता है। ऐसा नहीं है कि यह पूर्वनिर्धारित हो कि कोई स्वत ही श्रमण हो जायगा और कोई लाख प्रयत्न करने पर भी इस गौरव को कभी प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसीलिए कहा जाता है कि श्रमण माता के गर्भ से नहीं, अपितु गुरु के सान्निध्य म गुरु के आश्रय म होता है। अणगारे जाए—का भाव भी यही है कि साधक श्रमणत्व से विभूषित होता है। भगवान महावीर के साथ १८ हजार साधकों ने श्रमण दीक्षा ग्रहण की थी। शास्त्रों म उनके विषय म ऐसा ही शब्द प्रयोग मिलता है—अणगारे जाए अर्थात् श्रमण का जन्म हुआ। यहाँ श्रमणत्व के आविर्भाव को ही जन्म रूप म ग्रहण किया जाना चाहिए। श्रमण के रूप म साधक एक नये ही प्रकार का जीवन धारण करता है और जन कल्याण म बड़ा साधक है। आत्म-साधना को अपनाकर श्रमण आत्म विकास की दिशा म निरन्तर अग्रसर होता रहता है। वह स्व और पर—दोनों के कल्याण म विशेष लगन के साथ रत रहता है—इसमें उसकी दिव्य हितैषिता और लोक-कल्याण की भावना उजागर होती है। यह प्रवृत्ति वह जन्म से साथ लेकर नहीं आता उसकी प्राप्ति वह गुरु चरणों म करता है और उसका विकास भी करता रहता है।

श्रमणत्व का धारण किसलिए ?

स्वेच्छा से—स्वरुचि से ही अमुक जन श्रमणत्व धारण करते हैं, श्रमण ने बनाए नहीं जाते हैं। ऐसी स्थिति म इस प्रकार के प्रश्न का उभरना भी सहज ही है कि अन्तत किस प्रयोजन स कोई श्रमण व्रत को अंगीकार करता है ? इसके पीछे किस प्रयोजन की सिद्धि का आग्रह रहता है ? यह सच है कि साधक सांसारिक

पीछे कोई लक्ष्य, उद्देश्य प्रयोजन अवश्य ही रहता है। मनुष्य तो निष्प्रयोजन कोई काम करता ही नहीं है। विशेषत दुष्कर कार्यों मे मनुष्य की अकारण प्रवृत्ति सभव नहीं कही जा सकती है। श्रमणत्व भी अकारण अथवा निष्प्रयोजन नहीं होता अपितु इसका लक्ष्य तो मानव जीवन का चरम और परम लक्ष्य होता है। यह लक्ष्य है—'मोक्ष प्राप्ति'।

मनुष्य के चार पुरुषार्थ शास्त्रों मे स्वीकृत मिलते हैं—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। इन मे से प्रथम दो का सम्बन्ध लोक से है। इन लौकिक पुरुषार्थों मे से वस्तुत अर्थ साधनरूप व्यवहृत होता है और काम इसका साध्य होता है। अन्तिम दो अलौकिक पुरुषार्थ है और इनमे से भी धर्म साधन स्वरूप है तथा मोक्ष इसका साध्य है। धर्म की साधना द्वारा मोक्ष प्राप्ति—यही श्रमण का लक्ष्य है और इसी निमित्त श्रमणत्व का धारण किया जाता है। ससार दुःख सदन है। सर्वत्र दुखो का साम्राज्य है। आत्मा को दुखो से मुक्त कर अनन्त और यथार्थ सुख की प्राप्ति कराना श्रमण का ध्येय है—यही मोक्ष है। स्पष्ट है कि श्रमणत्व का उद्देश्य जागतिक न होकर आत्मिक होता है। आत्मा ही उनके लिए ध्यातव्य एव मूल विषय रह जाती है। अतएव परिव्रज्या—सूत्रकृताग के अनुसार एक मात्र आत्मा के लिए ही प्रव्रज्या है। शास्त्रों मे मानव जीवन का रूपक नौका के साथ भी स्थिर किया गया है। यह ससार दुखो का एक अगाध समुद्र है और इसमे जीवन एक नौका के समान है। जीवन-नौका उस पार पहुँचना चाहती है, किन्तु इसमे कर्मरूपी छिद्र हैं और उनमे से होकर पापरूपी जल नौका के भीतर प्रविष्ट हो रहा है। परिणामत नौका के उस पार पहुँचने के स्थान पर जल निमग्न हो जाने की ही अधिक आशका है। ऐसी स्थिति मे विवेकशील साधक सयम के तप द्वारा छिद्रो को अवरुद्ध कर पाप जल को नियन्त्रित कर सकता है। उसकी आत्मा उस पार अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकती है। यही श्रमण का लक्ष्य है। शरीर के साथ नौका का रूपक एक अन्य प्रकार से भी स्थिर किया जाता है—

> सरीरमाहु नावित्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
> ससारो अण्णवो वुत्तो ज तरति महेसिणो ॥

—शरीर नौका है आत्मा नाविक है ससार एक महासरोवर है जिसे महर्षिगण अपने श्रमणत्व की साधना से पारकर मुक्ति पा जाते हैं।

श्रमणत्व का लक्ष्य पवित्रतम और उच्चतम है। श्रमण दुखमुक्त हो मोक्ष लाभ का उद्देश्य रखता है और इसी उद्देश्य से अपराजित साधना पथ का पथिक बना रहता है। श्रमणत्व उसे मानव जीवन के इष्ट से युक्त कर देता है। मानो ही तो जीवन विशेषत मानव जीवन का उच्चतम ध्येय है।

श्रमणत्व के योग्य कौन ?

श्रमणत्व के योग्य—निरस हर व्यक्ति कोई नहीं हो सकता है, उसके पास एक

निश्चित् आत्मिक योग्यता का होना अपेक्षित है। किन्तु इस योग्यता वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए श्रमणत्व की पात्रता स्वयं सिद्ध होती है। अन्य कोई बाह्य तत्त्व ऐसा नहीं है कि जिसका होना अथवा नहीं होना श्रमणत्व की पात्रता का निर्धारण करता है। न तो यह आवश्यक है कि वंश परम्परा से वह जैन हो न ही यह आवश्यक है कि वह उच्चकुलीय ही हो। श्रमण बनने के मार्ग में जाति-पाँति का कोई व्यवधान नहीं है। यह जैनधर्म की स्पष्ट मान्यता है—

> कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
> कम्मुणा वइसो होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से ही कोई क्षत्रिय होता है। वैश्य और शूद्र भी जन्म से नहीं, कर्म से ही होते हैं। ऊँची जाति में जन्म लेने मात्र से जैन परम्परा किसी की उच्चता को स्वीकार नहीं करती। उच्चता का आधार व्यक्ति के सद्गुणों को ही माना जाता है। किसी भी जाति या सम्प्रदाय कुल या वंश का कोई व्यक्ति क्यों न हो, इस कारण उसके मुनि दीक्षा ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं बनती है। हाँ उसके लिए अनुकूल मानसिक स्तर तो अपेक्षित रहता ही है। श्रमणत्व अभिलाषी के लिए आवश्यक है कि वह सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक् दर्शन से सम्पन्न हो। जीव अजीव के स्वरूप का स्पष्टतः ज्ञान न रखने वाला संयम का अधिकारी नहीं माना जा सकता। जीव-दया और अहिंसा का संयम वही तो भली भाँति पाल सकता है जो जीव अजीव के स्वरूप को सूक्ष्मता के साथ हृदयंगम कर चुका हो। ज्ञानाभाव में न संयम संभव होता है और न हो विरक्ति। ये दोनों तत्त्व श्रमणत्व के मूलाधार हैं। श्रमणत्व की आधारभूत योग्यता सम्यक्ज्ञान और सम्यक्दर्शन है और उसकी चरम उपलब्धि सिद्धत्व है। दशवैकालिक सूत्र में इस समग्र क्रम को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'जो जीवाजीव का ज्ञाता है, वह जीवों की रक्षा व दयारूप संयम का ज्ञाता है। जो संयम को जानता है, वह जीवों की बहुविधि दुर्गति-सद्गति को जानेगा। जो जीवों की गति का ज्ञाता है, वह पाप-पुण्य भी जानेगा, क्योंकि पाप से जीव की दुर्गति और पुण्य से सद्गति होती है। जो पाप-पुण्य को जानेगा वह बंध-मोक्ष को भी समझेगा। बंध मोक्ष समझने पर देव-मनुष्य संबंधी भोगों से निर्वेद अर्थात् अनासक्ति या वैराग्य भाव करेगा और जब विरक्त साधक बाहर भीतर के संयोगों से विरक्त होगा तब संयोग से मुक्तात्मा मुण्डित होकर उत्कृष्ट संवर आत्मरमण को स्पर्श करेगा। संवर होने पर वह अबोध एवं अज्ञानकृत कल्मष कर्मरज को दूर करता है। जो अज्ञानकृत कर्मरज को दूर कर देता है, वह सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन का अधिकारी होता है। जब सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन प्राप्त हो जाता है तब उस ज्ञानालोक में वह सम्पूर्ण लोक अलोक को जानता है। जब वह इसे जान जाता है तो वह राग-द्वेष का विजेता वीतराग एवं जिन हो जाता है। वह केवली कहलाता

है। जब विनिवर्तन होता है तब मन वचन काया के योगों का निरोध करके शैलेशी स्थिति प्राप्त कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है। जब आत्मा अयोग हो जाता है तब आत्म निर्मल होकर सिद्धि को पाता है। जब सिद्धि अर्थात् मोक्ष में गति मिलती है तब लोक के अग्रभाग पर स्थिर होकर शाश्वत सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार त्रिरत्न जिसका साध्य है—वह श्रमण धर्म के दर्शन की भूमिका पर अवस्थित होता है। जिनोक्त सिद्धान्तों का ज्ञान और उनके प्रति विश्वास एवं श्रद्धा का होना श्रमणत्व के लिए अनिवार्य है। इसके अभाव में कोई श्रमण नहीं हो सकता वह इसके लिए योग्य पात्र नहीं समझा जा सकता। लोक-अलोक जीव-अजीव पाप-पुण्य बन्ध मोक्ष आदि विषयक जैन मान्यताओं पर उसका असामान्य एवं दृढ़ विश्वास होना चाहिए। इनका तात्पर्य ज्ञान तो आवश्यक होता ही है। इसके अतिरिक्त श्रमणत्व अधिकारी के लिए निम्नोक्त विशेषताएं भी होनी चाहिये—

(१) आर्य देशोत्पन्न (विशेष योग्यता होने की स्थिति में अनार्यदेशवासी एवं निम्न कुलोत्पन्न भी दीक्षा के पात्र माने जा सकते हैं) (२) शुद्धजाति कुलान्वित (३) क्षीणप्राय अशुभ कर्म (४) विशुद्ध धी (५) विज्ञात संसार (६) विरक्त (७) मन्द कषाय (८) अल्पहास्यादि अकौतूहली (९) कृतज्ञ (१०) विनीत (११) राजसम्मत (१२) अद्रोही (१३) सुन्दरांगभूत पञ्चेन्द्रिय पूर्ण हो किसी प्रकार का अंग भंग न हो (१४) श्रद्धावान (१५) स्थिर—स्वीकार किये गये व्रतों का आजीवन निर्वाहकर्त्ता हो (१६) समुपसम्पन्न—पूर्णेच्छा से अपना सारा जीवन संयम में व्यतीत करना चाहता हो।

श्रमणत्व की प्राप्ति के लिए अपेक्षित योग्यताओं से यह अनुमान तो सहज में हो ही जाता है कि किस कोटि के व्यक्तियों के योग्य यह पद है साथ ही यह अनुमान भी होने लगता है कि श्रमणत्व की गरिमा कितनी उच्च है।

श्रमण एवं श्रावक (गृहस्थ) को उनके वेशादि से ही पृथक् पृथक् पहचाना जा सकता है। ब्रह्मचर्य की कान्ति से दीप्त मुखमण्डल श्वेत मुखवस्त्रिका (पट्टिका) धवल वस्त्रावृत स्कंध पर रजोहरण और हाथ में काष्ठ पात्र युक्त झोली। भिक्षा-चर्या द्वारा उदार पूर्ति यथा-सुविधा सतत रूप से भ्रमणशील बीहड़ मार्गों वनों में होकर दीर्घ दूरियों को कष्टसहिष्णुता और धैर्य के साथ पार करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करना—यह है मुनि की पहचान। प्रश्न यह है—यद्यपि मुनि के लिए उपयुक्त चरित भी कुछ कम महत्त्व का नहीं है—यह सब कुछ मुनि आचार के लिए अपेक्षित एवं अनिवार्य है किन्तु क्या मात्र इतना ही मुनि के लिए पर्याप्त है? वस्तुस्थिति यह है कि यह तो श्रमणजनोचित बाह्याचार हैं। इनके साथ साथ विशिष्ट स्तरीय मानसिक स्थिति भी अपेक्षित है। उसके अभाव में मुनि-जीवन साधक नहीं कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में भगवान महावीर का उपदेश प्रासंगिक और यथेष्ट महत्त्व का है—

न मुण्डिएण समणो ओंकारेण न बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो॥
समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसो॥[1]

अर्थात्—सिर का मुंडन करने मात्र से कोई श्रमण नहीं हो सकता। ओंकार मंत्र के जाप मात्र से कोई ब्राह्मण, वनवास मात्र से मुनि एवं वल्कल धारण करने मात्र से कोई तापस नहीं हो सकता। समता से श्रमण ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण मौन से मुनि और तप से तापस होता है। अन्यथा मात्र बाह्याचार तो सर्वथा व्यर्थ है। मूल आवश्यकता तो संस्कार-परिवर्तन की है। मुनिव्रत ग्रहण कर लेने पर तो शेष जीवन का रंग-रूप कुछ का कुछ हो जाता है। पूर्वापेक्षा वह अधिक पवित्र गंभीर सुलक्षा हुआ शान्त और सद्गुणसम्पन्न होता। यह परिवर्तन अत्यावश्यक है। शीष-मुंडन बाह्याचार मात्र है। इसका होना भी अपेक्षित अवश्य है किन्तु इसके पूर्व ६ और मानसिक मुंडन अनिवार्य हैं, विकारों का मदन अनिवार्य है। इस प्रकार ठाणांग सूत्र में इन १० प्रकार के मुंडनों का उल्लेख मिलता है—श्रोत्रेंद्रिय (कर्ण) चक्षु, घ्राण, रसना एवं स्पर्शेन्द्रिय के विषयों पर राग द्वेष का निग्रह करना तथा क्रोध मान माया और लोभ को पराजित करना—इन नौ प्रकार के आन्तरिक कुसंस्कारों का मुंडन (उन पर विजय) पहले आवश्यक है। उसके पश्चात् ही सिर के बालों का मुंडन करना (श्रमणत्व धारण करना) सार्थक होता है। ऐसा मानसिक विजेता ही सच्चे अर्थों में श्रमण हो सकता है। इस प्रकार की मानस रचना के पूर्व दीक्षा ग्रहण करना मात्र दिखावा ही होकर रह जायगी—उसका कोई शुभपरिणाम संभव नहीं होगा।

श्रमणोचित विशेषताएँ

जैन साहित्य में श्रमण के आन्तरिक व्यक्तित्व एवं उसके प्रमुख आचार को भलीभाँति प्रतिपादित किया गया है। इस विषय में मुनि का परिचय ३ शीर्षकों के अधीन प्रस्तुत किया जा सकता है—

श्रमणों के दस लक्षण
श्रमणों के सत्ताईस मूल गुण
श्रमणों के सत्रह नियम

श्रमणों के दस लक्षण

श्रमण के दस लक्षण हैं और लक्षणों के इसी समूह को श्रमणधर्म की विशेषताएँ भी कहा जा सकता है। ये विशेषताएँ निम्नोक्त हैं—

(१) क्षमा—शत्रु एवं मित्र पर सम भाव।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र

(२) मुक्ति—निर्लोभ वृत्ति ।
(३) आजव—मरलता एव मन वचन काया की एकरूपता ।
(४) मादव—मृदुलता एव निरभिमानता ।
(५) लाघव—परिग्रह एव ममत्व मोह रहित ।
(५) सत्य ।
(७) सयम ।
(८) तप—द्वादश वाह्याभ्यन्तर तप ।
(६) त्याग ।
(१०) ब्रह्मचय ।

श्रमण के सत्ताईस मूल गुण

समवायाग सूत्र म अनगार के २७ मूल गुणो को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

प्राणातिपातविरमण—मृषावाद का त्याग—अदत्तादानत्याग—मथुन त्याग—परिग्रहत्याग—श्रोत्रद्रिय आदि का निग्रह—क्रोध विवेक—मान विवेक—माया विवेक—लोभ-विवक—भावसत्य—करणसत्य—योगसत्य—क्षमा—वैराग्य—मन समाधारणता—वचन समाधारणता—काय समाधारणता—ज्ञान सम्पन्नता—दशन सम्पन्नता—चारित्र सम्पन्नता—वदना-सहन—मृत्यु सहिष्णुता ।

श्रमणों क सत्रह नियम

जन श्रमण निम्न सत्रह नियमो का पालन करता है—पृथ्वीकाय सयम—अप्काय सयम—तेजस्काय सयम—वायुकाय सयम—वनस्पतिकाय सयम—बेइद्रिय सयम—त्रीद्रिय सयम—चतुरिद्रिय सयम—पचेद्रिय सयम—अजीवकाय सयम—प्रेक्षा सयम—सोते-बैठते समय, वस्त्रादि उपकरण लेते रखते समय भली भाँति देखना—उपेक्षा संयम—सासारिक कार्यों की उपेक्षा अपहृत्य सयम—श्रमणधर्म का अध्ययन करना व कराना—आहार शरीर उपाधि मल मूत्रत्याग आदि क समय जीव रक्षा करना—प्रमार्जन सयम—जिन वस्त्र पात्र मकान आदि का उपयोग करते है, उनका प्रमार्जनी गुच्छक विधिपूर्वक पूंजना—मन सयम—वचन सयम—काय सयम ।

उपयु क्त विशेषताओ अर्थात्—लक्षणो गुणो एव नियमो पर तनिक विस्तार पूवक चर्चा की यहाँ अपेक्षित है। श्रावकाचार की चर्चा के प्रसग म उल्लेख किया गया है कि श्रावक द्वारा धारण किए गये व्रत अणुव्रत अथवा छोटे व्रत कहलाते है वह हिंसादि का आंशिक रूप म ही परित्याग करता है। इसके विपरीत श्रमण क व्रत महाव्रत कह जाते है। इनम हिंसादि की सर्वविरति सर्वत्याग होता है। अन्यथा ५ व्रत व ही है। श्रमणो क लिए पच महाव्रत क निर्वाह का विधान है। व है—(१) सर्वप्राणातिपातविरमण (२) सर्वमृषावादविरमण (३) सर्वअदत्तादानविरमण (४) सर्वमैथुनविरमण (५) सर्वपरिग्रहविरमण ।

इस प्रकार के पूर्णत त्याग को नवकोटि प्रत्याख्यान कहा जाता है। नवकोटि प्रत्याख्यान कहे जाने के पीछे भी एक स्पष्ट आधार है। इन पूर्णत त्यागो मे हिंसादि के करने दूसरो से करवाने और दूसरो द्वारा किये गये का अनुमोदन का परित्याग सम्मिलित हैं। ये ३ करण कहलाते हैं जिनका तीन योग—मन वचन और काया से होने का प्रतिषेध किया गया है। इस प्रकार कुल ९ प्रकार के निषेध है। हिंसादि का—

(१) मन से करना (२) मन से करवाना (३) मन से अनुमोदन करना।
(४) वचन से करना (५) वचन से करवाना (६) वचन से अनुमोदन करना।
(७) काय से करना (८) काय से करवाना (९) काय से अनुमोदन करना।
इस प्रकार नौ कोटियो से यह प्रत्याख्यान या त्याग किया जाता है।

पच महाव्रत

जनधर्म मे जीव-अजीव का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है और तदनुसार ही हिंसा अहिंसा का निरूपण भी हुआ है। परिणामत रचमात्र सी हिंसा भी अहिंसा के क्षेत्र मे प्रविष्ट नही हो पायी है। अहिंसा को क्या जनदर्शन और क्या जैन-आचार सभी क्षेत्रो मे आधारभूत स्थान प्राप्त है। इस दृष्टि से श्रावको के अहिंसाचार का तो वर्णन हो ही चुका है। मुनिजन द्वारा अहिंसाव्रत नव कोटि से पालन होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और अधिक सूक्ष्मता के लिये हुए है। श्रमण पूर्ण अहिंसा का पालन करते हैं। यह न केवल अहिंसा अपितु सभी व्रतो के साथ घटित होने वाला तथ्य है। अत ये महाव्रत कहलाते हैं।

अहिंसा महाव्रत

जनधर्मानुसार जीवो के छह निकाय माने जाते हैं—पृथ्वीकाय जलकाय वनस्पतिकाय अप्काय तेजस्काय और त्रसकाय। श्रमण द्वारा इन सभी निकायो की हिंसा का नवकोटि प्रत्याख्यान किया जाता है। अत श्रमणो का यह व्रत सर्वप्राणातिपात विरमण महाव्रत कहा जाता है। अहिंसा महाव्रतधारी श्रमण अपनी प्रत्येक गतिविधि एव साधारण सी चेष्टा भी इतनी सतर्कता के साथ करता है कि किसी भी स्थूल अथवा सूक्ष्म दृश्य अथवा अदृश्य जीव को रचमात्र भी कष्ट न हो उनका घात न हो। श्रमण चाहे जागता हो अथवा लेटा हो अकेला हो अथवा समूह मे हो—कभी भी अपने हाथ पैर उँगली, शलाका अथवा किसी काष्ठादि के उपकरण से भूमि दीवार धूल धूसरित शरीर वस्त्रादि को झाडते-पोछते नही है। न ही वे ऐसे कोमल वस्त्र से उन्हें सावधानी के साथ स्वच्छ कर लेते है। वह ओस हिम गीले शरीर, गीले वस्त्रादि को भी नही छूते। गीले वस्त्रो को निचोडना या सूखने के लिए फैलाना तो दूर की बात है, स्नान से भीगे हुए शरीर को भी पोछकर नही सुखाता अपितु पानी को स्वत ही सूखने देता है। वह अग्नि भी प्रज्वलित नही करता। जलती हुई अग्नि, चिनगारी उल्का

आदि को वह बुझाने का कार्य भी नहीं करता। वह अग्नि को बिखेरकर शान्त नहीं करता और न ही पानी डालकर उसका शमन करता है। पंखे, पत्र, वस्त्रादि का व्यजन के रूप में प्रयोग करते हुए वह न हवा करता है और न ही फूंक लगाकर स्थिर हवा को गतिशील करता है। अंकुर घास पौधे आदि को वह पद दलित नहीं करता न ही हाथ से उन्हें छेड़ता है और उन पर बैठता लेटता भी नहीं है। हिंसा-परित्याग का निर्वाह कितनी सूक्ष्मता के साथ किया जाता है—यह द्रष्टव्य है। कदाचित ही किसी अन्य धर्म में अहिंसा का इतनी बारीकी से पालन होता हो। श्रमण तो अपने प्रयोग की किसी वस्तु में चींटी आदि देख लेता है, तो वह उसे बड़ी कोमलता के साथ सुरक्षित और निरापद स्थान पर छोड़कर एक सुख और सन्तोष का अनुभव करता है। जीव चाहे छोटे हों अथवा बड़े आत्मा की दृष्टि से सभी समान हैं, सभी दुःख से बचना और सुख को प्राप्त करना चाहते हैं। सभी जीना चाहते हैं—मरना कोई नहीं चाहता। किसी को प्राणों का घात नहीं करना चाहिये—किसी को किसी के लिए कोई दुःख या पीड़ा का कारण भी नहीं बनना चाहिये। जैनधर्म की इन शिक्षाओं को बड़ी विशिष्टता के साथ श्रमण अपने जीवन और आचरण में ढालता है। वह मानता है कि साधारण सी शारीरिक गतिविधि—उठना बैठना, लटना चलना फिरना आदि—यदि असावधानी से की जाय तो उससे पापकर्म बँधता है और वह इस बन्ध से सदा ही चेष्टापूर्वक बचा रहता है। यह तो निश्चित ही है कि इतनी सूक्ष्मता के साथ अहिंसा का परिपालन करने के लिए जीव अजीव पाप-पुण्यादि का तलस्पर्शी ज्ञान अत्यावश्यक होता है। इसी कारण यह कथन किया जाता है कि पहले ज्ञान है और उसके पश्चात् दया। श्रमण के लिए सर्वप्राणातिपातविरमण महाव्रत की सुरक्षा का बड़ा महत्त्व है और इस हेतु ५ भावनाएँ मान्य समझी गयी है—

(१) ईर्याविषयक समिति—चलने फिरने से सम्बन्धित सावधानी।

(२) मनोगुप्ति अथवा मन की अपापकता—मानसिक विकारों की शून्यता।

(३) एषणा समिति—शास्त्रोक्त भोजन की शुद्धि का पालन करना।

(४) भाण्डोपकरण विषयक समिति—पात्रादि उपकरणों को उठाने रखने से सम्बन्धित सावधानी।

(५) भक्तपान विषयक आलोकिकता—खान पान सम्बन्धी सावधानी।

सत्य महाव्रत

जीवकाय की हिंसा के सर्वथा परित्याग की ही भांति श्रमण मृषावाद से भी सावधानीपूर्वक असम्पृक्त रहता है। श्रमण सदा अदोष अकर्कश और असन्दिग्ध वचनावली का ही प्रयोग करता है और सत्य की साधना में रत रहता है। वह हृदय से यह स्वीकार करता है कि असत्य हिंसा का एक आधार बनता है और हिंसा को त्यक्त समझने वाला श्रमण असत्य का सर्वदेश से परित्याग करता है। क्रोध मान,

माया, लोभादि विकारों से जन्य कठोर वचनों का उच्चारण श्रमण के लिए संभव
नहीं होता। वह अनिश्चय की स्थिति में हो तो कभी भी निश्चय के रूप में ढालकर
किसी के समक्ष ऐसी किसी बात को प्रस्तुत नहीं करता। निश्चयपूर्वक तभी बोलना
चाहिए, जब वक्ता को स्वयं किसी बात में पक्का निश्चय हो। श्रमण कभी ऐसे कठोर
वचनों का उच्चारण नहीं करता जो किसी जीव के लिए कष्टप्रद हों, उसके मन को
चोट पहुँचाएँ। वह सदा कोमल, सुखकर और अभूतोपघातिनी वाणी का ही प्रयोग
करता है। सत्य को भी वह कभी कटु और अप्रिय रूप नहीं देता वह सत्याचरण
करते हुए भी किसी का अपमान नहीं होने देता।

सत्यव्रत की भी ५ ही भावनाएँ मानी जाती हैं—

(१) निर्भयता
(२) क्रोध-त्याग
(३) लोभ-त्याग
(४) हास्य-त्याग
(५) अनुवाचिभाषण (शास्त्रोक्त और व्यवहार से अविरुद्ध वचन प्रयोग)।

इन भावनाओं से असत्य परित्याग व्रत उत्तरोत्तर सुदृढ़ होता चला जाता है।

अचौर्य महाव्रत

श्रमण सर्वअदत्तादानविरति महाव्रत का पालन करता है। वह ऐसी किसी
वस्तु को ग्रहण नहीं करता जो किसी दाता द्वारा प्रदान नहीं की गयी हो। स्वामी की
पूर्वानुमति के बिना वह किसी वस्तु को अपनाने प्रयोग में लाने अथवा अधिकार में
लेने को स्तेय मानते हुए अस्तेय-पालन पर सदा दृढ़ रहता है। इस सन्दर्भ में किसी
वस्तु की अल्प उपयोगिता, निर्मूल्यता, महत्त्वहीनता या तुच्छता भी इस नियम या
सिद्धान्त की उपेक्षा के लिए पर्याप्त आधार नहीं बनाती। दन्त शोधनार्थ तृण तो बड़ा
तुच्छ होता है—श्रमण उसे भी बिना अनुमति के नहीं लेता है। किसी की खोई हुई
वस्तु, मार्गादि में पड़ी वस्तु अज्ञात स्वामी की वस्तु को ग्राह्य नहीं मानता। अदत्त
वस्तु का न वह स्वयं उपयोग करता है, न किसी अन्य को ऐसा करने की प्रेरणा
देता है और न ही ऐसे किसी उपयोग की सराहना समर्थन करता है। उसे श्रमण कभी
उचित नहीं मानता।

अस्तेय महाव्रत की भावनाएँ जो इसे सुरक्षित रखती हैं—संख्या में ५ हैं
और वे निम्नांकित रूप में होती हैं—

(१) मर्यादा के अनुसार किसी वस्तु के लिए याचना करना।
(२) आचार्यादि की अनुमति से भोजन करना।
(३) परिमित पदार्थ स्वीकार करना।
(४) पुन: पुन: पदार्थों की मर्यादा करना।
(५) साथी श्रमण से परिमित वस्तुओं की याचना करना।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

सवमथुनविरमणव्रत मुनि द्वारा ग्रहण किया जान वाला व्रत ही ब्रह्मचय महाव्रत है। श्रमण के लिए मैथुन सवथा, पूणरूप म और अनिवायत त्याज्य माना जाता है। इस सम्बन्ध म भी नवकोटि शील के निर्वाह का प्रावधान है। मुनि मन, वचन और काया स मथुन करन करवान या उसक अनुमोदन को निषिद्ध मानता है। मुनि मथुन को अधम का मूल मानता है और उसे अनक पापा के जनक के रूप म दूर ही रखता है। मैथुन हिंसादि दोषा को भी उत्पन्न करता है। इन कारणो से श्रमण स्त्री शरीर से और श्रमणी पुरुष शरीर स सदा दूर रहते हैं। वे स्त्री-पुरुष के सौन्दर्य रूप रग चित्रादि को नही दखते रूप प्रशस्ति का नही सुनते। सभी आयुवर्ग के स्त्री पुरुषो स दूर रहना भी श्रमणजनोचित व्यवहार माना गया है।

ब्रह्मचय महाव्रत के पालन की सुरक्षाथ भी ५ भावनाएँ मानी जाती हैं—

(१) स्त्री-कथा नही करना।

(२) स्त्री के विभिन्न अगा का दर्शन नहा करना।

(३) पूवकृत काम क्रीडादि का स्मरण नही करना।

(४) भाजन के समय खाद्य सामग्री की सीमित मात्रा का अतिक्रमण नही करना।

(५) स्त्री से सबधित स्थानो पर निवास नही करना।

यहाँ ध्यातव्य है कि श्रमण क लिए जस स्त्री दर्शन आदि का निषध है उसी प्रकार श्रमणी के लिए पुरुष दर्शनादि का निषेध माना गया है।

अपरिग्रह महाव्रत

अपरिग्रह महाव्रत सवपरिग्रहविरमणव्रत भी कहलाता है। श्रमण के लिए इसका सवदेश म निर्वाह भी अत्यावश्यक समझा गया है। अमुक वस्तु मरी है—इस भाव के साथ उसका सग्रह करना मुनिजनोचित प्रवृत्ति नहीं है। श्रमण स्वय तो सग्रह करता ही नही वह किसी से करवाता भी नही और इस प्रकार की प्रवृत्ति का अनुमोदन भी नही करता। विरक्त अनासक्त श्रमण किसी भी पदार्थ के प्रति ममता का भाव नहीं रखता—यहाँ तक कि स्वय अपनी काया के प्रति भी नहा। एसा तो सभव नही है कि मुनि अपन पास कोई वस्तु रख ही नही। सयम के पालन के सबध म भी कतिपय उपकरणादि की अपक्षा होती ही है और मुनि उन वस्तुओ को रखते भी हैं, किन्तु उन वस्तुओ के साथ उनका ममत्व नहा जुडता है। उन वस्तुओ के प्रति भी श्रमण के मन म आसक्ति नहीं आती। ये वस्तुएँ किसी भी रूप म उसके लिए साध्य नही होतीं। उन्हें वह साधन मात्र मानता है और उनका केवल इतना ही महत्त्व स्वीकारता है। किसी वस्तुविशष के प्रति उस लगाव नही होता—उसक स्थान पर अन्य वस्तु प्रयुक्त करनी पड़े तब भी उस कोई अडचन नही होती। ममत्वहीनता की परीक्षा इससे हो जाती है कि किसी उपकरणादि क खो जाने या क्षतिग्रस्त हो जाने

उसे दु खादि का अनुभव नही होता और न ही उसकी प्राप्ति पर हर्ष का। इसी प्रकार अधिक सुन्दर आकर्षक या सुविधाजनक वस्तुओ के प्रति भी उसके मन मे ईषत् भी झलक तक नही दिखायी देती। यह आसक्ति यह ममत्व तो भीतरी ग्रंथि है। मुनि इस ग्रंथि को नष्ट करके ही निर्ग्रन्थ बनते है।

अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ निम्नानुसार हैं—

(१) श्रवणेन्द्रिय के विषय—शब्द के प्रति राग-द्वेष नही रखना अर्थात उसके प्रति अनासक्त भाव रखना।

(२) चक्षुरिन्द्रिय के विषय—रूप के प्रति अनासक्त भाव रखना।

(३) घ्राणेन्द्रिय के विषय—गंध के प्रति अनासक्त भाव रखना।

(४) रसनेन्द्रिय के विषय—रस (स्वाद) के प्रति अनासक्त भाव रखना।

(५) स्पर्शेन्द्रिय के विषय—स्पर्श के प्रति अनासक्त भाव रखना।

रात्रिभोजनविरमणव्रत

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन मे पाँच महाव्रतो के साथ-साथ रात्रिभोजन विरति का भी उल्लेख किया गया है और इसे श्रमण का छठा व्रत कहा गया है। सर्वविरत श्रमण को एक भक्त कहा जाता है जिसका अर्थ यह है कि श्रमण सूर्योदय से सूर्यास्त के मध्य केवल एक समय आहार ग्रहण करता है। स्पष्ट है कि सूर्यास्त से सूर्योदय के मध्य (रात्रिकाल मे) भोजन सर्वथा निषिद्ध है। दशवैकालिक के अनुसार श्रमण क्रीत आहार नही करते—अर्थात् मूल्य देकर खरीदा हुआ भोजन नही करते एवं वे निमंत्रण स्वीकार करके भी भोजन नही करते।

रात्रिभोजन हिंसादि दोषो का कारण बनता है। श्रमण तो सर्वथा से अहिंसाव्रत का पालन करते हैं अतः सूर्यास्त के पश्चात भोजन करना वे निषिद्ध मानते हैं। अन्न जलादि का वे रात्रिभर परित्याग किये रखते हैं। इसके अभाव मे अहिंसा का पूर्ण पालन असंभव रहता है। श्रमण तो सूर्यास्त के पश्चात से सूर्योदय तक भोजन की इच्छा भी मन मे नही लाता। श्रावकाचार प्रकरण मे रात्रिभोजन संबंधी दोषो एवं आपत्तियो का सविस्तार वर्णन किया जा चुका है।

छह आवश्यक

जैन-ग्रन्थो मे श्रमण के लिए षडावश्यक अर्थात छह आवश्यको की व्यवस्था की है। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराओ मे ये ६ आवश्यक नामकरण सहित यथावत मिलते हैं अन्तर इनके क्रम मात्र मे है जिसे निम्नानुसार समझा जा सकता है—

दिगम्बर परम्परा	श्वेताम्बर परम्परा
(१) सामायिक	(१) सामायिक
(२) चतुर्विंशतिस्तव	(२) चतुर्विंशतिस्तव
(३) वन्दना	(३) वन्दना

पर मेरा ममत्व होना अनुचित है। मेरी ममता तो आत्मा तक ही सीमित रहनी चाहिये। ऐसे अभ्यास से वह शारीरिक कष्टों से अविचलित होना सीख जाता है। ये कष्ट उसके नहीं शरीर के हैं शरीर—जो स्वयं उससे (आत्मा से) भिन्न है। पर-कष्ट में वह क्यों विचलित हो? यह आन्तरिक स्थैर्य ही है जो अविचल ध्यान का रूप ले लेता है और वही कायोत्सर्ग में प्रमुख होता है।

प्रत्याख्यान—श्रमण के लिए प्रत्याख्यान भी एक महत्वपूर्ण आवश्यक क्रिया है। शाब्दिक दृष्टि से प्रत्याख्यान का अर्थ है—त्याग। हिंसायुक्त पदार्थों का तो वैसे ही पूर्णतः परित्याग होना है और श्रमण के लिए वे अग्राह्य होते हैं। जिन अहिंसा युक्त पदार्थों का सेवन निषिद्ध नहीं है वे पदार्थ श्रमण के लिए ग्राह्य होते हैं। साधक श्रमण इन ग्राह्य पदार्थों में से भी कुछ का किसी अवधि विशेष के लिए अथवा सदा के लिए ही परित्याग कर देता है—यह प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान का यह भौतिक स्वरूप है जो साधक को अनेक उपयोगी मानसिक वृत्तियों का सघन अभ्यास कराता है। वह अभिलाषाओं का नियंता बनकर लोलुपता पर विजय प्राप्त करने का कौशल अर्जित कर लेता है। प्रत्याख्यान का यही अभ्यास उसे अशुभ प्रवृत्तियों के त्याग की ओर भी उन्मुख करता है और इसके परिणामस्वरूप शुभ प्रवृत्तियों के लिए वह सचेष्ट भी हो जाता है।

मुनि जीवन में त्याग का यथार्थ में बड़ा महत्त्व है। यह त्याग श्रमण के प्रति एक श्रद्धा विकसित करता है। त्याग मार्ग में जितने अविचल और दृढ़ श्रमण जैन होते हैं अन्य किसी धर्म के साधकों में इसकी समकक्षता नहीं पायी जाती। भगवती सूत्र में श्रमण के प्रत्याख्यान के भेदों का जो वर्णन किया गया है उससे इसकी एक झलक मिलती है कि त्याग मार्ग पर श्रमण कितने आगे बढ़े हुए होते हैं। पर्वादि विशिष्ट अवसरों पर तो अमुक वस्तुओं का प्रत्याख्यान किया ही जाता है यह एक तपश्चर्या है। इस प्रकार का प्रत्याख्यान पर्व के पूर्व भी श्रमण कर सकता है। ऐसी स्थिति में वह अनागत प्रत्याख्यान कहलाता है। इसी प्रकार पर्व व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी उन तपश्चर्याओं को जब कोई साधक करता है तो वह अतिक्रान्त प्रत्याख्यान कहलाता है। एक तप के समाप्त होते ही अविलम्ब दूसरा तप आरम्भ करने की तत्परता भी श्रमणों में दृष्टिगत होती है। जब इस निरन्तरित क्रम में एक के बाद एक तप किया जाता है तो वह कोटियुक्त प्रत्याख्यान कहलाता है। श्रमण जीवन में भी कोई न कोई व्यवधान स्वाभाविक रूप में आते ही हैं और ऐसी अवस्था में उन तपों का निर्वाह कभी-कभी कठिन हो जाता है जिनका निश्चय रोगादि के पूर्व ही कर लिया गया हो। ऐसी अवस्था में भी जब साधक श्रमण उस तप को पूर्ण आस्था से करता है और उसे समाप्त करता है तो यह नियंत्रित प्रत्याख्यान कहलाता है। कभी-कभी किसी तप के संकल्प में कुछ आगारों का प्रावधान रख लिया जाता है। यह आगार के साथ कहलाता है और इस आधार पर वह प्रत्याख्यान साकार

प्रत्याख्यान कहलाते हैं। इसके विपरीत ऐसे त्याग भी होते हैं जिनमें स न म किसी भी अपवाद का प्रावधान नहीं होता। ये अनगार प्रत्याख्यान कहे जाते हैं। त्याग की अन्तर्गत श्रमण कभी खाद्य सामग्रियों के प्रकार, संख्या अथवा उनकी मात्रा का निर्धारण कर लेता है और दृढ़तापूर्वक उसका पालन भी करता है—यह कृत परिमाण प्रत्याख्यान कहलाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण आहार का ही जब श्रमण सारा त्याग कर दिया जाता है तो यह निरवशेष प्रत्याख्यान कहलाता है। त्याग का एक भेद संकेतित प्रत्याख्यान भी है, जो किसी संकेत पर आधारित होता है। यथा—श्रमण संकल्प लेता है कि जब तक मुट्ठी बन्द है तब तक अथवा जब तक अमुक वस्तु इसी स्थिति में पड़ी रहती है तब तक मैं आहार आदि का सेवन नहीं करूँगा। ये प्रत्याख्यान कभी-कभी बड़े विकट हो जाते हैं। विचारित परिस्थिति लम्बे समय तक आती ही नहीं और संकल्पी श्रमण का इससे कष्ट होना भी स्वाभाविक ही होता है किन्तु पूर्ण निष्ठा और सहिष्णुता के साथ साधक दृढ़तापूर्वक अपने प्रत्याख्यान का पालन करता रहता है, वह विचलित नहीं होता है। किसी सुमर्यादित कालार्थ जब कोई त्याग किया जाता है तो वह कालिक प्रत्याख्यान कहलाता है। इस प्रकार प्रत्याख्यान के दस भेद होते हैं।

श्रमणोचित उपकरणादि

श्रमण विरक्त संयमधारी होता है। वह अपने समस्त स्वामित्व का अधिकार त्यागकर दीक्षा ग्रहण करता है। अपार ऐश्वर्य और अतुलित सम्पत्ति को तृणवत् त्याग देता है और उसके मानस में उनके प्रति कोई मोह नहीं व्यापता। निश्चित रूप से वह अपरिग्रही होता है तथापि अपनी साधना में उसे कतिपय उपकरणों की अपेक्षा रहती है। वह मोह तो त्याग देता है किन्तु तप-साधना का वरण करने पर भी विरक्तावस्था में भी उसकी काया तो रहती है और जीवन के निर्वाह के लिए कतिपय साधनों की अनिवार्यता भी रहती है। कलेवर तो साधना का एक अनिवार्य साधन है। ऐसी अवस्था में काय निर्वाह साधक के लिए भी अपेक्षित रहता है। इस संरक्षण एवं पोषण के लिए भी साधनों की अपेक्षा रहती है। इस विषय में श्रमणाचार की विशेषता यह रहती है कि मुनि कम से कम अर्थात् न्यूनतम अनिवार्य उपकरणादि का ही उपयोग करता है और केवल उपयोग ही करता है उनके साथ अपनी ममता को रंचमात्र भी जुड़ने नहीं देता।

श्रमण को भोग्य पदार्थों कतिपय वस्त्र-पात्र विश्राम स्थान आदि की जो आवश्यकता होती है उसकी पूर्ति हेतु वह उनका उपार्जन नहीं करता। उपार्जन में आरम्भ और आरम्भ से हिंसा होती है और श्रमण सर्वप्रकार की हिंसा का परित्याग करता है। वह तो अदोष भिक्षा द्वारा इन आवश्यक साधनों को जुटाता है। अनगार श्रमण नौ प्रकार के बाह्य संयोग—परिग्रह और १४ प्रकार के आभ्यन्तरिक संयोग से मुक्त रहता है। बाह्य संयोग निम्नानुसार हैं—

धातु के नहीं होते। तुम्बे काष्ठ अथवा मिट्टी से निर्मित पात्र ही श्रमण प्रयुक्त कर सकता है। शारीरिक शोभा वृद्धि या शृंगार छवि की पुष्टि के लिए श्रमण वस्त्रों का धारण नहीं करता। वस्त्र के ३ ही प्रयोजन स्वीकार्य समझे जाते हैं—लज्जा निवारण, जन घृणा निवारण और शीतादि प्राकृतिक प्रहार से सुरक्षा। ये वस्त्र केवल ऊन अथवा सूत अथवा सन से निर्मित हो सकते हैं। वस्त्रों की भी मर्यादा स्थिर की गयी है। श्रमण अधिकतम ७२ हाथ और श्रमणी ९६ हाथ लम्बाई के कुल वस्त्रों का उपयोग कर सकते हैं।

मुनियों के उपयुक्त उपकरण निम्नावत हैं—

(१) मुखवस्त्रिका—वस्त्र खण्ड जो २० अंगुल लम्बा और १६ अंगुल चौड़ा होता है जिसे आठ पटों में संकुचितकर सूत्र संयुक्त कर लिया जाता है। पटिका या वस्त्रिका का उपयोग मुखावरण के रूप में किया जाता है। दोनों कानों में सूत्र को आधारित कर लिया जाता है।

(२) रजोहरण—यह वस्त्रावृत और दण्ड से जुड़ा ऊन का गुच्छक होता है जो चींटी आदि को हटाने में प्रयुक्त होने वाला मृदुल उपकरण है।

(३) पात्र—आहार ग्रहण करने, जल पीने और देह शुद्धि के लिए ३ काष्ठ पात्र।

(४) चोलपट्टक—शरीर के अधोभाग (कमर से नीचे का भाग) को आवृत करने का वस्त्र।

(५) वस्त्र —७२ या ९६ हाथ वस्त्र।
(६) कम्बल—शीत से सुरक्षा हेतु।
(७) आसन—आसीन होने—बैठने के लिए।
(८) पाद पोंछन—छोटा वस्त्र खण्ड।
(९) शय्या—ठहरने के लिए कक्ष।
(१०) संथारा—बिछाने के लिए घास पुआल आदि।
(११) पीठ—आसीन होने की चौकी।
(१२) फलक—शयनार्थ तख्ता आदि।
(१३) पात्रबंध—आहार ग्रहण हेतु पात्र को बाँधने का वस्त्र।
(१४) पात्रस्थापन—वस्त्र खण्ड।
(१५) पटल—पाँव ढकने का वस्त्र।
(१६) पात्र केसरिका—प्रमार्जनी।
(१७) रजस्त्राण—पात्र को ढकने का वस्त्र।
(१८) दण्ड—वृद्ध श्रमणों के लिए सहारा।
(१९) मात्रक—लघुनीति-परठने का पात्र।
(२०) उड़क—उच्चार प्रस्रवण परठने का पात्र।

'आवश्यिकी' कहलाता है। इसके अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि जब कभी श्रमण को किसी आवश्यक कार्य से उपाश्रय से बाहर जाना हो तो उसे कहना चाहिये—"मैं आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाता हूँ। बाहर से लौट आने पर उसे कहना चाहिये— अब मुझे बाहर नहीं जाना है। यह नषेधिकी सामाचारी है। श्रमण को कोई कार्य आरम्भ करने से पूर्व आचार्य अथवा ज्येष्ठ मुनि से अनुमति लेने के लिए कहना चाहिए कि— क्या मैं यह कार्य करलूँ ? यह आपृच्छना सामाचारी है। किसी कार्य विशेष की आचार्य अथवा ज्येष्ठ मुनि द्वारा पहले अनुमति नहीं दी गयी हो और अब उस कार्य का किया जाना आवश्यक हो गया हो तो श्रमण उसके लिए इस प्रकार अनुमति लेता है— क्या अब मैं यह कार्य करलूँ ? —यह प्रतिपृच्छना सामाचारी है। लाये गये आहारादि के लिए साथी श्रमणों को आमन्त्रित करना और ऐसा कर श्रमण द्वारा धन्य होना—छन्दना सामाचारी है। परस्पर एक-दूसरे की इच्छा जानकर तदनुसार व्यवहार करना इच्छाकार सामाचारी है और प्रमादवश हुई त्रुटियों के लिए प्रायश्चित्त करना—मिथ्याकार सामाचारी है। श्रमण को चाहिये कि गुरु अथवा ज्येष्ठ मुनि की आज्ञा स्वीकार करे और तहत्ति (आपका कथन यथार्थ है) कहकर आदर करे। यह तथाकार अथवा तथ्यतिकार सामाचारी कहलाती है। उठने-बैठने आदि में अपने से बड़ों के प्रति श्रमण को विनय का व्यवहार करना चाहिये। यह अभ्युत्थान सामाचारी होती है। अभ्युत्थान के स्थान पर कहीं कहीं निमन्त्रण समाचारी का उल्लेख मिलता है। निमन्त्रण का भाव यह है कि आहारादि लाने को जाते समय श्रमण को चाहिये कि वह अपने साथियों को भी निमन्त्रित करे अथवा उनसे यह पूछे कि क्या आपके लिए कुछ लेता आऊँ ? ज्ञानार्जन आदि के उद्देश्य से समर्थ गुरु का आश्रय ग्रहण करना उपसम्पदा सामाचारी है। कभी-कभी इस प्रयोजन से श्रमण को अपने गच्छ को छोड़कर अन्य गच्छ के आश्रय में भी जाना पड़ता है।

श्रमण जीवन में स्वाध्याय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दिन भर में इस प्रवृत्ति हेतु पर्याप्त समय निर्धारित किया गया है। श्रमण अपनी दिनचर्या को समयबद्ध रूप से विभक्त कर तदनुसार आचरण करता है। दिवस और रात्रि दोनों कालों को वह चार-चार भागों में विभक्त कर दिनचर्या का निर्धारण रखता है। श्रमण को चाहिये कि दिवस के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय द्वितीय प्रहर में ध्यान तृतीय प्रहर में भिक्षा चर्या और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करे। इसी प्रकार उसे रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय दूसरे प्रहर में ध्यान तीसरे प्रहर में निद्रा और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करना चाहिये। यदि प्रवृत्तिवार देखा जाय तो
आठ प्रहरों में से चार का प्रयोग स्वाध्याय हेतु किया
लिए एक प्रहर आहार और एक ही प्रहर।
कि वह दोनों समय के
समाप्ति पर भी अपने

को नमस्कार करे और समाप्ति पर भी गुरु न दना करे। प्रतिलेखना के समय किसी भी प्रकार के वार्तालाप का न किया जाना भी आवश्यक है। भिक्षाचर्या हेतु प्रस्थान से पूर्व पात्र आदि का भलीभाँति प्रमार्जन भी उतना ही आवश्यक है। भिक्षार्थ भी श्रमण को आधा योजन से अधिक दूर नहीं जाना चाहिये। आधा योजन का अर्थ दो कोस ४ मील अथवा ६ किलोमीटर के लगभग दूरी से है। चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय समापन तथा वस्त्र पात्रादि के प्रतिलेखन और मल मूत्रत्याग की भूमि के अवलोकन के पश्चात् श्रमण को कायोत्सर्ग करना चाहिये। कायोत्सर्ग के अन्तर्गत उस दिन भर के अतिचारों—दोषों की आलोचना करनी चाहिये। तत्पश्चात् उसे रात्रिकालीन स्वाध्याय में इस रीति से प्रवृत्त होना चाहिये कि किसी को किसी प्रकार का व्यवधान न हो। रात्रि के चौथे प्रहर में उसे पुनः कायोत्सर्ग करना चाहिये और रात्रि के अतिचारों की आलोचना कर लेनी चाहिये।

पर्युषण कल्प

आचार में निर्देश है कि श्रमणों का वर्षावास चातुर्मास लगने से ५० दिन तक की अवधि में कभी भी आरम्भ हो सकता है। तात्पर्य यह है कि आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी से भाद्रपद शुक्ला पंचमी तक की अवधि में किसी दिन वर्षावास आरम्भ किया जा सकता है। वस्तुतः वर्षा ऋतु की अवधि चातुर्मास आरम्भ होते ही जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति को ध्यान में रखकर वर्षावास आरम्भ कर दिया जाना चाहिये। सामान्यतः यही करणीय है किन्तु परिस्थितियों की विवशता की आशंका रहती ही है, अतः ५० दिवस की यह समायोजन छूट रखी गयी है। वर्षावास में स्थित हो जाने के पश्चात् मुनियों को अपने गमनागमन का क्षेत्र भी मर्यादित कर लेना होता है। इस विषय में भी स्पष्ट निर्देश हैं। अपने आवास स्थान से चारों ओर केवल सवा योजन अर्थात् पाँच कोस के क्षेत्र की अवग्रह मर्यादा की जाती है।

चातुर्मास में स्वस्थ एवं सबल श्रमण श्रमणी को पुनः मधु दूध दही पुष्टि कारक पदार्थों का सेवन बार बार नहीं करना चाहिये। कल्प्य यह है कि नित्य भोजी भिक्षु को आहारादि लाने के लिये गृहस्थ की ओर दिन में केवल एक ही बार जाना चाहिये किन्तु आचार्य आदि की सेवा के प्रयोजन से आवश्यक हो जाने पर अधिक बार भी जाया जा सकता है। चतुर्थ भक्त अर्थात् उपवासी भिक्षु के लिये यह व्यवस्था रही है कि वह उपवास के आगामी दिन गोचरी को निकले और उस समय जो आहार पानी मिल जाय उसी से उस दिन निर्वाह कर ले। यदि यह सम्भव न हो तो वह गृहस्थ की ओर एक बार और भी जा सकता है। षष्ठ भक्त अर्थात् दो उपवास करने वाला भिक्षु इस प्रकार दो बार जा सकता है और अष्टभक्त (३ उपवास) वाला ३ बार। इससे अधिक उपवास वाले भिक्षुओं के लिये इस प्रकार का कोई व्यवस्था निर्धारित नहीं है। वह सुविधानुसार कभी भी और कितना ही बार गृहस्थ के यहाँ जा सकता है।

भिक्षु किन परिस्थितियों में किस प्रकार का पानी स्वीकार कर सकता है सम्बन्ध में भी एक पूरी व्यवस्था है—

नित्यभोजी भिक्षु के लिए सभी प्रकार का निर्दोष पानी कल्प्य है। चतुर्थ करने वाले भिक्षु के लिये तीन प्रकार का पानी ग्रहण करना कल्प्य माना गया -पिसे हुए अनाज का पानी उबले हुए पत्ता का पानी और चावल का पानी। भक्त करने वाले भिक्षु के लिये तिल का पानी तुस का पानी अथवा जौ का पानी ग्राह्य होता है। अष्ट भक्त करने वाले भिक्षु के लिये पके हुए चावल का पानी कांजी वा गरम पानी ग्रहण करने योग्य होता है। विकृष्टभक्त करने वाले भिक्षु के लिये गरम पानी ही ग्राह्य हो सकता है।

जो पात्रधारी भिक्षु हैं वे अधिक वर्षा के समय आहार पानी हेतु प्रस्थान नहीं । हल्की वर्षा में वे एक अतिरिक्त वस्त्र ओढ़कर जा सकते हैं। प्रस्थान के तु किन्तु लौटने के पूर्व यदि वर्षा बढ़ जाय तो भिक्षु वृक्षादि के तल आश्रय ले ता है। आवश्यकता होने पर वह वहाँ आहारादि भी ले सकता है किन्तु सूर्यास्त उसे उपाश्रय लौट आना चाहिये। उपाश्रय से बाहर रात्रि व्यतीत करना ल्प्य है। यदि भिक्षु पाणिपात्र है किसी पात्र का उपयोग नहीं करता। तो वह वर्षा में भी भिक्षाचर्या हेतु प्रस्थान नहीं करता। मुनि तब तक आहार नहीं जब तक उसके शरीर से वर्षा का पानी टपकता है। शरीर जब स्वत सूख तभी वह आहार कर सकता है।

पर्युषणोपरान्त (वर्षा ऋतु के ५० दिन व्यतीत हो जाने पर) श्रमण-श्रमणी सिर पर बाल नहीं रहते। कहा जाता है कि गाय की त्वचा पर रहने वाले बालों बराबर भी नहीं रह सकते।

श्रमण को चाहिये कि वह पर्युषणोपरान्त एसे वचनों का उच्चारण न करे किसी के लिए कलहकारी हों। पर्युषण के दिन श्रमण परस्पर क्षमा-याचना भी हैं और उपशम भाव को भी अभिवर्धित करते हैं। आराधना के लिये उपशम का होना अत्यावश्यक है।

श्रमण-साधना स्वरूप एवं महत्ता

श्रमणत्व स्वेच्छा से अपनाया गया आत्मशुद्धि और सुख प्राप्ति का मार्ग है। रण या जागतिक सुख श्रमण का दृष्टि बिन्दु नहीं बनता। उसका लक्ष्य परम होता है उसकी साधना अनन्त और वास्तविक सुख के निमित्त होती है। ऐसी ति में यह साधना-मार्ग चाहे कितना ही दुर्गम क्यों न हो—श्रेयस्कर ही है। श्रमण क की यात्रा निश्चय ही निरापद नहीं कही जा सकती। उसके मार्ग में अनेक भी हैं और कुछ क्रूर भी हैं। श्रमण इन शूलों को कुचल भी हँसते हँसते वह ा है। उसके नेत्रों में तो परमसुख का स्वप्न ही तैरता रहता है और उस स्वप्न

को आकार देने के उद्यम में उसे जो भी कष्ट झेलने पड़ते हैं—वे उसके लिए नगण्य से होते हैं। किसी भी उद्योग की केवल वर्तमान स्थिति के आधार पर ही पूर्ण आलोचना सम्भव नहीं होती। 'अन्त भला तो सब भला' वाली बात है। उस परम और उच्चतम सुख के विराट महत्त्व के समक्ष ये परीषह तो क्षुद्र से ठहरते हैं। यही उत्साह कष्टों और परीषहों को श्रमणों के लिए दुस्सह नहीं होने देता। एक और तथ्य भी विशेषतः ध्यातव्य है कि साधक अपने साधनाक्रम में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है—त्यों ही-त्यों उसके ये परीषह भी स्वतः ही कम होते जाते हैं और अन्ततः सर्वथा सुख की स्थिति आ जाती है। साधक श्रमण के लिये भूख, प्यास, सर्दी गरमी आदि २२ प्रकार के परीषह होते हैं। साधना की उच्चता के साथ साथ परीषहों की न्यूनता बढ़ती जाती है और अरिहन्त पद पर पहुँचने पर परीषहों की संख्या मात्र ग्यारह रह जाती है। सिद्धत्व की प्राप्ति पर तो उसके समग्र परीषह विनष्ट हो जाते हैं, कोई कष्ट उसके लिये शेष ही नहीं बचता। श्रमणत्व में सुख है अथवा दुःख—इस प्रश्न का उत्तर स्वयं श्रमण की मनोदशा पर भी आधारित होता है। स्वेच्छा से धारण किया गया श्रमणत्व दुःख का कारण तो हो ही नहीं सकता। किन्तु यदि मात्र बाह्यवेशधारक वह श्रमण है तो उसके लिये श्रमणत्व घोर दुस्सह दुःख का ही रूप हो जाता है। जो श्रमणत्व में सुख का अनुभव करता है जो इन रचमात्र से दुःखों का परमसुख के लिये वरण करता है उसके लिए दुःखों की कोई स्थिति ही नहीं रह जाती। सांसारिक दुःखों की अपेक्षा तो साधना के दुःख स्वल्प हैं और अपेक्षाकृत अधिक आसानी से सहन योग्य हैं। सांसारिक दुःखों के अन्त में भी अनन्त दुःख ही हैं और साधना के इन दुःखों के अन्त में अनन्त सुख है। यह आकर्षण क्या श्रमण के लिये कभी कम महत्त्वपूर्ण हो सकता है। साधना सुख के निमित्त है और परीषह भी साधक को और दृढ़तर बनाकर आगे बढ़ाते हैं—यह समझकर इन दुःखों में भी श्रमण साधक एक प्रकार के सुख का अनुभव करता है। □□

स्वरूप हैं। सज्जनों में देवत्व का प्राचुर्य और असुरत्व नाम मात्र को ही होता है। संस्कृति व्यक्ति के इसी प्रकार के व्यक्तित्व को सवारती है। देवत्व के भाग को अधिकाधिक विकसित करने और असुरत्व को घटाकर न्यूनतम बना देने की अति महत्त्वपूर्ण भूमिका संस्कृति द्वारा ही निभायी जाती है। संस्कृति इस प्रकार मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाती है—उसे मनुष्यता से सम्पन्न करती है। यह मनुष्य का संस्कार करना है जो संस्कृति द्वारा पूर्ण होता है। मानवाकृति की देह मात्र मनुष्य नहीं है। इसके लिए मानवोचित आदर्श, सद्गुण, व्यवहार और लक्षणों की अनिवार्य अपेक्षा रहती है जो उसे अन्य प्राणियों से भिन्न और उच्चतर स्थान प्रदान करते हैं, उसे अशरफुल मखलूकात बनाते हैं।

मनुष्य की मेधा क्रमिक रूप से विकसित होती रही और परिस्थितियाँ भी युगानुरूप परिवर्तित होती रहीं। तदनुरूप ही संस्कृति के स्वरूप में भी विकास होता रहा। संस्कृति के इस सतत विकासशील रूप के कारण उसे किसी काल विशेष की उत्पत्ति मानना उपयुक्त नहीं होगा तथापि जैन संस्कृति के विषय में यह कथन असंगत न होगा कि यह अतिप्राचीन और अति लोकप्रिय है। मानव मात्र में मानवता जगाने की अद्वितीय क्षमता के कारण उसकी महत्ता सर्वोपरि है और इसे संस्कृतियों के समूह में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जैन संस्कृति ने अपने स्वरूप को इतनी व्यापकता दी है, इतनी उदारता दी है कि अन्यान्य संस्कृतियों को इससे प्रेरणा लेने का समुचित अवसर मिला। वस्तुतः विश्व संस्कृति के [illegible] में जैन संस्कृति की मूल्यवान देन रही है।

भारतीय संस्कृति का विश्व संस्कृतियों में अब भी आदरणीय स्थान है। यह प्राचीनतम है और अजस्र रूप में प्रवाहित धारा है। इसका प्रवाह कभी खंडित नहीं हुआ। कुछ विद्वानों ने भारत शब्द का विश्लेषण इस प्रकार भी किया है कि 'भा' का अर्थ प्रकाश है और भारत का अर्थ प्रकाश में रत रहने वाले जनों के समुदाय से लिया गया है। प्रकाश में रत रहने के संस्कारों का उदय भारतीय संस्कृति की प्रवृत्ति रही है। इन संस्कार सम्पन्नता के लिए उपनिषदानुसार तीन सूत्र हैं—दान, दया और दमन (मन और इन्द्रियों का निग्रह ही दमन है)। [illegible] यही भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप कहा जा सकता है। यही भारतीय संस्कृति की एक [illegible] है [illegible] मौलिक स्वरूप का वहन करती हुई [illegible] अन्य परस्पर भिन्न ([illegible]) संस्कृतियाँ [illegible] रही हैं यथा—वैदिक, बौद्ध और जैन संस्कृतियाँ। ये [illegible] सांस्कृतिक धाराएँ रही हैं। इस प्रकार [illegible] बौद्ध [illegible] और [illegible] है। [illegible] और [illegible] है। [illegible] संस्कृति [illegible] विशेषता सूचक है।

स्वरूप है। सज्जनों में देवत्व का प्राचुर्य और असुरत्व नाम मात्र को ही होता है। संस्कृति व्यक्ति के इसी प्रकार के व्यक्तित्व को सँवारती है। देवत्व के भाग को अधिकाधिक विकसित करने और असुरत्व को घटाकर न्यूनतम बना देने की अति महत्त्वपूर्ण भूमिका संस्कृति द्वारा ही निभायी जाती है। संस्कृति इस प्रकार मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाती है—उसे मनुष्यता से सम्पन्न करती है। यह मनुष्य का संस्कार करना है जो संस्कृति द्वारा पूर्ण होता है। मानवाकृति की देह मात्र मनुष्य नहीं है। इसके लिए मानवोचित आदर्श, सद्गुण, व्यवहार और लक्षणों की अनिवार्य अपेक्षा रहती है जो उसे अन्य प्राणियों से भिन्न और उच्चतर स्थान प्रदान करते हैं, उसे अशरफुल मखलूकात बनाते हैं।

मनुष्य की मेधा क्रमिक रूप से विकसित होती रही और परिस्थितियाँ भी युगानुयुग परिवर्तित होती रहीं। तदनुरूप ही संस्कृति के स्वरूप में भी विकास होता रहा। संस्कृति के इस सतत विकासशील रूप के कारण उसे किसी काल विशेष की उत्पत्ति मानना उपयुक्त नहीं होगा, तथापि जैन संस्कृति के विषय में यह कथन असंगत न होगा कि यह अतिप्राचीन और अति लोकप्रिय है। मानव मात्र में मानवता जगाने की अद्वितीय क्षमता के कारण इसकी महत्ता सर्वोपरि है और इसे संस्कृतियों के समूह में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जैन संस्कृति ने अपने स्वरूप को इतनी व्यापकता दी है, इतनी उदारता दी है कि अन्यान्य संस्कृतियों को इससे प्रेरणा लेने का समुचित अवसर मिला। वस्तुतः विश्व संस्कृति के प्रांगण में जैन संस्कृति की भूमिका [illegible] रही है।

भारतीय संस्कृति का विश्व संस्कृतियों में अब भी आदरणीय स्थान है। यह प्राचीनतम है और अजस्र रूप में प्रवाहित धारा है। इसका प्रवाह कभी खंडित नहीं हुआ। कुछ विद्वानों ने भारत शब्द का विश्लेषण इस प्रकार भी किया है कि 'भा' का अर्थ प्रकाश है और भारत का अर्थ प्रकाश में रत रहने वाले जनों के समुदाय से लिया गया है। प्रकाश में रत रहने के संस्कारों की [illegible] भारतीय संस्कृति की प्रवृत्ति रही है। इस संस्कार सम्पन्नता [illegible] सूत्र हैं—दान और दमन (मन व इन्द्रियों का निग्रह ही दमन है)। [illegible] यही भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप कहा जा सकता है। यही भारतीय संस्कृति की एक [illegible] है [illegible] भौतिक [illegible] का वहन करती हुई [illegible] परस्पर भिन्न (अन्य [illegible]) संस्कृतियाँ [illegible] रही हैं यथा—वैदिक, बौद्ध और जैन [illegible]। ये [illegible] सांस्कृतिक [illegible] रही हैं। इस प्रकार [illegible] है कि [illegible] और [illegible] हो गए हैं। [illegible] और [illegible] है। [illegible] सुगम है।

भारतीय संस्कृति में प्रमुखतः दो धाराएँ रही हैं जिन्हें ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति के नाम से जाना जाता है। ब्राह्मण संस्कृति के आधार वेद और श्रमण संस्कृति के आधार जिनागम रहे हैं। श्रमण संस्कृति निवृत्तिमूलक है, जबकि ब्राह्मण संस्कृति प्रवृत्तिमूलक है। यही कारण है कि इन दोनों संस्कृतियों में यह एक मौलिक अन्तर लक्षित होता है कि जहाँ ब्राह्मण संस्कृति में भोग का स्वर है वहीं श्रमण संस्कृति में योग और संयम का ही प्राचुर्य है। ब्राह्मण संस्कृति में विस्तार की प्रवृत्ति है और इसके विपरीत श्रमण संस्कृति में संयम और अन्तर्दृष्टि की प्रबलता है। ब्राह्मण संस्कृति व्यक्ति को स्वर्गीय सुखों के प्रति लोलुप बनाती है, भोगाभिमुख बनाती है, जबकि श्रमण संस्कृति मानो मुक्त और विरक्त बनाती है। यहाँ यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि मानव जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति ही है और लक्ष्य की प्राप्ति में श्रमण संस्कृति ही सहायक होती है।

मानवोचित श्रेष्ठ संस्कारों को स्थापित करने वाली जैन संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहा जाना सर्वथा उपयुक्त और सार्थक है। श्रमण शब्द के मूल में श्रम, शम और सम के तात्पर्यों को स्वीकार किया जा सकता है। यह संस्कृति श्रम प्रधान होकर मनुष्य को उद्यमी बनाती है। इसका सन्देश है कि मनुष्य स्वयं ही आत्म निर्माता है। उसका हिताहित किसी अन्य की अनुकम्पा पर नहीं स्वयं उसी के प्रयत्नों पर आधारित है, वह *आत्म निर्माता* है। आत्म कल्याण की महत्ता देने वाली श्रमण संस्कृति मनुष्य को ही यह गौरव प्रदान करती है कि वह अपने कल्याण की क्षमता स्वयं ही रखता है। मनुष्य को यह संस्कृति आत्म गौरव से दीप्त और स्वावलम्बी बनाती है। उसे पुरुषार्थी बनाती है, ईश्वराधीन शिथिल और पंगु नहीं बनाती। यह मनुष्य को किसी के चरणों का दास और दीन हीन बनने की प्रेरणा नहीं देती। विशेषता यह भी है कि इस पुरुषार्थ का प्रयोग आत्म विकास के लिए सुझाया गया है। आत्मा के उत्कर्ष के लिए रागद्वेषादि सब कषायों का शमन *अभीष्ट* उपाय के रूप में श्रमण संस्कृति ने ही सुझाया है। श्रम को सार्थक बनाने के लिए इस प्रकार शम अभिप्रेत रहता है। सम का सन्देश भी समत्व के रूप में *श्रमण संस्कृति* द्वारा ही प्रदान किया गया है। यह तादात्म्य भी इस संस्कृति को वस्तुस्थापन पर अवस्थित करता है। व्यक्ति अन्य सभी प्राणियों को आत्मवत् ही स्वीकार करे, यह *समत्व* है। मनुष्य यह अनुभव करे कि जैसा मैं हूँ वैसे ही अन्य सभी हैं। जिन कारणों से मुझे सुख अथवा दुःख का अनुभव होता है वैसा ही अन्य प्राणियों के साथ भी घटित होता है। इस आधार के सहारे मनुष्य के मन में यह संस्कृति दूसरों के प्रति ऐसे व्यवहार की प्रेरणा जगाती है जैसा व्यवहार वह दूसरों द्वारा अपने प्रति चाहता है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी को अपने समान समझने के कारण मनुष्य स्वयं को अन्यों से उच्च समझने के दर्प से भी बच जाता है और अन्यों से निम्न समझने के हीनत्व से भी बच जाता है। उसके लिए सभी समान हैं—न कोई उच्च है, न नीच। वर्गविहीन समाज निर्माण की दिशा में ऐसी संस्कृति की महत्ता भूमिका को नकारा नहीं

भारतीय संस्कृति में प्रमुखतः दो धाराएँ रही हैं जिन्हें ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति के नाम से जाना जाता है। ब्राह्मण संस्कृति के आधार वेद और श्रमण संस्कृति के आधार जिनागम रहे हैं। श्रमण संस्कृति निवृत्तिमूलक है, जबकि ब्राह्मण संस्कृति प्रवृत्तिमूलक है। यही कारण है कि इन दोनों संस्कृतियों में यह एक मौलिक अन्तर लक्षित होता है कि जहाँ ब्राह्मण संस्कृति में भोग का स्वर है वहाँ श्रमण संस्कृति में योग और संयम का ही प्राधान्य है। ब्राह्मण संस्कृति में विकार की ?ूर्ति है और इसके विपरीत श्रमण संस्कृति में संयम और अन्तर्दृष्टि की प्रबलता है। ब्राह्मण संस्कृति व्यक्ति को स्वर्गीय सुखों के प्रति लोलुप बनाती है भोगामुख बनाती है जबकि श्रमण संस्कृति मोक्षाभिमुख और विरक्त बनाती है। यहाँ यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि मानव-जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति ही है और लक्ष्य की प्राप्ति में श्रमण संस्कृति ही सहायक होती है।

मानवोचित श्रेष्ठ संस्कारों को स्थापित करने वाली जैन संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहा जाना सर्वथा उपयुक्त और सार्थक है। श्रमण शब्द के मूल में श्रम, शम' और सम' के तात्पर्यों को स्वीकार किया जा सकता है। यह संस्कृति श्रम प्रतीक द्वारा मनुष्य को उद्यमी बनाती है। इसका सन्देश है कि मनुष्य स्वयं ही आत्म निर्माता है। उसका हिताहित किसी अन्य की अनुकम्पा पर नहीं स्वयं उसी के प्रयत्नों पर आधारित है वह आत्म निर्माता है। आत्म कल्याण की महत्ता ?ने वाली श्रमण संस्कृति मनुष्य को ही यह गौरव प्रदान करती है कि वह अपने कल्याण की क्षमता स्वयं ही रखता है। मनुष्य को यह संस्कृति आत्म-गौरव से दीप्त और स्वावलम्बी बनाती है। उसे पुरुषार्थी बनाती है, ईश्वराधीन शिथिल और हताश नहीं बनाती। यह मनुष्य को किसी के चरणों का दास और दीन हीन बनने की प्रेरणा नहीं देती। विशेषता यह भी है कि इस पुरुषार्थ का प्रयोग आत्म विकास के लिए सुझाया गया है। आत्मा के उत्कर्ष के लिए राग-द्वेषादि सब कषायों का शमन उपाय उपाय के रूप में श्रमण संस्कृति ने ही सुझाया है। श्रम को सार्थक बनाने के लिए इस प्रकार शम अभिप्रेत रहता है। सम का संदेश भी समत्व के रूप में श्रमण संस्कृति द्वारा ही प्रदान किया गया है। यह तात्पर्य भी इस संस्कृति को अत्युच्चासन पर अवस्थित करता है। व्यक्ति अन्य सभी प्राणियों को आत्मवत् ही स्वीकार करे यह समत्व है। मनुष्य यह अनुभव करे कि जैसा मैं हूँ वैसे ही अन्य सभी है। जिन कारणों से मुझे सुख अथवा दुःख का अनुभव होता है वैसा ही अन्य प्राणियों के साथ भी घटित होता है। इस आधार के सहारे मनुष्य के मन में यह संस्कृति दूसरों के प्रति ऐसे व्यवहार की प्रेरणा जगाती है जैसा व्यवहार वह दूसरों द्वारा अपने प्रति चाहता है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी को अपने समान समझने के कारण मनुष्य स्वयं को अन्यों से उच्च समझने के दम्भ से भी बच जाता है और अन्यों से निम्न समझने के हीनत्व से भी बच जाता है। उसके लिए सभी समान हैं—न कोई उच्च है, न नीच।
?समति ? निर्माण की दिशा में ऐसी संस्कृति की महत्ता भूमिका को नकारा नहीं

पूरक दृष्टिकोण तो सारे [illegible] के एकमात्र साधन हो सकते हैं। यह समन्वयशीलता की प्रवृत्ति जैन संस्कृति की ऐसी देन है जिसमें साम्प्रदायिक विरोध भाव की निवृत्ति को प्रमाणित कर देने की अचूक शक्ति है। अनेकान्त दृष्टि समाज को शक्ति, एकता और सहिष्णुता की स्थापना करने में सहायता प्रदान कर रही सकती है। आज वैज्ञानिक वैमनस्य के युग में इस सिद्धान्त की उपयोगिता [illegible] एवं सार्थक सिद्ध हो सकती है। वर्ग-वर्ग, राष्ट्र-राष्ट्र और धर्म-धर्म के हृदय में [illegible] समन्वय लाके [illegible] देश और विश्व भर में शान्ति की स्थापना कर सकता है। समस्याओं के समाधान में यह औषधि अचूक सिद्ध होगी।

जैन संस्कृति अनासक्ति का मूल्यवान सन्देश भी देती है। यह मनुष्य को सिखाती है कि सांसारिक वैभव नश्वर, अवास्तविक और सुख की मात्र प्रतीति कराने वाला ही होता है। ये तथाकथित सुख अन्ततः दुःख के कारण बनकर स्वयं भस्म हो जाते हैं। अतः मनुष्य को सुख के इन उपादानों से बचकर अनासक्त हो जाना चाहिये और वास्तविक सुख अनन्त सुख—मोक्ष को श्रेय मानना चाहिये। इसी अनन्त-सुख को प्राप्त करने के लिए ही मनुष्य को अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करना चाहिए। इस सन्देश से प्रेरित होकर मनुष्य अपनी भावना पर अंकुश लगाता है, भौतिक सुखों के प्रति विरक्त होकर मनुष्य आत्म सन्तापी हो जाता है। भौतिक समृद्धि की दौड़ में उसकी रुचि नहीं रह जाती और सन्तोष-सागर की शान्ति लहरियों में वह सुखपूर्वक विहार करने लगता है।

इसी प्रकार जैन संस्कृति मनुष्य को संयम और आत्मानुशासन के पुनीत मार्ग पर भी आरूढ़ करती है। अचौर्य और सत्य के सिद्धान्तों की प्रेरणा देने वाली यह संस्कृति अपरिग्रह का मार्ग खोलती है। मनुष्य को अपनी न्यूनतम आवश्यकता पूर्ति के योग्य ही साधन सुविधाएँ प्राप्त करनी चाहिए। इससे अधिक संग्रह करना इस संस्कृति के अधीन अनीति है। जो इस अनीति का अनुसरण करता है वह अन्य अनेक जनों को सुख-सुविधा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर देने का भारी पाप करता है। मनुष्य की यह दुष्प्रवृत्ति समाज के लिए बड़ी घातक सिद्ध होती है। सुख-सुविधा के साधन कुछ ही लोगों के पास प्रचुरता के साथ संकलित हो जाते हैं और शेष सभी दीन हीन और दुःखी रहते हैं। यह आर्थिक वैषम्य घोर सामाजिक अन्याय है जो समाज में शान्ति और सौमनस्य का विनाश कर असन्तोष, घृणा, कलह, रोष, चिन्ता और प्रतिशोध जैसे विकारों को अभिवर्धित करता है। मनुष्य की इससे बढ़कर दानवता और क्या होगी कि दूसरों को न्यूनतम सुखों से भी वंचित रखकर वह अनन्त सुख-सागर में विहार करता रहे। यह प्रवृत्ति स्वयं ऐसे अनीतिकारी व्यक्ति के लिए भी कम घातक नहीं रहती। उसके मन में अधिक से अधिक प्राप्त करते रहने की असमाप्य तृष्णा का साम्राज्य हो जाता है। जो कुछ उसे प्राप्त हो जाता है—चाहे वह बहुत-कुछ ही क्यों न हो—उसे उससे सन्तोष नहीं होता। लोभ उसके मन को

1—मानवता के लिए यह एक अनिवार्य तत्व है। यहाँ यह विचारणीय है कि मनुष्य को इस हित कामना के संदर्भ में शेष प्राणी ३ वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं। एक वर्ग उन प्राणियों का है जिनकी हित कामना की जाती है दूसरा वर्ग उनका है जिनके प्रति अहित की कामना की जा सकती है और तृतीय वर्ग उनका है जिनके विषय में तटस्थता का भाव रहता है—हम उनका न हित और न ही अहित चाहते हैं। जिन प्राणियों के प्रति हम अहित चाहते हैं—हमारी यह कामना एक प्रतिक्रिया है। हमारी हानि करने वालों के प्रति इस प्रकार की प्रतिक्रिया को साधारणतः स्वाभाविक कहा जा सकता है। वे हमारे शत्रु हैं विरोधी हैं—उनके प्रति शुभ कामना हमारे मन में क्यों हो। यह साधारण और समग्र मानवता के स्तर से कुछ नीचे की बात है। जन संस्कृति तो ऐसी परिस्थिति में भी हम हित कामना के लिए ही प्रेरित करती है। इस हेतु वह क्षमाशीलता के अस्त्र का उपयोग करती है। क्षमा एक ऐसा गुण है जिसे अपना लेने पर वह मनुष्य अपने लिए किसी व्यक्ति को शत्रु रूप में स्वीकार कर ही नहीं पाता। हमारे प्रति किये गये अपकारों से तटस्थ होकर हम अपने अपराधियों को क्षमा कर दें उनके साथ वैमनस्य के भाव को विस्मृत कर दें—इसी में हमारी समग्र मानवता के दर्शन होंगे। हमारे हितैषियों के प्रति हम भी हितैषी रहें—इसमें कोई विशेषता नहीं है। जन संस्कृति तो हम जिस अद्भुत गौरव से मंडित करना चाहती है वह हमारे इस गुण में निवास करता है कि हम समत्व से सम्पन्न होकर शत्रु मित्र का भेद करना भूल जाय। सभी को हम मित्र मानें और सभी के लिए हमारे मन में हितैषिता का भाव हो। हमारा मन इस प्रकार रोष प्रतिशोध हिंसादि विकारों से सुरक्षित हो जाता है। दूसरे पक्ष को भी जब कोई प्रतिक्रिया नहीं मिलती तो उसकी दुष्प्रवृत्तियाँ दुर्बल हो जाती हैं उसके मन में प्रायश्चित्त का भाव उदित होता है उसका संशोधन आरम्भ हो जाता है। क्षमा शीलता का ऐसा अद्भुत प्रभाव है और इस प्रभाव का उपयोग करते हुए श्रमण संस्कृति मानव मात्र को मैत्री बन्धुत्व साहचर्य और सहानुभूति की उदात्तता से विभूषित करती है।

जीओ और जीने दो—मनुष्य के लिए एक सुन्दर आदर्श है, किन्तु जैन सांस्कृतिक दृष्टि इसमें किसी असाधारणता को नहीं देखती। जीने दो—का भाव यही है कि उसके जीने में किसी प्रकार का व्यवधान प्रस्तुत न करो। यह निषेध मूलक निर्देश भी प्रशंसनीय अवश्य है किन्तु यह अपूर्ण सा है। केवल बाधा न डालने मात्र से ही दूसरों के जीने में हम सहायक नहीं हो सकते। हमारा कर्तव्य तो यह भी है कि दूसरों के जीवन को हम सुगम बना दें दूसरों को जीने के लिए हम सहायता भी करें। मनुष्य के समुदाय में रहने की इतनी उपयोगिता तो होनी ही चाहिए। जन सेवा और मानव मैत्री के इन पुनीत आदर्शों के कारण जन संस्कृति के गौरव में अभिवृद्धि हुई है। भगवान महावीर का यह कथन भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि

मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन दुखिया की सेवा करना अधिक श्रेयस्कर है। मेरी भक्ति करने वाला पर माला फेरने वाला पर मैं प्रसन्न नहीं हूँ। मैं तो प्रसन्न उन लोगों पर हूँ जो मेरे आदेश का पालन करते हैं। और मेरा आदेश यह है कि प्राणि मात्र को सुख सुविधा और आराम पहुँचाओ। भगवान का यह सन्देश दूसरों को कष्ट या बाधा न पहुँचाने तक ही सीमित नहीं है। वह तो सुख और सुविधा पहुँचाने के लिए सचेष्ट रहने का भी निर्देश करता है। महान आदर्शों के समुच्चय श्रमण संस्कृति की यह प्रेरणा भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

निश्चित ही जैन संस्कृति एक महान संस्कृति है और उसकी उपलब्धि मानव समाज को श्रेष्ठ स्वरूप प्रदान करने में कम नहीं है। मानवाकृति का पुतला धारण करने वाले प्राणी को सच्ची मनुष्यता के सद्गुणों से मनुष्य बना देने की भूमिका में श्रमण संस्कृति को अनुपम सफलता मिली है। श्रमण संस्कृति भी अन्य संस्कृतियों की ही भाँति विकासमान रही है। युगीन परिस्थितियों के अनुरूप इसमें परिवर्तन होते ही रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे। इन परिवर्तनों के प्रभाव दो रूपों में स्पष्ट हो सकते हैं। एक तो यह कि संस्कृति के विद्यमान स्वरूप में कुछ नवीन शुभ पक्ष जुड़ते रहें और उसकी गरिमा बढ़ती रहे। इस प्रकार तो किसी भी संस्कृति की क्षमता और मूल्य में अभिवृद्धि ही होती है। किन्तु परिवर्तन का एक दूसरा रूप सम्भावित है उसके प्रति भी हम सावधान रहना चाहिये। समय स्वयं सभी वस्तुओं और विचारों को परिवर्तित करता रहता है। उच्च भव्य प्रासाद समय पाकर खण्डहर कर दिये जाते हैं। समय जहाँ कच्चे फलों को पकाकर सरस और सुस्वादु बना देता है वहीं वही समय उन फलों को दूषित और विकृत भी कर देता है। फल सड़ गल जाते हैं। समय व्यतीत होते रहने के साथ ही कलियाँ खिलकर सुरम्य पुष्प हो जाती हैं और यह समय पुष्पों का कुम्हलाना और अनाकर्षक भी बना देता है। समय ने ही श्रमण संस्कृति को इतना उदात्त और इतना महान स्वरूप प्रदान किया है। अब हमारे सामने एक गुरुतर दायित्व है। हमें प्रयत्नपूर्वक इस संस्कृति की अभिवृद्धि करनी होगी। इसे अवमूल्यन और विघटन से बचाने का हमारा अति पुनीत दायित्व है। महत्त्वपूर्ण वातावरण के विकारों से यह दूषित न हो इस दिशा में हमें सावधानी अत्यन्त आवश्यक है। इसी रूप में हमारी पीढ़ी अपने दायित्व का निर्वाह कर सकती है। पूर्व पीढ़ियों ने इसका निर्वाह भली भाँति किया है और आगामी पीढ़ियों से भी आशा की जाती है कि वे इसका निर्वाह करती रहेंगी और श्रमण संस्कृति अनादि काल से जन जन का कल्याण करती रहेगी आदर्श जीवन जीने के लिए जगत् भर को प्रेरित करती रहेगी।

मेरी सेवा करने की अपेक्षा तेन दुखियों की सेवा करना अधिक श्रेयस्कर है। मेरी भक्ति करने वाला पर माला फेरने वाला पर मैं प्रसन्न नहीं हूँ। मैं तो प्रसन्न उन लोगों पर हूँ जो मेरे आज्ञा का पालन करते हैं। और मेरा आज्ञा यह है कि प्राणिमात्र को सुख सुविधा और आराम पहुँचाओ। भगवान का यह सन्देश दूसरों को पीड़ा या बाधा न पहुँचाने तक ही सीमित नहीं है। यह तो सुख और सुविधा पहुँचाने के लिए सचेष्ट रहने का भी निर्देश करता है। महान आदर्शों के समुच्चय श्रमण संस्कृति की यह प्रेरणा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

निश्चित ही जैन संस्कृति एक महान संस्कृति है और उसकी उपलब्धि मानव समाज को श्रेष्ठ स्वरूप प्रदान करने में कम नहीं हैं। मानवाकृति का धारण करने वाले प्राणी को सच्ची मनुष्यता के सद्गुणों से मनुष्य बना देने की दिशा में श्रमण संस्कृति को अनुपम सफलता मिली है। श्रमण संस्कृति भी अन्य संस्कृतियों की ही भाँति विकासमान रही है। युगीन परिस्थितियों के अनुरूप इसमें परिवर्तन होते ही रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे। इन परिवर्तनों के प्रभाव दो रूपों में हो सकते हैं। एक तो यह कि संस्कृति के विद्यमान स्वरूप में कुछ नवीन गुण प्र जुड़ते रहें और उसकी गरिमा बढ़ती रहे। इस प्रकार तो किसी भी संस्कृति की क्षमता और मूल्य में अभिवृद्धि ही होती है। किन्तु परिवर्तन का एक दूसरा रूप संभावित है उसके प्रति भी हम सावधान रहना चाहिये। समय स्वयं सभी वस्तुओं और विचारों को परिवर्तित करता रहता है। उच्च भव्य प्रासाद समय द्वारा खण्डहर कर दिये जाते हैं। समय जहाँ कच्चे फलों को पकाकर सरस और सुस्वादु बना देता है वहाँ यही समय उन फलों को दूषित और विकृत भी कर देता है। फल सड़ गल जाते हैं। समय व्यतीत होते रहने के साथ ही कलियाँ खिलकर सुन्दर पुष्प हो जाती हैं और यह समय पुष्पों का रूपहीन और अनावश्यक भी बना देता है। समय ने ही श्रमण संस्कृति को इतना उदात्त और इतना महान स्वरूप प्रदान किया है। अब हमारे सामने एक गुरुतर दायित्व है। हम प्रयत्नपूर्वक इस संस्कृति की श्रीवृद्धि करना होगी। इसे अवमूल्यन और विघटन से बचाने का हमारा अति पुनीत दायित्व है। सहवर्ती वातावरण के विकारों से यह दूषित न हो इस दिशा में हम सावधानी अत्यन्त आवश्यक है। इसी रूप में हमारी पीढ़ी अपने दायित्व का निर्वाह कर सकती है। पूर्व पीढ़ियों ने इसका निर्वाह भली भाँति किया है और भावी पीढ़ियों से भी आशा की जाती है कि वे इसका निर्वाह करती रहेंगी और श्रमण संस्कृति अबाधित रूप में जन जन का कल्याण करती रहेगी आदर्श जीवन जीने के लिए जगत् भर को प्रेरित करती रहेगी।

मरी सेवा करने की अपेक्षा दीन दुखियों की सेवा करना अधिक श्रयस्कर है। मेरी भक्ति करने वाला पर माला फेरने वाला पर मैं प्रसन्न नहीं हूँ। मैं तो प्रसन्न उन लोगों पर हूँ जो मेरे आदेश का पालन करते हैं। और मेरा आदेश यह है कि प्राणि मात्र को सुख-सुविधा और आराम पहुँचाओ। भगवान का यह सन्देश दूसरों को कष्ट या बाधा न पहुँचाने तक ही सीमित नहीं है। वह तो सुख और सुविधा पहुँचाने के लिए सचेष्ट रहने का भी निर्देश करता है। महान आदर्शों के समुच्चय श्रमण संस्कृति का यह प्रेरणा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

निश्चित ही जैन संस्कृति एक महान संस्कृति है और उसकी उपलब्धि मानव समाज को श्रेष्ठ स्वरूप प्रदान करने में कम नहीं है। मानवाकृति का धारण करने वाले प्राणी को सच्ची मनुष्यता के सद्गुणों से मनुष्य बनाने की भूमिका में श्रमण संस्कृति को अनुपम सफलता मिली है। श्रमण संस्कृति भी अन्य संस्कृतियों की ही भाँति विकासमान रही है। युगीन परिस्थितियों के अनुरूप इसमें परिवर्तन होते ही रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे। इन परिवर्तनों के प्रभाव दो रूपों में प्रकट हो सकते हैं। एक तो यह कि संस्कृति के विद्यमान स्वरूप में कुछ नवीन शुभ पक्ष जुड़ते रहें और उसकी गरिमा बढ़ती रहे। इस प्रकार तो किसी भी संस्कृति की क्षमता और मूल्य में अभिवृद्धि ही होती है। किन्तु परिवर्तन का एक दूसरा रूप संभावित है उसके प्रति भी हमें सावधान रहना चाहिये। समय स्वयं सभी वस्तुओं और विचारों को परिवर्तित करता रहता है। उच्च भव्य प्रासाद समय द्वारा खण्डहर कर दिये जाते हैं। समय जहाँ कच्चे फलों को पकाकर सरस और सुन्दर बना देता है वहाँ यही समय उन फलों को दूषित और विकृत भी कर देता है। फल सड़ गल जाते हैं। समय व्यतीत होते रहने के साथ ही कलियाँ खिलकर सुन्दर पुष्प हो जाती हैं और यह समय पुष्पों का रूपहीन और अनाकर्षक भी बना देता है। समय ने ही श्रमण संस्कृति को इतना उदात्त और इतना महान स्वरूप प्रदान किया है। अब हमारे सामने एक गुरुतर दायित्व है। हम प्रयत्नपूर्वक इस संस्कृति की श्रीवृद्धि करनी होगी। इसे अवमूल्यन और विघटन से बचाने का हमारा अति पुनीत दायित्व है। सहवर्ती वातावरण के विकारों से यह दूषित न हो इस दिशा में हमारी सावधानी अत्यन्त आवश्यक है। इसी रूप में हमारी पीढ़ी अपने दायित्व का निर्वाह कर सकती है। पूर्व पीढ़ियों ने इसका निर्वाह भली भाँति किया है और भावी पीढ़ियों से भी आशा की जाती है कि वे इसका निर्वाह करती रहेंगी और श्रमण संस्कृति अबाधित रूप में जन जन का कल्याण करती रहेगी आदर्श जीवन जीने के लिए जगत् भर को प्रेरित करती रहेगी।

मेरी सेवा करने की अपेक्षा गरीबों की सेवा करना अधिक श्रेयस्कर है। मे भक्ति करने वालों पर माला फेरने वालों पर मैं प्रसन्न नहीं हूँ। मैं तो प्रसन्न लोगों पर हूँ जो मेरे आदेश का पालन करते हैं। और मेरा आदेश यह है कि प्राणी मात्र को सुख-सुविधा और आराम पहुँचाओ। श्रमणधर्म यह न केवल दूसरों को कष्ट या बाधा न पहुँचाने तक ही सीमित नहीं है। वह तो सुख और सुविधा पहुँचाने के लिए सचेष्ट रहने का भी निर्देश करता है। महान आदर्शों के समुच्चय श्रमण संस्कृति की यह प्रेरणा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

निश्चित ही जैन संस्कृति एक महान संस्कृति है और उसकी उपलब्धि मानव समाज को श्रेष्ठ स्वरूप प्रदान करने में कम नहीं है। मानवाकृति को धारण करने वाले प्राणी को सच्चा मनुष्यता के सद्गुणों से मनुष्य बना देने की दृष्टि से श्रमण संस्कृति को अनुपम सफलता मिली है। श्रमण संस्कृति भी अन्य संस्कृतियों की ही भाँति विकासमान रही है। युगीन परिस्थितियों के अनुरूप इसमें परिवर्तन होते ही रहे हैं और आज भी होते रहेंगे। इन परिवर्तनों के प्रभाव दो रूपों में प्रकट हो सकते हैं। एक तो यह कि संस्कृति के विद्यमान स्वरूप में कुछ नवीन गुण पक्ष जुड़ते रहें और उसकी गरिमा बढ़ती रहे। इस प्रकार तो किसी भी संस्कृति की क्षमता और मूल्य में अभिवृद्धि ही होती है। किन्तु परिवर्तन का जो दूसरा रूप संभावित है उसके प्रति भी हम सावधान रहना चाहिये। समय स्वयं सभी वस्तुओं और विचारों को परिवर्तित करता रहता है। उच्च भव्य प्रासाद समय द्वारा खण्डहर कर दिये जाते हैं। समय जहाँ कच्चे फलों को पकाकर सरस और सुस्वादु बना देता है वहाँ यही समय उन फलों को दूषित और विकृत भी कर देता है। फल सड़ गल जाते हैं। समय व्यतीत होते रहने के साथ ही कलियाँ खिलकर सुन्दर पुष्प हो जाती हैं और यह समय पुष्पों का रूपहीन और अनाकर्षक भी बना देता है। समय ने ही श्रमण संस्कृति को इतना उदात्त और इतना महान स्वरूप प्रदान किया है। अब हमारे सामने एक गुरुतर दायित्व है। हमें प्रयत्नपूर्वक इस संस्कृति की श्रीवृद्धि करनी होगी। इसे अवमूल्यन और विघटन से बचाने का हमारा अति गुरु दायित्व है। सहवर्ती वातावरण के विकारों से यह दूषित न हो इस दिशा में हमारी सावधानी अत्यंत आवश्यक है। हमें रूप में हमारी पीढ़ी अपने दायित्व का निर्वाह कर सकती है। पूर्व पीढ़ियों ने इसका निर्वाह भली भाँति किया है और भावी पीढ़ियों से भी आशा की जाती है कि वे इसका निर्वाह करती रहेंगी और श्रमण संस्कृति अबाधित रूप से जन जन का कल्याण करती रहेगी आदर्श जीवन जीने के लिए जगत् भर को प्रेरित करती रहेगी।

-